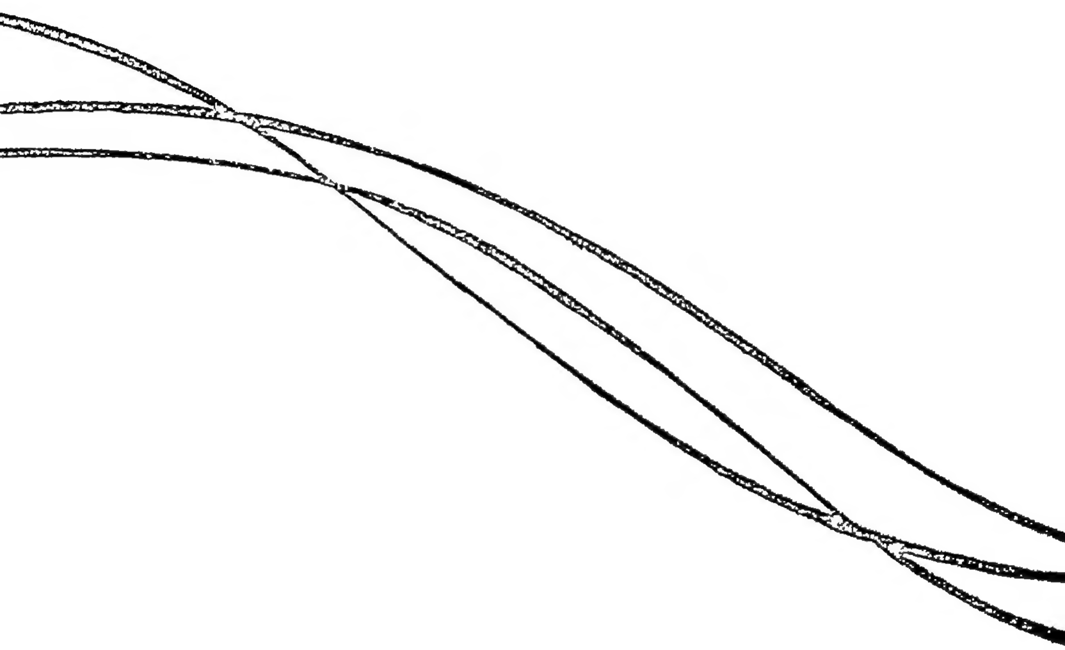
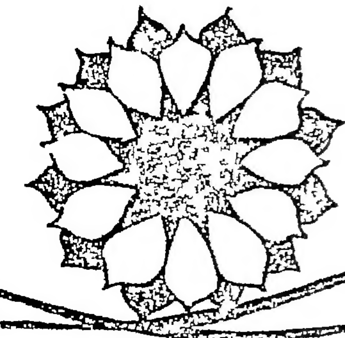


आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

चेतना का ऊर्ध्वारोहण



मुनि नथमल

संपादक : मुनि दुलहराज

मूल्य तेरह रुपये/ प्रथम सस्करण, १९७८/ प्रकाशक कमलेश चतुर्वेदी, प्रवन्धक, आदर्श साहित्य सघ, चूरू (राजस्थान)/ मुद्रक भारती प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

CHETNA KA URDHWAROHAN . Muni Nathmal Rs 13 00

आशीर्वचन

चेतना के दो स्तर हैं—सुप्त और जागृत। जब अन्तर्मन और ज्ञानकेन्द्र सुप्त होते हैं तब चेतना का नीचे की ओर अवतरण होता है। इस स्थिति में हमारी प्रतिभा, शक्ति और समृद्धि (आनन्द) के स्रोत बन्द रहते हैं। हम सब कुछ होकर भी नगण्य होने का अनुभव करते हैं। मन की अशान्ति, तनाव, भारानुभूति—ये सब इसी स्थिति में होते हैं।

जब अन्तर्मन और ज्ञानकेन्द्र जागृत होते हैं तब चेतना ऊर्ध्व की ओर आरोहण करती है। इस स्थिति में हमारी प्रतिभा, शक्ति और समृद्धि के स्रोत खुल जाते हैं। उनकी धारा जीवन को आप्लावित कर देती है। इस स्थिति में फलित होती है—मन की शान्ति, तनाव-मुक्ति, भारमुक्ति और जीवन की सार्थकता।

प्रस्तुत पुस्तक में चेतना के ऊर्ध्वारोहण के कुछ दिशा-संकेत हैं। उनकी पकड़ हमारे अस्तित्व की पकड़ होगी।

राजलदेसर
१९ अप्रैल, १९७[illegible]

आचार्य तुलसी

प्रस्तुति

हम मनुष्य है और चेतना हमारी विशेषता है। चेतन और अचेतन के बीच एक भेद-रेखा है, और वह है चेतना। जिसमे चेतना होती है, वह चेतन होता है। अचेतन मे वह नही होती। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियो मे भी एक भेदरेखा होती है। वह है चेतना का विकास। जिसमे चेतना के विकास की क्षमता होती है अथवा जिसकी चेतना विकसित होती है, वह मनुष्य होता है। दूसरे प्राणियो मे मनुष्य जैसी विकसित चेतना नही होती।

चेतना का विकास शरीर के माध्यम से होता है। मनुष्येतर प्राणियो की चेतना नीचे की ओर प्रवाहित होती है, कामकेन्द्र की ओर प्रवाहित होती है। यह चेतना का निम्न अवतरण है। मनुष्य इस दिशा को बदल सकता है, चेतना का ऊर्ध्वारोहण कर सकता है, कामकेन्द्र की ओर अवतरण करने वाली चेतना को ज्ञानकेन्द्र तक ले जा सकता है।

चेतना के ऊर्ध्व आरोहण की एक निश्चित प्रक्रिया है। उसके कुछ उपाय है। उन्हे जान लेने पर मनुष्य उस दिशा मे यात्रा कर सकता है। जिन व्यक्तियो ने इस दिशा मे यात्रा की उनके यात्रा-विरामो को जान लेने पर भी, उस दिशा मे यात्रा की जा सकती है। भगवान् महावीर ने चेतना के ऊर्ध्वारोहण की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण यात्रा की थी। उनके सकेत उस दिशा मे यात्रा करने वालो के लिए आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत पुस्तक मे यत्र-तत्र उन सकेतो की ओर इगित किया गया है। साकेतिक भाषा को समझना यद्यपि सरल नही होता, फिर भी उसे समझा जा सकता है। उसे समझने के लिए अतीत को वर्तमान मे जीना होता है और वह वर्तमान का जीना ही अतीत को अनावृत कर देता है। प्रस्तुत पुस्तक मे कोई नयी स्थापना नही है, केवल अतीत का अनावरण है।

इस पुस्तक का पहला सस्करण छोटे आकार मे सन् १६७१ मे पाठको के हाथो मे आया। उनके द्वारा यह बहुत समादृत हुआ। शीघ्र ही यह सस्करण समाप्त हो गया। किन्तु दूसरी-दूसरी नयी पुस्तको के प्रकाशन का सिलसिला

चलता रहा। इसके प्रकाशन की ओर प्रकाशक का ध्यान केन्द्रित नही हो सका। अव यह पुस्तक वडे आकार मे पाठको के सम्मुख आ रही है। इसमे कर्म और अध्यात्म की चर्चा और जुड गयी है।

मैं मानता हू कि कर्म को समझे विना अध्यात्म को नही समझा जा सकता और अध्यात्म को समझे विना कर्म को नही समझा जा सकता। चेतना के निम्न अवतरण मे कर्म का वहुत वडा हाथ होता है। उससे मुक्ति पाकर ही मनुष्य चेतना का ऊर्ध्व आरोहण कर सकता है। इस सापेक्षता के जगत् मे एकाधिकार किसी का नही है। मानवीय कर्तृत्व को प्रभावित करने वाले तथ्यो मे कर्म एक तथ्य है, किन्तु एकमात्र तथ्य नही है। पुरुपार्थ कर्म को प्रभावित करता है और उसे वदल भी देता है। साधना की यही पृष्ठभूमि है। इस सचाई को समझे विना साधना का प्रयोजन नही समझा जा सकता।

सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक प्रणाली के वदल जाने पर कुछ लोग कर्म-सिद्धान्त की व्यर्थता समझ लेते हैं। उनकी धारणा है कि कर्म ऊच-नीच, धनी और निर्धन वनाता है। यदि समाज-व्यवस्था मे साम्य का अवतरण होता है तो फिर कर्म की सार्थकता कैसे? उनके मतानुसार कर्म का सिद्धान्त सही है तो समाज मे विपमता रहेगी। यदि समाज की व्यवस्था मे समता है तो कर्म का सिद्धान्त सही नही हो सकता। इस अवधारणा ने कर्म को व्यवस्था के साथ जोड दिया, जवकि उसका संवध व्यक्ति की आन्तरिक चेतना से है। कर्मशास्त्र, मानसशास्त्र और योग—इन तीनो शास्त्रो ने व्यक्ति का मूल्याकन स्थूल व्यवहारो के आधार पर नही, किन्तु उन व्यवहारो के पीछे होने वाली चेतना के आधार पर किया है। अध्यात्म के सन्दर्भ मे इन तीनो प्रणालियो का समन्वित अध्ययन वहुत अपेक्षित है। मानसशास्त्रियो ने अवचेतन मन के रहस्यो को अनावृत कर कर्मशास्त्रीय प्रणाली को नये सदर्भ मे प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत पुस्तक मे इस विपय के समन्वय की कुछ रेखाए उपलब्ध हैं, जो भावी विकास की आधार वन सकती हैं।

शिविरकालीन भापणो के सकलन और सपादन मे मुनि दुलहराजजी का अथक परिश्रम इसकी उपलब्धि मे हेतु वना है। आचार्यश्री तुलसी के दिशा-दर्शन मे चल रहे इस प्रयत्न का स्वयभू मूल्य है।

२०३५, आपाढ शुक्ला पूर्णिमा
गगाशहर (राजस्थान)

मुनि नथमल

अनुक्रम

चेतना का ऊर्ध्वारोहण

१

चेतना का जागरण

- अस्तित्व और प्राण का संगम है—जीवन।
- अस्तित्व और प्राण के पृथक्त्व का बोध है—विवेक।
- यही चेतना के जागरण का प्रथम बिन्दु है।



बहुत सारे लोगो की धारणा है कि जैनो मे साधना-पद्धति व्यवस्थित नही है या योग नही है। यह केवल अजैन लोगो मे ही नहीं, जैन-दर्शन के बडे-बडे विद्वानो मे भी धारणा है और मुझे लगता है कि वह बहुत ही भ्रात है। इसलिए इस शृंखला मे मैं मुख्यत. जैन साधना पद्धति या जन योग पर ही या उसके आधार पर ही कुछ बातें प्रस्तुत करू। वैसे तो योग ऐसा विषय है जिसमे जैन-अजैन आदि का कोई भेद नही किया जा सकता किन्तु फिर भी अपने ढग का प्रतिपादन और अपनी शैली से कुछ बातो का निरूपण जो होता है, इस आधार पर मैं कुछ बातें रखूगा।

इस शृखला मे आज का पहला विषय है, 'चेतना का जागरण'। क्योकि जब तक यह हमारी समझ मे नही आयेगा कि योग या साधना पद्धति का आचरण क्यो करना है तब तक हम उसके लिए तत्पर नहीं होगे या करने की प्रबल भावना ही जागृत नही होगी कि हम क्यो करें ? इसलिए हमे यह समझ लेना है कि चेतना का जागरण किए बिना हमारे जीवन की सार्थकता नही है और जो हम पाना चाहते है, पा नही सकते। इसलिए आज का पहला विषय हमारा यही है।

एक दिन मैं पानी पीने के लिए बैठा था। सामने पात्र था। मैंने देखा कि उस पात्र मे कुछ लौंग पडी हैं। शायद पाच-सात होगी। कुछ नीचे तल पर थी और

कुछ पानी के ऊपर। सहसा मेरे मन मे विकल्प उठा कि यह क्यो ? क्या वे लौंग नही है जो नीचे पडी हैं या जो ऊपर हैं वे लौग नही हैं ? या जब दोनो ही लौंग हैं तो फिर कुछ ऊपर, कुछ नीचे—ऐसा क्यो ? मैंने दो क्षण सोचा। समझ मे नही आया। फिर देखा। बहुत ध्यान से देखा तो तत्काल एक बात मेरे ध्यान मे आ गयी। जितनी लौंग पानी के ऊपर थी, वे टोपी वाली साबुत लौंग थी, लेकिन जो पानी मे डूबी हुई थी, ये वे लौंग थी, जिनकी टोपी उतर गयी थी और फूल उतर गया था। तत्काल मैंने समझा, यह जो टोपी है लौंग को ऊचा रखती है और तैराती है। जिनकी टोपी उतर गयी, हल्कापन उतर गया, भारीपन आ गया, वे नीचे डूब जाती हैं।

शायद आप लोगो ने भी देखा हो और न देखा हो तो देख सकते है। चाहे जब देख सकते हैं। चार लौंग हाथ मे लीजिए। दो की टोपी उतारकर पानी मे डालिये और दो को टोपी सहित डालिए। जिनकी टोपी उतर गयी है, नीचे चली जाएगी और जिन पर टोपी है, वे ऊपर रह जाएगी। यह हल्कापन और भारीपन केवल लौंग को ही नही डुबाता और ऊचा रखता, आदमी को भी डुबाता और ऊचा रखता है।

सचमुच ऊपर जाने का जो रास्ता है, वह हल्का होता है। नीचे जाने का जो रास्ता है, वह भारी होता है। जयन्ती ने भगवान महावीर से पूछा, "भन्ते ! प्रशस्त क्या है और अप्रशस्त क्या है ? स्मरणीय क्या है और निन्दनीय क्या है ? उपादेय क्या है और हेय क्या है ?"

भगवान ने कहा, बहुत सक्षेप मे कहा—"यह जो भारीपन है अप्रशस्त है और हल्कापन है, यह प्रशस्त है। लाघव प्रशस्त है और गुरुत्व अप्रशस्त है।" फिर पूछा कि भन्ते ! यह जीव भारी कैसे होता है और हल्का कैसे होता है ? भगवान ने कहा, शास्त्रीय भाषा मे कहा किन्तु मैं उसका अनुवाद कर आपको कहूगा। भगवान ने उत्तर दिया कि जिसकी आखो मे परमात्मा झाकता है वह हल्का होता है और जिसकी आखो मे शैतान झाकता है, वह भारी होता है। परमात्मा क्या है और शैतान क्या है ? हमारे अस्तित्व की जो अनुभूति है, वह परमात्मा है। अह की जो अनुभूति है, वह शैतान है। जो व्यक्ति अस्तित्व की अनुभूति के धरातल पर चला जाता है, वहां परमात्मा आखो से झाकने लग जाता है और जिस व्यक्ति की आखो से अहकार और ममकार का शैतान झाकता है, वह भारी बन जाता है।

एक पुरानी घटना है। एक व्यक्ति ने सोचा कि मैं चित्र बनाऊ और उस व्यक्ति का चित्र बनाऊ जिसकी आखो मे परमात्मा झाकता हो या जिसकी आखो मे परमात्मा का प्रतिबिम्ब हो। वह घूमा। काफी घूमा। हज़ारो-हज़ारो लोगो को देखा। स्त्रियों को देखा। पुरुषो को देखा। बड़े-बड़े विज्ञ लोगो को देखा। धनिकों को देखा। कही भी परमात्मा झाकता हुआ नहीं मिला। आखिर मे वह

घूमता-घूमता जगल मे गया। खेतो-खलिहानो मे गया। वहा उसने देखा एक किसान, खेती करनेवाला, कृषि करनेवाला। उसकी आखो मे देखा तो ऐसा लगा कि परमात्मा झाक रहा है। उसने उसका एक चित्र वनाया। चित्र इतना सुन्दर, मोहक और आकर्षक वना कि हजारो-हजारो की सख्या मे वह विका और वहुत ही प्रिय चित्र वन गया। लोगो मे उसकी प्रशसा हुई और लोगो ने उसे वहुत पसन्द किया।

कुछ दिन वाद फिर उसने सोचा कि अव मुझे एक ऐसा चित्र वनाना चाहिए कि जिसकी आखो मे शैतान झाक रहा हो। इस खोज मे भी निकला। उसने काफी खोज की। देखता रहा। पर आप जानते हैं कि हर आदमी की आखो से न परमात्मा झाकता है और न हर आदमी की आखो से शैतान झाकता है। वैसे लोग भी कम होते हैं जिनकी आखो से परमात्मा झाकता हो और ऐसे लोग भी कम मिलते हैं जिनकी आखो से सीधा शैतान झाकता हो। आदमी छिपाना जानता है। इसलिए छिपा लेता है। आखिर मे वह घूमते-घूमते एक कारागृह मे पहुचा। वहा उसने देखा एक कैदी को। देखा। उस कैदी की आखो से शैतान झाक रहा था। उसने देखा और उसका चित्र वनाया। इतना भयानक चित्र वना कि शैतान क्या झाक रहा था, मानो कि हत्याए वोल रही थी। प्रत्यक्ष हत्याकाड वोल रहे थे। चित्र भी ठीक वैसा ही वना क्योकि वह कुशल चित्रकार था। वह चित्र लेकर कैदी के पास गया। पहला चित्र भी कैदी ने देखा और दूसरा चित्र भी। कैदी ने देखा अपना चित्र! कितना भयानक! कितना दारुण! चित्रकार वोला, "देखो! यह तुम्हारा चित्र है।" उसने गौर से देखा। उसकी भयानकता को देखा और वह हस पडा।

चित्रकार ने पूछा—"वन्धु! हसते क्यो हो?" उसने कहा—"क्या रोऊ? कैसे रोऊ? हसू कैसे नही? तुम इस भयानक चित्र को मुझे दिखला रहे हो पर तुम्हे यह पता नही है कि जिस चित्र मे परमात्मा झाक रहा है, वह चित्र भी मेरा ही है। दोनो मेरे ही चित्र हैं। अव मैं क्या करू? रोऊ या हसू?"

आप देखें कि जिस व्यक्ति की आखो मे परमात्मा झाकता है, उसी व्यक्ति की आखो से शैतान भी झाक सकता है और जिस व्यक्ति की आखो से शैतान झाकता है, उस व्यक्ति की आखो से परमात्मा भी झाक सकता है। परमात्मा कही नही है, शैतान भी कही नही है। हर व्यक्ति की आत्मा मे, हर व्यक्ति के जीवन मे परमात्मा भी उपस्थित होता है और शैतान भी उपस्थित होता है। परमात्मा की उपस्थिति हमारी ही उपस्थिति है और शैतान की उपस्थिति भी हमारी ही उपस्थिति है। किन्तु ये दोनो वातें कव होती है? परमात्मा की उपस्थिति तव होती है जव हमारे भीतर का हल्कापन, लाघव उपस्थित होता है। जव हमारे भीतर का भारीपन उपस्थित होता है तव शैतान की उपस्थिति हो

जाती है। वास्तव मे यह भारीपन और हल्कापन, यही सब कुछ है, जो व्यक्ति के दो चित्र बना देता है, व्यक्ति को दो दिशाओ मे प्रस्तुत कर देता है।

इसलिए भगवान् महावीर ने श्राविका जयन्ती के उत्तर मे कहा कि जीव जब भारी होता है, तब अप्रशस्त बन जाता है, और हल्का होता है तब प्रशस्त हो जाता है। आप जानते है कि हमारी कठिनाई क्या है ? यह भारीपन कठिनाई है। लाघव जैसे ही आता है, सारी समस्याए दूर हो जाती हैं। महर्षि चरक ने लाघव को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होने कहा है कि लाघव स्वास्थ्य का पहला लक्षण है। स्वस्थ व्यक्ति कौन है ? जिसमे कि लाघव है। जिसमे गौरव आया कि अस्वस्थ बन गया। अस्वस्थ का लक्षण है गौरव। हम कहते है कि शरीर भारी हो गया। इसका मतलब यह हुआ कि बुखार आने की तैयारी। बुखार या ज्वर का पहला दूत है शरीर का भारी होना। शरीर भारी होते ही बेचैनी छा जाती है और हम अनुभव करते हैं कि मन बेचैन है। कुछ अटपटा-सा लग रहा है। यह भारीपन का कारण है। चरक ने जो स्वास्थ्य के लक्षण बतलाये या आसन, व्यायाम की जो निष्पत्तिया बतलाईं, उनमे पहला यह बतलाया—'लाघव कर्मसामर्थ्यम्'। पहला लाघव। लघुता उत्पन्न होती है, हल्कापन आ जाता है। जैसे ही हल्कापन होता है, हमे ऐसा महसूस होता है कि आज बहुत अच्छा-सा लग रहा है क्योकि शरीर हल्का है।

वास्तव मे ही हल्का बहुत सुखद होता है। भारीपन कभी सुखद नही होता। गौतम स्वामी ने भी जयन्ती जैसा ही प्रश्न भगवान महावीर से पूछा था—"भन्ते ! जीव भारी कैसे होता है और हल्का कैसे होता है ?" भगवान ने एक रूपक मे समझाया—"गौतम ! देखो, एक तुम्बी है और उस तुम्बी पर किसी आदमी ने घास लपेट दिया। मिट्टी लगा दी। सुखा दिया। फिर दूसरी बार उस पर मिट्टी का लेप किया। आठ बार इस प्रकार किया। तुम्बी काफी भारी हो गयी। अब उस तुम्बी को लिया और पानी मे छोडा। तुम्बी पानी के नीचे डूब गयी। जो तुम्बी तैरने वाली है और कहते है कि दूसरो को तैराने वाली है, वह तुम्बी डूब गयी, नीचे चली गयी। क्योकि भारी हो गयी। कुछ दिन तुम्बी पडी रही पानी मे। पडे-पडे उसका कुछ लेप उतर गया। फिर दूसरा उतरा, तीसरा उतरा और उतरते-उतरते सारे लेप उतर गये। तुम्बी हल्की हो गयी। तुम्बी फिर ऊपर आ गयी। जो डूबी, वह भी तुम्बी थी और जो ऊपर आयी, वह भी तुम्बी थी। तुम्बी एक थी। तुम्बी दो नहीं थी। किन्तु जब तुम्बी भारी हो गयी, डूब गयी, तल मे चली गयी। तुम्बी हल्की हुई, ऊपर आ गयी, सतह पर आ गयी।

यह जीव जब भारी होता है, अधोगति मे चला जाता है। निम्न गति मे चला जाता है। उसकी वृत्तिया निम्न बन जाती हैं, उसका चिन्तन निम्न बन जाता है। उसका आचरण निम्न बन जाता है। आचरण, विचार, सस्कार और

वृत्तिया—ये जो अधम बनते है, निम्न बनते है, निकृष्ट कोटि के बनते हैं, वे भारीपन के कारण बनते हैं। तुम्बी जब भार से मुक्त हो गयी, बधन से विच्छिन्न हो गयी, लेप से रहित हो गयी, ऊपर आ गयी। जीव भी जब हल्का होता है, ऊपर आ जाता है। ऊर्ध्वगति करता है। उसका ऊर्ध्व चिन्तन, उत्तम विचार और उत्तम आचरण, ये जो सारे बनते है वे अपने ही हल्केपन के कारण बनते हैं और हल्केपन की ये सहज निष्पत्तिया हैं, जिन्हे रोका नही जा सकता।

अग्नि जलती है और शिखा ऊपर की ओर जाती है। कारण क्या है? लघुता के कारण वह ऊपर की ओर जाती है। एरण्ड की फली से बीज उछलता है, वह ऊपर की ओर चला जाता है।

हम ठीक समझे भगवान की वाणी मे, अपने अनुभवो के आधार पर और अपनी दृष्टि के कारण। जहा कही भी देखें। चाहे शरीर का प्रश्न है, चाहे विचार का प्रश्न है, चाहे चिन्तन का प्रश्न है, जहा भी भार आया, भार अनुभव हुआ, आदमी नीचे चला जायेगा और जहा भार-मुक्ति का अनुभव हुआ, आदमी ऊपर उठ जायेगा। लाघव और गौरव, लघुता और गुरुता, हल्कापन और भारीपन—ये दोनो दृष्टिया हमारे सामने बहुत स्पष्ट है, और हम समझ सकते हैं कि हमारी चेतना का जागरण, हमारी चेतना की ऊर्ध्वगति, तभी हो सकती है जबकि हमारे जीवन मे, हमारे परिपार्श्व मे और हमारी वृत्तियो मे, सबमे लघुता आये और हल्कापन आये।

यह लघुता और गुरुता का विवेक हमारे सामने प्रस्तुत है। हमारे जीवन का आनन्द, हमारे जीवन का आलोक, हमारे जीवन की निश्छलता और हमारे जीवन की पवित्रता जहा प्रकट होती है, उसका केन्द्र-बिन्दु या उसकी रेखा हल्केपन की रेखा है, लघुता की रेखा है। वहा से हमारी चेतना का ऊर्ध्वारोहण प्रारभ होता है। और जहा गौरव की रेखा है, भारीपन की रेखा है, वहा से हमारी चेतना का अधोवतरण प्रारभ होता है।

अब प्रश्न यह है कि हल्कापन कैसे आये? भारीपन को हम कैसे समाप्त करें? यहा से सारी साधना की पद्धति शुरू होती है। यह साधना का विवेक है, साधना की पृष्ठभूमि है। यह साधना की दृष्टि को समझने का हमारा प्रयत्न है। यह है साधना की पद्धति का आदि-बिन्दु, जहा से साधना प्रारभ होती है। हल्का हम कैसे करें और किसे करें? जो भारी होते हैं, उन्ही को हल्का करना है। क्योकि भारी करने मे हल्का करने मे हमारा विवेक होना चाहिए।

आदमी काफिला लिये जा रहा था माल का। कुछ गधे थे, कुछ घोडे थे साथ मे। बीच मे नदी आयी। एक घोडा जिस पर नमक की बोरी लदी हुई थी, बैठ गया। नदी मे था पानी। सारा नमक भीग गया। थोडी देर मे रिस-रिसकर बहने लगा। बोरी खाली हो गयी। घोडा हल्का हो गया। गधे ने सोचा, 'अच्छा उपाय

है यह तो। मैं भी हल्का हो जाऊ। उपाय अच्छा है।' थोडी देर बैठा। परन्तु वह यह नही जानता है कि ऊपर क्या लदा हुआ है ? ऊपर थी कपास। ज्यो ही पानी मे इधर-उधर लेटा, बोरी भीग गयी। जो भार पहले था, उससे भी बहुत ज्यादा भार हो गया। दुगुना-चौगुना भार हो गया। उठा तो हल्का होने की जगह और अधिक भारी हो गया था।

यह विवेक जब साधना मे नही होता तब हम प्रयत्न करते है हल्का होने का और जाने-अनजाने भारी बन जाते हैं। इसलिए बहुत ही अन्तर्दृष्टि की, सूक्ष्मदृष्टि की आवश्यकता होती है, साधना के मार्ग मे। यदि हम ठीक विवेक नही कर पाते कि कहा कैसे हल्का होना होता है और कैसे भार को मिटाना होता है, इस दृष्टि की सम्पन्नता आये बिना शायद ऐसा भी हो जाता है कि हल्का होने के स्थान पर भार और अधिक बढ जाता है। और ऐसा लगता है कि चले थे हल्का होने के लिए और भारी बन गये।

ज्ञातासूत्र का प्रसग है। सुमाला ने सोचा था कि मैं हल्की बनू। साध्वी बनू। किन्तु हल्का बनने का मत्र हाथ नही लगा। काफी भारी बनते-बनते इतनी भारी बन गयी कि एक दिन उसके मन मे विकल्प आया कि जब मैं गृह मे थी, तब कितनी स्वतंत्र थी, और जब से मैं साध्वी बनी हू कितनी परवश बन गयी हू। कितनी पराधीन बन गयी हू कि चलो तो ऐसा चलो, बैठो तो ऐसा बैठो। यह मत करो। वह मत करो। शृगार मत करो। सज्जा मत करो। प्रक्षालन मत करो। कितनी परतत्रता! कितने अकुश मेरे पर लग गये! क्या हुआ ? मैं परतन्त्र बन गयी। बेचारी चली थी हल्की बनने के लिए और अधिक भारी बन गयी।

इसलिए दृष्टि-सम्पन्नता बहुत आवश्यक है साधना के मार्ग मे। जब हमारी दृष्टि-सम्पन्नता प्रकट नही होती, तब बहुत बार ऐसा होता है कि हल्का होने का प्रयत्न करते हैं, और अधिक भारी बन जाते हैं, उस गधे की भाति।

हमे किनको हल्का करना है, इस विषय मे बहुत बडी सूक्ष्मदृष्टि से काम लेना है। भारी कौन होते हैं ? हमारा शरीर भारी होता है, हमारा मन भारी होता है और हमारा श्वास भारी होता है। ये तीन हैं, जो कि भारी बनते हैं और साधना के लिए, भीतर प्रवेश के लिए या चेतना के जागरण के लिए, सबसे पहले इन तीनो को हल्का करना है। शरीर को हल्का करना है। यह सारी साधना की पद्धति है। आप सोचेंगे कि महावीर ने कहा कहा कि श्वास को हल्का करना है ? महावीर ने कहा कहा कि शरीर को हल्का करना है ? शायद यह प्रश्न न भी हो। क्योकि तपस्या आपके सामने है। किन्तु महावीर ने कहा कहा कि मन को हल्का करना है ?

मैं समझता हू कि अगर हम महावीर को ठीक समझें और उनके अन्तस्तल मे जाकर समझें, केवल शब्दो की पकड़ मे न समझें तो महावीर ने इन तीनो बातो

पर—शरीर को हल्का करना, मन को हल्का करना और श्वास को हल्का करना—जितना वल दिया, उतना शायद किसी वात पर नही दिया। हम परिभाषा को तो वहुत पकडते हैं पर शायद मर्म को वहुत कम पकडते हैं। परिभाषा मे शब्दो की पकड आती है, मर्म हाथ मे नही आता। ठीक महावीर जैसी चेतना मे प्रवेश करके ही महावीर को समझने का प्रयत्न करें तो फिर शब्द हमारे से दूर रहेगे। और महावीर की जो मूल बात थी, आत्मा थी, वह हमारी पकड मे आ जायेगी। महावीर ने हल्का होने का मार्ग वहुत ही सुन्दर ढग से वतलाया। इन तीनो को हल्का किए विना किसी को भी हल्का नही किया जा सकता।

जयन्ती के पूछने पर भगवान महावीर ने वताया कि जीव भारी होता है प्राणातिपात से, हिंसा करने से। क्या हिंसा करने से जीव भारी होता है? बहुत स्थूल वात है। और इस स्थूल वात ने हमे एक सकेत दे दिया। और उस सकेत को पकडकर हम वैठ गये।

मैं आपसे कहना चाहता हू कि हिंसा करने से जीव भारी होता है। यह वहुत छोटी वात है। जीव भारी होता है हिंसा की स्मृति करने से। जयाचार्य ने इस विपय को अपनी शास्त्रीय शैली मे वहुत सुन्दर ढग से प्रतिपादित किया है। जिन कर्मों के उदय से, जिन सस्कारो की स्मृति से कोई हिंसा करता है, प्राणातिपात करता है, वह सस्कार, वह स्मृति प्राणातिपात का मूल है, हिंसा का मूल है।

यह वहुत ही मार्मिक वात है। हिंसा की स्मृति वास्तव मे हिंसा है। क्रियमाण हिंसा उतनी वडी हिंसा नही है, जितनी वडी हिंसा हिंसा के सस्कार की स्मृति है। क्रियमाण हिंसा की अपेक्षा जो हिंसा हमे भारी वनाती है, हमारी हिंसा फिर उस स्मृति को जोड देती है यानी मनुष्य ज्यादा भार ढोता है अतीत की स्मृति का और भविष्य की कल्पना का। भार क्या होता है? हम करते है उस काम का इतना भार नही होता जितना भार स्मृति का होता है।

आज कोई वडा काम आपको करना है। शायद काम करते समय, थोडा समय लगेगा। किन्तु उससे स्मृति मे इतना भार पैदा हो जायेगा कि वहुत सारे लोग तो उस स्मृति के भार से इतने दव जाते हैं कि उनके काम करने की शक्ति भी वहुत कम हो जाती है। कल्पना कीजिए कि पाच साध्विया है। और पचीस साध्विया वाहर से आ जाती है। इन पाचो को यह चिन्ता होती है कि आतिथ्य करना है। तो वह आतिथ्य करने की कल्पना का भार, उस स्मृति का भार इतना वोझिल वन जाता है कि शायद उनकी काम करने की क्षमता कम हो जाती है। हमारे सामने वहुत सारे ऐसे काम आते हैं, वहुत सारे प्रसग आते हैं कि काम करना उतना जटिल नही होता, काम उतना दुरूह नही होता और काम हम कर डालते है। किन्तु स्मृति इतनी जटिल, इतनी दुरूह और इतनी वोझिल वन जाती है कि

हमारे कार्य की शक्ति को भी शायद चुरा लेती है। तो यह हिंसा की स्मृति का भार भी बहुत कठिन होता है।

इसी प्रकार जटिल होता है कल्पना का भार। कल्पना मे हम इतने खो जाते हैं, इतने भारी बन जाते हैं कि शायद हमारी गति अवरुद्ध हो जाती है। तो आप सही दृष्टि से देखें कि स्मृति का भार और कल्पना का भार हमारे लिए असह्य भार होता है। शायद आपको अनुभव हो कि जितना भार कल्पना और स्मृति का होता है, वास्तविकता का नही होता।

लोग कहते हैं कि अमुक जगल मे बहुत बाघ हैं, शेर है, चीते है और दिन मे दहाडते रहते हैं। बडा भयकर जगल है। कल्पना मे काफी भयावह है। किन्तु जब वन मे से गुजरते हैं, उस समय उतना भय नही होता। भय की छाती को हम चीरते हैं, उस समय उतना भय नहीं, जितना भय हमारी स्मृति मे होता है। यह स्मृति और कल्पना का जो भार है, उस भार को पार करना बहुत कठिन बात है। स्मृति और कल्पना, ये हमारे अन्तर्जगत की घटनाए हैं और वस्तु परिस्थिति का परिवेश या परिस्थिति का सामना बाहरी जगत् की घटनाए हैं। बाहरी जगत् की घटनाए हमारे मानस पर उतना प्रभाव नही डालती, जितना प्रभाव हमारे अन्तर्जगत का, हमारी कल्पना और हमारी स्मृति का, हमारे मन पर और हमारी कार्यक्षमता पर होता है।

यह समझना हमारे लिए बहुत जरूरी है कि कल्पना का भार न ढोना और स्मृति का भार न ढोना। हिंसा, असत्य आदि जितने भी आचरण हैं, जितने भी दोष हैं, वे सारे के सारे दोष, यदि स्मृति और कल्पना को पाट दे तो शायद वर्तमान मे प्राप्त ही नही हो सकते। वर्तमान का क्षण बहुत शुद्ध होता है। वर्तमान का पवित्र पानी, वर्तमान की गगा का निर्मल जल अतीत के गदले और भविष्य के गदले से गदला हो जाता है, मलिन हो जाता है और पानी की स्वच्छता चली जाती है। और हम उन दोनो से कटकर, दोनो से पृथक् हो और केवल वर्तमान मे रहना सीख लें तो जीवनमुक्त की स्थिति प्राप्त हो सकती है।

आचार्य शकर ने जो जीवन-मुक्त की परिभाषा लिखी है, उसमे यही तो बताया है—

> अतीताननुसन्धान, भविष्यदविचारणम्।
> औदासिन्यमपि प्राप्ते, जीवनमुक्तस्य लक्षणम्॥

यह जीवन-मुक्ति क्या है? जहा अतीत का अनुसन्धान नही है और भविष्य की विचारणा नहीं है। भविष्य की कल्पना और योजनाएं नही हैं, वह है जीवन-मुक्ति। किन्तु भविष्य की कल्पना और अतीत की स्मृति या अनुसन्धान को छोडकर हम यदि देखते रहते हैं वर्तमान के परिवेक्षण मे, तब हम मुक्ति का

अनुभव करते है, हल्केपन का-अनुभव करते हैं।

हल्का बनने की यह प्रक्रिया भगवान महावीर ने वर्तमान क्रिया के माध्यम से दी है। हमे हल्का बनना है, शरीर को हल्का करना है। कैसे करना है? इसमे शायद आज मैं नही जा सकूगा। क्योकि बहुत लम्बा विषय है। पूरी की पूरी प्रक्रिया, कायोत्सर्ग की पद्धति शरीर को हल्का करने मे आ जाती है। मन को हल्का करना, कैसे करना? इस विषय मे भी आज नही कह सकूगा। क्योकि मन को हल्का करने की पद्धति मे, सबसे पहले हमे मन को समझना होगा। मन क्या है? उसका अस्तित्व क्या है? मन की क्रिया क्या है? मन के बारे मे हमारी जो धारणाए हैं, वे कितनी भ्रान्त हैं और कितनी सही है, यह पूरा एक विषय बन जाता है। इसलिए आज मैं इनके विस्तार मे नही जाऊगा।

तीसरी बात है श्वास को हल्का करना। जो व्यक्ति श्वास के बारे मे नही जानता, वह साधना के बारे मे नही जान सकता। वर्णमाला का पहला अक्षर है 'अ'। जो बच्चा 'अ' को नही जानता, वह पडित तो क्या हो सकता है, साक्षर भी नही हो सकता। सबसे पहले उसे 'अ' को समझना जरूरी होता है। जो व्यक्ति श्वास को नही जानता वह क्या साधना कर सकता है? कुछ भी नही कर सकता। क्योकि श्वास का हमारे जीवन से इतना निकट का सम्बन्ध है कि उसे समझे बिना जीवन को नही समझा जा सकता।

हमारे जीवन मे दो स्थितिया हैं—एक हमारा अस्तित्व यानी आत्मा और एक हमारा जीवन। हम अस्तित्व को नही जान पाते और शेष सारे जीवन को जान पाते हैं। हम ऐसे सेतु पर खडे हैं। हम केवल पुल को जानते है। इस तट को भी नही पकड पाते, उस तट को भी नही पकड पाते, बीच मे जो सेतु बना हुआ है, उसे पकड पाते हैं। हमारे जीवन के सेतु क्या है? आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—ये छह हमारे सेतु है। क्या आत्मा आहार करती है? नही करती। आप सब जानते है कि आत्मा आहार नही करती। तो क्या शरीर आहार करता है? शरीर भी आहार नही करता। किन्तु जब आत्मा और शरीर के बीच मे एक सेतु होता है तो आहार होता है।

कौन बोलता है? आत्मा बोलती है क्या? आत्मा को बोलने की जरूरत नही। आत्मा की कोई भाषा ही नही है। आत्मा उस स्थिति मे है, जहा से सारे स्वर लौट आते है—**सव्वे सरा नियट्टंति**। जहा शब्द की कोई पहुच नही है। जहा कोई तर्क नही है—**तक्का तत्थ न विज्जइ**। जहा कोई मनन और चिन्तन नही है—**मई तत्थ न गाहिया**। जहा कोई स्मृति नही है। जहा कोई कल्पना नही है। उस बिन्दु का नाम है—आत्मा या अस्तित्व।

कौन बोलता है? शरीर बोलता है क्या? शरीर बेचारा जड है। वह क्या बोलेगा? वह नही बोल सकता। आत्मा नही बोलती, शरीर नही बोलता,

बोलता है सेतु। खाता है सेतु। सेतु खाता है, सेतु बोलता है और सेतु सोचता है। हम उस सेतु पर खडे हैं। अब हमे यह निर्णय करना है कि किधर जाए? इधर जाए या उधर जाए? अपने अस्तित्व की ओर जाए या जीवन की ओर जाए? यह चुनाव हमे करना है। इस चुनाव का ही नाम है साधना का विचार करना। इस चुनाव का जो बिन्दु है, वह साधना का बिन्दु है। आदमी चाहे तो इधर जा सकता है और चाहे तो उधर जा सकता है। अस्तित्व की ओर गति होगी, वह एक प्रकार की गति होगी। और जीवन की ओर गति होगी, वह एक प्रकार की गति होगी। ये दोनो तट हैं और इन दोनो तटो के बीच मे एक सेतु है। इस सेतु का हमे निर्णय करना है। और यह हमारा साधना का मुख्य विषय होगा। साधना का मुख्य विषय है सेतु पर खडा होकर देखना। दोनो ओर झाकना। दोनो के परिणामो को देखना। दोनो के परिणामो की समालोचना करना और दोनो के परिणामो पर विचार करना तथा विचार के बाद अपना निर्णय करना कि किधर जाना मेरे हित मे है और किधर जाना मेरे हित मे नही है।

यही विचार भगवान महावीर ने इतनी स्पष्टता से दिया था कि जिसे हम चाहे साधना-पद्धति कहे, चाहे योग कहे और चाहे किसी दूसरे नाम मे पुकारें। किन्तु वह विचार सचमुच अपने अस्तित्व की ओर जाने का विचार है। और अस्तित्व की ओर जाने का जितना स्पष्ट विचार, जितनी स्पष्ट गति और प्रखर गति भगवान महावीर ने दी, बहुत कम लोगो ने दी होगी।

चेतना के जागरण का पहला बिन्दु क्या है? पहला बिन्दु है—विवेक। सूत्रो मे बहुत बार आया है—विवेक प्रतिमा, व्युत्सर्ग प्रतिमा। हम आज नही करते हैं विवेक प्रतिमा। मुनि के लिए बहुत आवश्यक था कि धर्म जागरिका के समय, पूर्व रात्रि और अपर रात्रि मे, वह विवेक प्रतिमा का अभ्यास करे, विवेक प्रतिमा स्वीकार करे, उसका अनुशीलन करे।

यह विवेक प्रतिमा क्या है? कहा मे हमे विवेक करना है? दो भिन्न वस्तुओ का सगम हो रहा है एक माध्यम के द्वारा। इधर प्राण और जीवन की शक्ति तथा ऊर्जा है और उधर अस्तित्व की शक्ति, आत्मा की शक्ति है। अस्तित्व और प्राण—इन दोनो का सगम हो रहा है, मिश्रण हो रहा है और हमारी समझ मे एकता हो रही है। हमारी अनुभूति ऐसी हो रही है कि अस्तित्व को हम प्राण की दृष्टि मे देखते हैं और प्राण को अस्तित्व के साथ देखते है। इन दोनो मे विवेक करना, विभेद करना, पृथक्त्व का बोध करना, भेदज्ञान करना—यह है हमारा विवेक।

विवेक हमारी साधना का पहला बिन्दु है और विवेक के बाद हमे गति को मोड देना है। उस मोड पर जो-जो मोड प्राप्त होगे, वे क्रमश आपके सामने स्पष्ट होते चले जाएगे।

प्रश्न : समाधान

प्रश्न—क्रियमाण हिंसा हिंसा नही होती। स्मृति की हिंसा हिंसा होती है, यह कैसे ?

उत्तर—यह मैंने नही कहा कि क्रियमाण हिंसा, हिंसा नही होती। क्रियमाण हिंसा उतनी हिंसा नही होती, जितनी कि स्मृति की हिंसा होती है। वर्तमान की जो घटना है, वह हिंसा तो है ही। किन्तु वह हिंसा का मूल नही है। हिंसा का मूल है स्मृति। यदि मन मे हिंसा का सस्कार न हो और हिंसा का सस्कार स्मृति के रूप मे जागृत न हो तो वर्तमान की हिंसा कोई कर ही नही सकता। कोई भी आदमी वर्तमान मे जो हिंसा कर रहा है, वह इसीलिए कर रहा है कि उसके मन मे हिंसा का सस्कार है। और उस हिंसा के सस्कार की स्मृति जागृत हो रही है। इसलिए वर्तमान मे हिंसा कर रहा है। इसलिए हिंसा का मूल दोप है, बडा दोष है—स्मृति, न कि वर्तमान की घटना। वह तो इसका एक परिणाम है। जहा निवारण का प्रश्न है, वहा हमारी चेतना का जैसे-जैसे ऊर्ध्वारोहण होगा, तो हिंसा अपने-आप समाप्त हो जायेगी। हिंसा छोडने से समाप्त नही होती, करने से समाप्त नही होती, चेतना का जागरण होता है तो अपने-आप समाप्त हो जाती है। क्योकि उससे हिंसा का संस्कार समाप्त होता है और जब सस्कार समाप्त हो जाता है तो स्मृति और घटनाए, ये दोनो नहीं होती।

प्रश्न—ऊर्ध्वारोहण करना चाहिए या चेतना का जागरण करना चाहिए ? शैतान के चेतना तो होती है परन्तु उसकी चेतना अधोगामी होती है। ऊपर के व्यक्ति की चेतना ऊर्ध्वगामी होती है परन्तु जो मध्यवर्ती व्यक्ति है, उनकी चेतना का तो इतना विकास ही नही होता तो उनकी चेतना का ऊर्ध्वारोहण करना चाहिए या जागरण ?

उत्तर—बात ठीक है। चेतना का जागरण मध्यबिन्दु है। इधर है नीद और उधर है ऊर्ध्वारोहण। नीचे जाना, ऊपर जाना। बीच का बिन्दु है जागरण। यानी जागरण के बिन्दु पर जो चेतना चली जाती है, उसका ऊर्ध्वारोहण शुरू हो जाता है और जो जागरण के बिन्दु से इधर रहती है, उसका नीचे गमन होता चला जाता है। मैंने कहा था कि सेतु पर खडा होकर आदमी विवेक करता है। वह विवेक है जागरण और जब वह जाग जाता है उसके बाद चेतना का मतलब ही है कि ऊर्ध्वारोहण शुरू हो गया। इधर प्रस्थान हमारा हो गया, उधर अभियान हमारा शुरू हो गया।

प्रश्न—जिसकी शक्ति जागृत है, उसका ऊर्ध्वारोहण आसानी से किया जा सकता है। पर ऊर्ध्वारोहण क्यो करना चाहिए ?

उत्तर—सुप्त शक्ति कोई काम नही करती, बिलकुल निष्क्रिय होती है। अब

शक्ति का जागना एक बात है और शक्ति का दिशागामी होना एक बात है। शक्ति जागृत है किन्तु प्रश्न है दिशा का। किस दिशा मे गति हो रही है, किस दिशा मे जा रही है ? जो शैतान की शक्ति है यानी अहकार और ममकार की जो शक्ति है, अहकार और ममकार की जो जागरणा है, हम इस भाषा मे तो कह सकते हैं कि वह शक्ति जाग उठी है। किन्तु वह मूर्च्छा का तीव्र प्रयत्न है। उसे जागृति के शब्द से नही पुकारा जा सकता। मूर्च्छा भी शक्ति होती है। हम जानते हैं कि मनुष्य को जब सन्निपात होता है, उसकी शक्ति बढ जाती है। शक्ति तो है, किन्तु वह जागृत शक्ति नही है, जागरण की शक्ति नही है। वह मूर्च्छा की शक्ति है। यह मूर्च्छा की शक्ति जब प्रकट होती है तब मनुष्य नीचे की ओर जाता है या वह काम करता है जो जागरण के क्षणो मे नही करता।

प्रश्न—सेतु का निर्माण किसने किया ?

उत्तर—उसका निर्माण कौन करता है, यह बडा जटिल प्रश्न है। क्योकि जहा निर्माण की बात आती है, पहली बात वही आ जाती है कि यह जीवन कब से हुआ ? आत्मा का अस्तित्व या चेतना कब से हुई ? किसने की ? वह रोहक वाला प्रश्न आ जाता है कि अंडा पहले हुआ या मुर्गी पहले हुई ? दोनो मे से कौन पहले हुआ ? यह निर्माण की बात बीच मे ही दबी रहे तो ठीक है। हमे समझना यही है कि अस्तित्व का कोई आदि-बिन्दु प्राप्त नही है। और जीवन का भी आदि-बिन्दु प्राप्त नही है। जब अस्तित्व और जीवन के आदि-बिन्दु प्राप्त नही हैं, तब निर्माण का भी आदि-बिन्दु प्राप्त नही है। यानी अस्तित्व और जीवन दोनो खुले हुए हैं। दोनो मिश्रित रूप मे चले आ रहे हैं और उस मिश्रण मे से ही यह निर्माण अपने-आप होता चला जा रहा है। इसलिए आदि-बिन्दु की जो खोज है, वह वास्तव मे अव्यक्त ही मान ली जाये।

मकान कब बना पता नही। पचास वर्ष पहले के बने हुए मकान मिलते हैं। ऐसे मकान मिलते हैं जो हमारे जन्म से पहले ही बन गये। कई पीढियो के बने हुए मकान भी मिल जाते हैं। मकान की बनावट को, मकान की चिनाई को हमने नहीं देखा किन्तु मकान को आज हम देख रहे हैं। इसलिए मकान के बारे मे हम आलोचना कर सकते हैं कि यह ठीक बना या ठीक नही बना। कैसे बना, उसकी समीक्षा करना हमारा काम है। क्योकि उसे आज हम देख रहे हैं। निर्माण को नही देख रहे हैं।

जो सेतु प्राप्त है, हम उस सेतु को देख रहे हैं। उस सेतु के बारे मे निर्णय लेना हमारा काम है, किन्तु सेतु के निर्माण के बारे मे हमे जानकारी नही है। कुछ करें तो विवेक कर सकते हैं कि सेतु के इधर जाना है या उधर जाना है। पुल बना हुआ है। हमने नही देखा कि नदी का पुल कब बना। पुल के इस पार जाना है या उस पार जाना है, यह निर्णय करना तो हमारा काम हो सकता है। किन्तु पुल के

निर्माण को या निर्मिति को देखना शायद हमे प्राप्त नही है।

प्रश्न—आत्मा शब्दातीत है और मन जड होता है तो विवेक का निर्णय कौन करेगा ?

उत्तर—हम जानते हैं कि निर्णय करने मे शब्दो की ज़रूरत नही होती और वास्तव मे सही निर्णय वहा होता है, जहा शब्दो की हमे आवश्यकता नही होती। शब्दो की बहुत आवश्यकता होती भी नही है। हम स्वप्न देखते हैं। स्वप्न मे क्या कोई शब्द होता है ? एक व्यक्ति को देखते है, वस्तु को देखते हैं। मैं खभे को देख रहा हूं। इसे देखने मे शब्द की कोई ज़रूरत नही है। शब्दो की ज़रूरत वहा होती है, जहा कि हमारे प्रत्यक्ष मे कुछ नही होता। इसीलिए बौद्धो ने विकल्प को अप्रमाण माना है। उन्होने माना कि 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रमाण'—जो निर्विकल्प प्रत्यक्ष है, वही प्रमाण है। जहा प्रत्यक्ष मे शब्द का प्रवेश हो गया, वहा प्रमाण खडित हो गया, यानी अप्रमाण हो गया, प्रत्यक्ष नही रहा। अनुमान भी प्रमाण नही है उसका। केवल औपचारिक प्रमाण मानते हैं। जो निर्विकल्प है, शब्दातीत है, वही वास्तव मे प्रमाण होता है।

हमारे दर्शन मे शब्द की कोई आवश्यकता नही होती। एक अतीन्द्रिय ज्ञानी जो देखता है, शब्द नहीं होता, केवल साक्षात् होता है। शब्दो का माध्यम तो हमारी दुर्बलता है। यह बैसाखी तो हमने इसलिए हाथ मे ली, क्योकि लगडाते हुए चलते हैं। हमारी आखो मे वह ज्योति नही है, इसलिए चश्मा लगा लेते है। यह हमारी कोई शक्ति नही, केवल दुर्बलता और सापेक्षता है। वास्तव मे शब्द की कोई ज़रूरत नही। निर्णय हम इसीलिए लेते है कि हमारे भीतर भी एक ज्योति झाक रही है। हमारा अस्तित्व इसी से प्रमाणित होता है। अगर हमारा अस्तित्व वास्तव मे शब्द तक ही सीमित होता तो हमारी यह निर्णय लेने की शक्ति समाप्त हो जाती। हम भौतिक वातावरण मे रहते हुए भी अस्तित्व की, आत्मा की, चेतना की बात करते हैं, यही इसका सबसे बडा प्रमाण है कि हमारी भौतिकता के तल मे छिपी हुई कोई ऐसी प्रखर ज्योति है जो कि निर्णय ले रही है और वह निर्णय हमारे बाहर तक पहुच रहा है। जैसे भीतर कमरे मे बिजली जल रही है, दीपक जल रहा है और मकान मे जो छिद्र है, जो द्वार है या खिडकिया है, उनके द्वारा प्रकाश बाहर जाता है। छिद्र से प्रकाश बाहर झाकता है। चेतना पर आवरण हैं। चेतना का प्रकाश, छेदो को लाघकर, बाहर की ओर आता है। वह हमारा निर्णय होता है। और इसलिए हमे बाहर से भीतर और सेतु के उस पार जाने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

प्रश्न—जागरण को साधना का फलित मानें या साधना का आदि-बिन्दु ?

उत्तर—जागरण वास्तव मे साधना का आदि-बिन्दु है। फलित भी इस भाषा मे मान सकते है, जो दीप एक बार जल जाता है, वह कभी बुझता नही।

२

अमूल्य का मूल्यांकन

- शब्द का मूल्याकन अमूल्य का मूल्याकन है।
- श्वास का शारीरिक मूल्य—
  - मस्तिष्क की क्रियाशीलता।
  - रक्त की गतिशीलता।
  - जीवन-यात्रा का अनन्यतम पाथेय।
- श्वास का आध्यात्मिक मूल्य—
  - चेतना का ऊर्ध्वारोहण।
  - अतीन्द्रिय शक्तियो की प्राप्ति।
  - सतत जागरण की अवस्थिति।



आज मैं अपनी बात एक कहानी से शुरू करता हू। एक था राजा। एक था सन्यासी। संन्यासी अपरिग्रही था। नग्न था। पास मे कुछ भी नही था। तपस्वी था। जनता मे उसकी काफी ख्याति फैल गयी। हजारो-हजारो व्यक्ति उसके पास आने लगे। बात राजा तक पहुची। राजा के मन मे श्रद्धा का भाव जागा और वह सन्यासी के पास आया। सन्यासी को देखा। आसपास का वातावरण देखा। राजा बहुत प्रभावित हुआ।

राजा के मन पर सन्यासी की तपस्या की, उसके त्याग की अमिट छाप पड गयी। एक दिन वह बोला—'गुरुदेव ! आप बहुत बडे त्यागी हैं। आपके पास वस्त्र नही, मकान नहीं, पैसा नही, कुछ भी नही। कितने बडे त्यागी हैं !' राजा ने काफी प्रशसा की।

संन्यासी गम्भीर मुद्रा में सुनता रहा, सुनता रहा। कुछ क्षण बाद राजा मौन हो गया तो सन्यासी बोला—"राजन्! तुमने मेरी प्रशसा की, पर वास्तव मे मुझे लगता है कि तुम्हारे त्याग के सामने शायद मेरा त्याग छोटा है। तुम बडे त्यागी हो।"

राजा अवाक् रह गया। सोचा—"यह कैसे? मैं त्यागी कैसे हो सकता हू? इतने बडे राज्य का, ऐश्वर्य का, वैभव का भोग कर रहा हू और गुरुदेव कह रहे है कि तुम बडे त्यागी हो। यह कैसे?" राजा समझ नही पाया। उसने पूछा—"गुरुदेव! मैं कहा त्यागी हू? त्यागी तो आप हैं?"

संन्यासी बोला—"राजन्, मैंने जो कुछ छोडा है वह बहुत के लिए अल्प को छोडा है। मैं परमात्मा बनना चाहता हू, परमात्मा का ऐश्वर्य पाना चाहता हू। उसके लिए मैंने छोडा है। मैंने अल्प छोडा है और बहुत के लिए छोडा है। और तुम बहुत को छोडकर अल्प मे मुग्ध हो रहे हो। कहो, त्याग तुम्हारा बडा या मेरा बडा?" राजा नत हो गया।

सचमुच यह प्रश्न हमारे लिए भी उपस्थित होता है। और उन सबके लिए भी जो श्वास का मूल्य नही जानते। श्वास का मूल्य नही जानने वाला हर कोई व्यक्ति शायद बहुत को छोडकर अल्प की उपासना कर रहा है। साधना के क्षेत्र मे आता है और श्वास का मूल्याकन नही करता, वह वास्तव मे आत्मा का मूल्याकन नही करता, परमात्मा का मूल्याकन नही करता और वह बहुत के लिए शायद छोटे मे, अल्प मे, मुग्ध हो रहा है। आप सोचेंगे कि श्वास का इतना क्या महत्त्व है? आखिर वह भौतिक वस्तु है। वह हमारे शरीर का एक हिस्सा है। उसका इतना मूल्य क्यो है? तो मैंने सोचा कि इसी विषय पर कुछ बातें कहू कि हमे मूल्य का नही, अमूल्य का मूल्याकन करना है। मेरे विषय का शीर्षक ही यही होगा—'अमूल्य का मूल्याकन'। श्वास वास्तव मे हमारे लिए अमूल्य है। उसका मूल्याकन हमे करना है।

रोटी का हमारे जीवन मे मूल्य है। रोटी के बिना कोई आदमी जी नही सकता। पानी का हमारे जीवन मे मूल्य है। पानी के बिना कोई आदमी जी नही सकता। श्वास का हमारे जीवन मे मूल्य है। श्वास के बिना कोई आदमी जी नही सकता।

रोटी के बिना कुछ दिनो तक मनुष्य जी सकता है, हमने अपनी आखो से देखा है। पानी के बिना भी कुछ दिनो तक जी सकता है, यह भी देखा है। किन्तु श्वास के बिना कुछ महीनो की बात नही, कुछ दिनो की बात नही, कुछ घटो की बात नही, कुछ मिनटो तक भी नही जीया जा सकता। अगर पाच मिनट श्वास न लेना हो तो न जाने क्या बीते? तो मूल्य किसका ज्यादा है? रोटी का अधिक, पानी का अधिक या श्वास का अधिक?

वह अखड ज्योति है। अमिट ज्योति है। जो ज्योति एक बार प्रज्ज्वलित हो गयी, वह कभी नही बुझती। और चेतना की लौ तो कभी बुझती ही नही। जागरण है चेतना के ऊर्ध्वारोहण का आदि-विन्दु। हर मनुष्य के पास शक्ति के कोष होते हैं। शक्ति का सचय होता है। जिसे अपनी पारिभाषिक भाषा मे कहते है लब्धि। वह तो होती है। प्रश्न यह नही होता शक्ति के प्राप्त करने का। प्रश्न होता है शक्ति के प्रयोग का। जिसे कहते है करणवीर्य यानी क्रियात्मक प्रयोग करना। शक्ति का प्रयोग करना। जिनमे जागरण हो जाता है, चेतना की ऊर्ध्वारोहण की ओर गति हो जाती है, उनकी शक्ति का प्रयोग ऊर्ध्व दिशा मे होने लग जाता है और जिनका जागरण नही होता, नीद मे होते हैं, उनकी शक्ति का प्रयोग अधोदिशा मे होने लग जाता है। ये प्रयोग की दो दिशाए हैं। शक्ति मे कोई तारतम्य नही है और शक्ति का सचय तो दोनो मे ही समान रूप से होता है।

प्रश्न—शक्तियो को जागृत क्यो करना चाहिए ?

उत्तर—यह प्रश्न तो इसमे स्वय समाहित है कि हमे चेतना को किस दिशा मे ले जाना है। ऊपर की ओर ले जाना है या नीचे की ओर ले जाना है। हमारे चिन्तन को, हमारे विचार को, हमारे आचरण को किस दिशा मे ले जाना है ? हमारे यहा दो शब्द रहे हैं—एक स्वर्ग और एक नरक। तुम स्वर्ग का जीवन चाहते हो या नरक का जीवन चाहते हो ? ये दोनो प्रतीक रूप मे चलते हैं। एक उस जीवन का, जहा जीवन समाप्त हो जाता है, उसका। एक हो सकता है जीवन की असफलता का या उसके नीचे जाने का। प्रश्न यह है कि हम क्या चाहते है ? हर आदमी उन्नति चाहता है, जीवन मे सफल होना चाहता है, सार्थक होना चाहता है, जीवन की धन्यता चाहता है और जीवन मे महान होना चाहता है। यह महानता, जीवन की सफलता, जीवन की धन्यता और जीवन की सार्थकता एक ओर है और दूसरी ओर है ठीक इससे विपरीत या उल्टा—जीवन की असफलता, जीवन की व्यर्थता और जीवन की निरर्थकता। हर आदमी चुनाव यही करेगा कि वह जीवन की उच्चता मे जाना चाहता है। हर आदमी सफल होना चाहता है, सार्थक होना चाहता है, धन्य होना चाहता है और महान् होना चाहता है। वह महानता, शक्ति-सचय और शक्ति-प्रयोग से प्राप्त होती है।

तो यह हमने स्पष्ट जान लिया कि शक्ति का—चेतना का ऊर्ध्वारोहण की ओर प्रयत्न करने से, उस दिशा मे चेतना को ले जाने से जीवन को महानता, सफलता आदि-आदि प्राप्त होते हैं और इसके विपरीत ले जाने से ठीक उल्टा प्राप्त होता है। इसलिए हमने यह चुनाव किया साधना का कि हम जीवन की सफलता के लिए, सार्थकता के लिए अपनी शक्ति को उस दिशा मे ले जाना चाहते है, उस दिशा मे जागृत करना चाहते हैं और उस दिशा मे नियोजित करना चाहते हैं।

प्रश्न—यदि हमने श्वास का विवेक प्रारम्भ से नहीं किया तो क्या यह मानें

कि हमारी साधना रूढ है ?

उत्तर—विवेक कितनी वार जागता है, वह कोई एक विन्दु मे पूरा नही हो सकता। नोखा मे जहा से प्रवेश किया वहा भी नोखा है। जहा वैठे हैं, यह भी नोखा है और लगभग एक मील तक चले जाएगे तो भी नोखा है। पर यह तो वहुत छोटा है। कलकत्ता के पहले छोर और अतिम छोर मे कम-से-कम दस मील की दूरी होगी। उस दस मील के अन्दर सव जगह कलकत्ता ही माना जायेगा। इसी प्रकार विवेक सव जगह है। जिस विन्दु से चले है वह भी विवेक है और जिस विन्दु तक पहुचेंगे तव तक विवेक होगा। हमे यह मान लेना चाहिए कि जिस विवेक के विन्दु से साधना पर चले थे, वह भी विवेक था और श्वास के ऊपर का जो विवेक मिलेगा, वह भी विवेक है। अगर रूढ होते तो यह वात सोचते ही नही कि श्वास का विवेक हमे करना है। इसलिए रूढ तो नही है पर एक वात ज़रूर है कि पद्धतिया भिन्न होती हैं। साधना की पद्धति मे सकल्प करना भी साधना का एक विवेक है। किसी व्यक्ति ने अगर यह दृढ निश्चय कर लिया कि हमे सकल्प को मज़वूत वनाना है तो फिर उसे शायद श्वास को पकडने की कोई ज़रूरत नही है। व्यक्ति का सकल्प दृढ होगा तो निश्चित ही श्वास की जो प्रक्रियाए होती हैं, वे सारी की सारी सहज ही फलित हो जायेंगी।

रोटी वनाने वाले को यह पता नही है कि गेहू के आटे मे क्या-क्या है ? खाने वाले को भी पता नही है। फिर भी जो रोटी खाता है, उसे अपने आप प्रोटीन मिल जायेगा तथा और भी जितने तत्त्व आटे मे हैं सारे के सारे मिल जायेंगे। तो एक है होना और एक है जानना कि होगा। हम वहुत अनजाने मे भी किसी सत्य को पकड लेते हैं तो वह अपने आप फलित हो जाता है। अगर सकल्प को इतना दृढ कर दें और जिस व्यक्ति का सकल्प इतना दृढ और मज़वूत हो गया, श्वास की सारी घटनाए अपने आप ही उसमे हो जायेंगी। इसीलिए योग के आचार्यों ने वतलाया भी है कि श्वास, मन और विन्दु (वीर्य)—इन तीनो मे से एक को पकडने पर दो वातें अपने आप पकड मे आ जाती है। जिस व्यक्ति ने श्वास को समझा और मन को पकडने का प्रयत्न नही किया, फिर भी मन की सारी घटनाए अपने आप ही समझ मे आ जायेंगी। किसी व्यक्ति ने मन को पकडा, श्वास को नही पकडा, मन को दृढता के साथ सकल्प मिला तो श्वास की सारी स्थितिया अपने आप ही समझ मे आ जायेंगी।

पचासो रास्ते हैं एक गाव मे जाने के लिए और पचासो दरवाज़े हैं एक मकान मे प्रवेश पाने के लिए। किसी मे से घुसो, आखिर घुसो। उसके अन्दर जाने का प्रयत्न करो। एक दरवाज़े से भी घुसें तो भी हम सारे मकान मे घूम सकते हैं, कोई रुकावट नही होगी। चाहे पूरव से आयें, चाहे पश्चिम से आयें और चाहे उत्तर या दक्षिण या किसी भी ओर से आये, आखिर मकान के भीतर हमे घुसना है।

मैं समझता हू सव लोग इस वात को स्वीकार करेंगे कि रोटी और पानी की अपेक्षा श्वास का मूल्य अधिक है। किन्तु जो मूल्य हमे मान्य है, वह भी वहुत छोटा है। वहुत छोटा मूल्य है। यह श्वास का शारीरिक मूल्य है। भौतिक मूल्य है। श्वास का मूल्य इससे वहुत ज्यादा वडा है।

पहला है श्वास का शारीरिक मूल्य और दूसरा है श्वास का आध्यात्मिक मूल्य। श्वास का वहुत अधिक आध्यात्मिक मूल्य है। और साधना के क्षेत्र मे इतना वडा उपयोगी तत्त्व, शायद मुझे लगता है कि, दूसरा कम है। वहुत कम।

मैं इस वात की ओर वहुत अधिक ध्यान देता रहा हू कि श्वास पर अधिक से अधिक अभ्यास किया जाए और उसे जानने का, समझने का प्रयत्न किया जाए। जैसे-जैसे प्रयत्न किया, कुछ रहस्य खुलते जा रहे है। मुझे लगता है कि इसमे और ज्यादा रहस्य भरे पडे है। जिस दिन श्वास के सारे रहस्य हमारे सामने उद्घाटित हो जायेंगे, शायद हम न जाने क्या वन जायें ? यह एक वहुत वडा विषय है।

श्वास का शारीरिक मूल्य तो आप जानते हैं। शरीरशास्त्र की दृष्टि से श्वास न हो तो हमारी मासपेशिया गति नही देती, हमारे शरीर मे क्षमता उत्पन्न नही होती। हमारे दिमाग के तन्तु मृत हो जाते हैं। हमारे हृदय की धडकन वन्द हो जाती है। आदमी मर जाता है। यह श्वास का शारीरिक मूल्य है।

श्वास का आध्यात्मिक मूल्य है—चेतना का ऊर्ध्वारोहण और अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति, प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति, अप्रमाद—सतत जागरण की अवस्था। ये श्वास के ज्ञान के विना नही हो सकते।

भगवान् महावीर ने कहा—एक क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत करो। वात वहुत अच्छी है कि प्रमाद एक क्षण के लिए भी न किया जाये, पर यह हो कैसे सकता है ? इसकी साधना क्या है ? इसका उपयोग क्या है ? इसका उपाय है—श्वास पर ध्यान को केन्द्रित करना। यह पद्धति वौद्धो मे रही है। इसे 'आनापानसती' कहा जाता है। श्वास पर ध्यान को केन्द्रित करो और प्रति पल श्वास के साथ मन को जोड दो। मन अप्रमत्त रहेगा। मैं समझता हू कि जैनो मे भी यह पद्धति रही है। जो 'यथालन्दक मुनि' होते थे, वे क्षण-क्षण के लिए जागरूक रहते थे। एक क्षण भी उनमे प्रमत्तता नही आती थी। उनकी अप्रमत्त दशा का माध्यम था कायोत्सर्ग या श्वास पर ध्यान केन्द्रित करना। यह श्वास जागरण का वहुत सजग प्रहरी है।

एक भक्त था और वहुत वडा पहुंचा हुआ था। राजा ने एक वार पूछा—"भई ! कभी मुझे भी याद करते हो क्या ?" वह वोला—"जव भगवान् को भूल जाता हू तव आपको याद करता हू। जव भगवान् की स्मृति रहती है, तव कभी आपको याद नही करता।"

मैं इसे रूपक की भाषा मे कहू तो क्रोध, अभिमान, दम्भ, लालच आदि-आदि

आवेगो ने किसी साधक से पूछा—"हम तुम्हारे बहुत परिचित साथी हैं। क्या कभी तुम हमे याद करते हो?" साधक ने उत्तर दिया—"जब श्वास को भूल जाता हू तब तुम्हे याद करता हू। जब श्वास की स्मृति रहती है, तुम्हे याद नहीं करता।"

यह कैसे? आप लोगो के मन मे भी प्रश्न हो सकता है। किन्तु आप सही समझिए, जब श्वास हमारा शान्त होता है, हमे कोई आवेग आ नही सकता। श्वास शान्त, आवेग शान्त। श्वास क्षुब्ध, आवेग का अवतरण। यह इतना निश्चित नियम है कि आप श्वास को शान्त रखकर क्रोध करना चाहे तो कभी नही कर सकते। क्रोध आने के पहले, आपके श्वास को उत्तेजित और क्षुब्ध होना होगा, तभी क्रोध आ सकता है। श्वास के क्षुब्ध हुए विना क्रोध आ ही नही सकता। कितना निश्चित नियम है।

योग का एक सिद्धान्त है—मुद्रा और मानस। मुद्रा और मानस यानी मुद्रा के अनुकूल आवेग आयेगा या आवेग की मुद्रा होने पर, आवेग के आने पर उसके अनुकूल मुद्रा बन जायेगी। दोनो मे निश्चित सम्बन्ध है। किसी आदमी ने हत्या पद्मासन मे बैठकर की हो, शान्तरस मे बैठकर की हो, शायद दुनिया मे ऐसी कोई भी घटना नही मिलेगी। हो नही सकती। जिसे हिंसा करनी है, उसे क्रोध-मुद्रा का निर्माण करना होगा। उसकी आखें लहूलुहान जैसी हो जायेगी। उसकी आकृति पर एक वीभत्सता का दृश्य उपस्थित हो जायेगा, हाथ कापने लग जाएगे, भुजाए फडकने लग जाएगी। तब उसमे किसी को मारने की, आवेश की स्थिति उत्पन्न होती है और वह क्षमता पैदा होती है। कोई भी शस्त्र का प्रयोग करने वाला, अपने आपको क्षुब्ध किये विना और उस प्रकार की मुद्रा का निर्माण किये विना वैसा काम कर नही सकता।

मानस और मुद्रा, इन दोनो का बहुत गहरा सम्बन्ध है। जब बृहद्कल्प सूत्र मे कुछ नियम पढे—साध्वी को सीधा नही सोना, साधू को औंधा नही सोना। पर यह क्यो? कुछ समझ मे नही आ रहा था। किन्तु जब से यह मुद्रा और मानस का सिद्धान्त समझ मे आया, तब से यह समझ मे आ गया कि बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढग से ये व्यवस्थाए की गयी हैं। काम की मुद्रा, चिन्ता की मुद्रा, क्रोध की मुद्रा—ये जो सारी मुद्राए है, इनका निर्माण होने पर काम, क्रोध, चिन्ता आदि के आवेग सहज ही उनमे उतर जाते हैं।

जो आदमी चिन्तित है, उसे कोई सिखाने नही आता कि तुम इस प्रकार करो। मन मे चिन्ता आयी कि हाथ सिर पर चला जाता है। सिर को खुजलाने लगेगा, दृष्टि ज़मीन पर गड जायेगी या आकाश की ओर उठ जायेगी। यह मुद्रा का निर्माण कौन करता है? हमारे जो अन्तरग के आवेग हैं, जो भाव है, वे स्वय इस प्रकार की मुद्रा का निर्माण करते हैं।

उल्टा चलिये। इस प्रकार की मुद्रा करिये। करते रहिये। मुद्रा जिस प्रकार सधी, उस प्रकार का भाव भी उतरने लगेगा। मुद्रा से आवेग का अवतरण होता है और आवेग मुद्रा का निर्माण करता है—यह इतना अटूट सम्बन्ध है, इतना गहरा और घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक के होने पर दूसरी स्थिति घटित हो जाती है।

यह मुद्रा और मानस का सम्बन्ध यदि हम ठीक मे समझ ले तो आवेग की मुद्रा मे नही जाएगे। हमारा श्वास शान्त रहेगा। जब हमारा श्वास शान्त रहेगा तब आवेग आ नही सकता। गुस्सा आ भी गया तो तत्काल आधा मिनट के लिए नाक को बन्द कर लीजिए, गुस्सा शान्त हो जायेगा। कोई भी बडा आवेग आया, क्षण भर के लिए कुंभक कर लीजिये, आवेश उतर जायेगा।

सुदर्शन जा रहा था। अर्जुनमालाकार सामने आया। देखा—सामने मौत आ रही है। तत्काल कायोत्सर्ग मे खडा हो गया। उपसर्ग के आने पर जो कायोत्सर्ग का विधान मिलता है उसका रहस्य क्या है ? यही तो है कि कायोत्सर्ग करने पर सामने आनेवाली जो विभीषिकाए हैं, सामने आने वाली जो घटनाए हैं और जो घटनाए हमारे मानस को विचलित कर सकती हैं, जो हमे सत्रस्त और मार्गच्युत कर सकती हैं, कायोत्सर्ग की मुद्रा मे आने पर हमारा आवेग शान्त हो जाता है और शान्त स्थिति मे आनेवाली प्रत्येक घटना का सामना करने के लिए हमारी क्षमता पैदा हो जाती है और उसे हम बडे शान्तभाव से सहन कर सकते है। उसे सहन करने के लिए स्थान-स्थान पर कायोत्सर्ग की प्रतिक्रिया बतलायी है। और इसे हमारे आचार्यों ने अभिभव कायोत्सर्ग कहा है। अभिभव कायोत्सर्ग आनेवाली कठिनाइयों को झेलने की तैयारी है। कायोत्सर्ग कर लेने पर श्वास की स्थिति शान्त हो जाती है और शान्त स्थिति मे आवेग की स्थिति कभी पैदा हो नही सकती। और उसे ग्रहण करने की क्षमता बढ जाती है।

हमारा श्वास कई प्रकार का होता है। एक श्वास तो साधारण होता है। प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के शरीर मे सोलह से उन्नीस तक श्वास आते हैं। यह हमारा सामान्य श्वास है। दूसरा है पूर्ण श्वास यानी गहरा श्वास। एक होता है क्षुब्ध श्वास। एक होता है शान्त श्वास। एक होता है सूक्ष्म श्वास और एक होता है निरुद्ध श्वास। इस प्रकार श्वास के छह प्रकार बन जाते हैं.

१. सामान्य श्वास
२ पूर्ण श्वास
३ क्षुब्ध श्वास
४ शान्त श्वास
५ सूक्ष्म श्वास
६. निरुद्ध श्वास

सामान्य श्वास के बारे मे आप लोग जानते है। अब आता है पूर्ण श्वास। यानी गहरी श्वास। जो श्वास हमारी छाती और पेट तक आ जाये, वह गहरा श्वास होता है। क्षुब्ध श्वास वह होता है, जैसे परिश्रम किया, कठोर श्रम किया, जो सोलह से उन्नीस तक का अनुपात है, बढकर बीस, पचीस और तीस हो जाता है। सामने कोई भय की घटना उपस्थित हो गयी, उसका असर हुआ और श्वास की गति तीव्र हो जाती है। बुखार हो गया, श्वास बढ जाता है। ज्वर की अवस्था मे हमेशा श्वास बढता है और श्वास शान्त रहे तो ज्वर आ नही सकता। इसीलिए योग मे एक प्रक्रिया है कि जब बुखार आने लगे, तब नाभि पर ध्यान करो। नाभि पर ध्यान करने से श्वास की मात्रा कम हो जाती है और श्वास कम होती है तो ज्वर बढ नही सकता। परिश्रम, भय, चिन्ता, उद्वेग और कुछ शारीरिक बीमारियो की अवस्था मे श्वास की मात्रा बढ जाती है। यह होता है क्षुब्ध श्वास। यह है शारीरिक कारण। दूसरा है मानसिक कारण। क्रोध, भय, लोभ, वासना, हिंसा या झूठ बोलना आदि-आदि कारणो से आवेग आते हैं, तब भी श्वास की मात्रा बढ जाती है।

पहला प्रसग था कि जीव हिंसा आदि से भारी होता है। जब हिंसा या झूठ की बात सोचते है तब सबसे पहले भारी होता है हमारा श्वास, फिर भारी होता है शरीर, फिर भारी होता है मन और फिर भारी होता है सस्कार। यह एक क्रम है। इस क्रम का व्यतिक्रम कर कोई भारी नही हो सकता। श्वास भारी हुए बिना अगली कोई चीज़ भारी हो नही सकती। सबसे पहले श्वास क्षुब्ध और उत्तेजित होता है और उसके होने के बाद दूसरी चीज़ें क्षुब्ध और उत्तेजित होती है। यह परीक्षण हर कोई कर सकता है। अपनी नाडी को देख सकता है। अपनी धडकन को देख सकता है कि जब तक श्वास शान्त है, श्वास की गति ठीक है और नॉर्मल अर्थात जितना श्वास आना चाहिए उतना ही आ रहा है। तो मानना चाहिए कि मन मे कोई आवेग नही है। आप परीक्षण करके देख लीजिए। आपके मन मे कोई आवेग या दुर्घटना सामने आती है, चिन्ता की बात आती है, छाती की धडकन बढ जाती है और नाडी की फडकन भी बढ जाती है, उत्तेजित हो जाती है, यह हमारे मन का उस पर असर होता है। यह है हमारा क्षुब्ध श्वास। आज तक भी ऐसा कोई नही बता सकेगा कि मन मे चिन्ता आयी और व्यक्ति का श्वास शान्त रहा हो। ऐसा हो नही सकता। यह सारा क्षुब्ध श्वास मे होता है। इसीलिए मैंने कहा था कि मुद्रा और मानस के सबध को जानना हमारे लिए बहुत जरूरी है।

योग के आचार्यों ने अलग-अलग मुद्राओ मे बैठने का विधान किया है। हज़ारो-हज़ारो मुद्राओ का जो विधान हुआ वह अकारण ही नही हुआ है, उसके पीछे बहुत बडा अर्थ है। शायद आपने काव्यानुशासन पढा हो। वहां नौ रसो का

वर्णन किया गया है। जब व्यक्ति मे शान्तरस का अवतरण होता है, सहज ही उसकी मुद्रा वैसी बन जाती है। उसके स्थायी, सचारी भावो को देखिए, उसकी मुद्रा का वैसा निर्माण हो जाता है या आप उन मुद्राओ मे बैठकर देखिए। कोई आने वाला व्यक्ति देखेगा तो उसे लगेगा कि आप ठीक शान्तभाव का अनुशीलन कर रहे हैं।

महावीर की मुद्रा को इतना बडा महत्त्व दिया गया। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

> वपुश्च पर्यंकशय श्लथ च, दृशौ च नासा नियते स्थिरे च।
> न शिक्षितेय परतीर्थनाथैं, जिनेन्द्र! मुद्रापि तवान्यदास्ताम्॥

भगवन्! आपकी मुद्रा भी जब और लोगो ने नही सीखी तो और बातो को वे क्या सीख पायेंगे। आपका पर्यंक आसन मे सोने वाला शरीर, शिथिल शरीर और नासाग्र पर टिकी हुई स्थिर आखें, यह मुद्रा भी जब दूसरो को नही आयी तो आपकी और क्या बात आयेगी?

मुद्रा को इतना महत्त्व क्यो दिया गया? वास्तव मे मुद्रा का बहुत बडा महत्त्व है। अगर हम ठीक से इसे समझ लेते हैं तो शायद आवेगो पर नियत्रण पाने की क्षमता हमारी अद्भुत रूप से बढ जाती है और आवेशो से बचने की हमारे मे ताकत पैदा हो जाती है।

भगवान् महावीर ने श्वास के सबध मे इतना बल दिया था क्या? यह एक प्रश्न हो सकता है और पिछली गोष्ठी मे ऐसा पूछा भी गया था। प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। आप देखें, जैनागमो मे सारी साधना की पद्धति मे शायद ऐसा नही मिलेगा कि 'श्वास पर नियत्रण पाओ'। फिर इस पर इतना बल क्यो, यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। किन्तु मैं आपसे कहना चाहता हू कि हर बात को दो दिशाओ से समझा जाता है। एक कोई बात कही जाती है सीधी भाषा मे और एक बात फलित होती है। महावीर ने यह तो सीधा नही कहा कि स्वर पर विजय पाओ या श्वास की साधना करो। किन्तु महावीर ने जो साधना की, वह साधना श्वास के नियमन की साधना है। मैंने उस पर विचार किया और मुझे जो अनुभव हुआ, ऐसा लगता है कि वह श्वास-नियमन की साधना है। आप यह जानना चाहे कि वह अनुभव कैसे हो सकता है तो अनुभव की बात कहना जरा कठिन है। मैंने पिछली गोष्ठी मे भी कहा था कि महावीर को समझने के लिए महावीर की स्थिति मे जाना पडता है। महावीर की स्थिति मे जाने का अर्थ है—महावीर की मुद्रा मे बैठना, महावीर की ध्यान की पद्धति से ध्यान करना और जो महावीर ने किया, वह कार्य करना। अगर हम ऐसा करते हैं, महावीर की स्थिति से तादात्म्य स्थापित करते हैं, महावीर की स्थिति से साक्षात् सबध

स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं तो शायद महावीर को निकटता से समझने का, उनके अनुभवो का साक्षात् करने का हमे अनायास अवसर प्राप्त हो जाता है।

महावीर जव ध्यान करते थे तो वहा दो वातें आती हैं—**एगपोग्गल-निविट्ठदिट्ठी, अणिमिसनयणे**—वे एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाते थे। आखो मे इतनी उष्मा बढ जाती थी कि वच्चे डर जाते थे और चिल्लाकर भागते थे, जैसाकि आचाराग सूत्र मे वतलाया गया है—'हता ! हता ! वहवे कंदिंसु'—यह क्या ? यह क्या ? चिल्ला-चिल्लाकर वच्चे भाग जाते। यह क्यो ? इसके फलित क्या हैं ? यह भाषा मे नही जाना जा सकता। अनुभव की वात को उस स्थिति मे पहुचकर ही समझ सकते हैं। भाषा मे तो इतना आ गया कि एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाना और आखो को अपलक रखना। इतना मात्र है। पर आखिर तो इस स्थिति मे पहुचकर ही अनुभव किया जा सकता है।

एक वगाली व्यक्ति था, प्रेतात्माओ को वुलानेवाला। काफी प्रेतात्माओ को वुलाता था। कुछ दिनो के वाद मर गया। मरने के वाद उसके साथी ने उसकी प्रेतात्मा को वुलाया। वह उपस्थित हुआ। उन्होने पूछा, तुम परलोकवासी हो गये, अव अपने अनुभव वताओ।' वह वोला, 'जो मरने के वाद मैंने अनुभव पाया है, वह जीते-जी तुम नही पा सकते।'

जो अनुभव महावीर की स्थिति मे जाने के वाद पाए जा सकते हैं, उस स्थिति मे गये विना वे अनुभव नही पाए जा सकते और उन वातो को नही समझा जा सकता। किन्तु उन्हे समझने के लिए थोडी-सी वातें मैं आपके सामने प्रस्तुत करू।

कोई भी ध्यान करने वाला यह देख सकता है कि जैसे ही हम एक विन्दु पर अपनी आखो को अपलक रखेंगे, त्राटक करेंगे, अनिमेष दृष्टि रखेंगे और नेत्रो को झपकाए विना कही भी टिकाएगे तो टिकाते ही श्वास मन्द हो जाएगा। श्वास शान्त हो जाएगा। एक मिनट मे ही आप देखेंगे कि आपकी श्वास विलकुल खोयी-खोयी जा रही है और विलकुल अन्दर घुसी जा रही है, ऐसा अनुभव होने लगेगा। दूसरा अनुभव होगा कि मन शव्दातीत हो रहा है। मन विकल्पातीत हो रहा है। हमारे शव्द समाप्त होते जा रहे हैं। त्राटक करने के दो परिणाम जल्दी हमारे अनुभव मे आ सकते हैं। शव्दातीत और विकल्पातीत चित्त की स्थिति का निर्माण और श्वास की समाप्ति, श्वास का शान्त हो जाना। ये दो स्थितिया प्राप्त होगी।

आप कैसे कहते हैं कि जैन साधना पद्धति मे भगवान् महावीर ने श्वास के वारे मे कुछ नही कहा ? कहा कैसे नही ? भाषा नही समझ मे आती हमारे। इसलिए हम कह सकते हैं। हमे भाषा को नही समझना है, महावीर की अनुभूतियो को समझना है, उनकी साधना-पद्धति के रहस्य को समझना है।

उपवाम का विधान क्यो है ? क्या भूखा मरने के लिए है ? भूखा मरने का क्या अर्थ हो सकता है ? यह तो एक गौण वात है कि जो उपवाम करेगा, वह नहीं खायेगा। भूखा रहेगा। किन्तु भूखा मरने के लिए उपवाम नहीं, उमसे क्या होता है ? आज का शरीरशास्त्री कहता है—भोजन वन्द कर दो, श्वास की गति शिथिल हो जायेगी। उपवास करने वालो के सहज ही श्वास की गति मन्द हो जाती है। कायोत्सर्ग किसलिए ? यह मारी श्वाम की प्रक्रिया है।

यह हमने भुला दिया कि जैन मुनि के लिए दिन मे बीसो-तीसो वार कायोत्सर्ग करने का विधान है। वाहर जाये, फिर आये तो कायोत्मर्ग। भिक्षा के लिए जाये, फिर आये तो कायोत्सर्ग। प्रतिलेखन करे तो कायोत्मर्ग। प्रतिक्रमण करे तो कायोत्मर्ग। जहा भी हमारी हलन-चलन होती है, जहा भी हमारी प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति के साथ-साथ कायोत्सर्ग होता है। किसी के साथ कलह हो गया तो कायोत्मर्ग। दुस्वप्न आ गया रात्रि मे तो कायोत्सर्ग। हमारी प्रायश्चित्त की पचासो प्रवृत्तिया कायोत्सर्ग पर निर्भर थी। प्रायश्चित्त श्वाम के आधार पर चलता था। आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पचीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पचास श्वासोच्छ्वाम का कायोत्सर्ग, सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पाच सौ-हजार श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, आदि-आदि।

यह सारा क्या था ? क्या यह श्वास की पद्धति नही है ? पूरी की पूरी है। किन्तु जव कोई वात विस्मृति मे चली जाती है, शब्दो से अतीत हो जाती है और केवल थोडे से नियम हमारे सामने रह जाते हैं। उसे पकडने मे हमे कठिनाई आती है और वैसी ही कठिनाई शायद आज हमारे सामने हो रही है।

सामायिक क्या है ? साम्य क्या है ? जैसे ही मन मे समता का भाव आया, समता का विचार आया और हमारे श्वास का सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। जो श्वास की विसगति है, श्वाम का वैपम्य है, समाप्त हो जायेगा। सामायिक, उपवास, कायोत्सर्ग, ध्यान—सारी की सारी पद्धतिया श्वास-नियमन की पद्धतिया है। ध्यान का कितना वडा सबध है ? ध्यान जहा गया, वहा प्राण चला जायेगा। मुनि को 'युक्त' कहा गया है। युक्त का मतलव क्या ? बुद्धि के साथ मन, मन के साथ प्राण और प्राण के साथ शरीर। ये जब साथ-साथ चलते हैं, इनमे कोई विसगति, असामजस्य और असन्तुलन नही होता, वह व्यक्ति 'युक्त' हो जाता है। जिसमे यह नहीं होता, वह अयुक्त हो जाता है।

वहुत लम्बा विषय है। एक वात कहकर समाप्त करू। **'सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ'**—शुद्धि किसे प्राप्त होती है ? जो ऋजु होता है। ऋजु का अर्थ होता है सरल। किन्तु यह भावना अपर्याप्त है। इसे व्यापक सदर्भ मे समझना चाहिए। ऋजु के शुद्धि होती है और जो ऋजु होता है, उस आत्मा मे धर्म टिकता है। ऋजु क्या है ? जिसकी काया ऋजु है, जिसकी भाषा ऋजु है और

जिसका मन ऋजु है, वह होता है ऋजु। उम ऋजु आत्मा मे धर्म टिकता है। शरीर ऋजु है, इसका मतलब है जिसके शरीर की रीढ की हड्डी ऋजु है। यानी जिसकी ग्रीवा, जिसका सिर और जिसकी रीढ ऋजु है, वह व्यक्ति ऋजु होता है। इस बात को शायद हमने भुला दिया। काया की ऋजुता को भुला दिया। और आप निश्चित मानिए कि शरीर के ऋजु हुए बिना भाषा ऋजु हो नही सकती और मन ऋजु हो नही सकता। काया मे कुटिलता है। जैसे ही आपकी रीढ की हड्डी मे थोडा-सा टेढापन आया, विचारो मे टेढापन आ जायेगा। शरीर की सरलता का कितना बडा महत्त्व है। आचार्यश्री के सामने जाते हैं, देखते हैं आख सीधी है, बात कह देते है और जब देखते हैं कि आख टेढी है, चुपके से निकल जाते हैं।

शरीर की वक्रता मन की वक्रता को ला देती है। हम ऋजुता की बात को ठीक से समझ लें। काया मे ऋजुता होगी तो भाषा मे सरलता आयेगी। भाषा मे कुटिलता नही आयेगी, वक्रता नही आयेगी। काया मे सरलता होगी तो मन मे सरलता आयेगी, मन मे वक्रता नही आयेगी। मन मे टेढापन नही आयेगा।

हमारे तीन नाडिया हैं—इडा, पिंगला और सुषुम्ना। यह सुषुम्ना की सरलता वास्तव मे काया की सरलता है, काया की ऋजुता है। इस विषय पर कभी विस्तार से बताया जा सकेगा। यह बहुत बडा विषय है। सुषुम्ना की सरलता ही काया की ऋजुता है। वह जब ऋजु होती है, तब भाषा की ऋजुता निष्पन्न होती है। वह ऋजु होती है तब मन की ऋजुता निष्पन्न होती है और जब ये तीनो ऋजुताए निष्पन्न होती हैं तब हमारे मन की स्थिति, हमारे ध्यान की स्थिति निष्पन्न होती है और उस ऋजुता की स्थिति मे ही यह फलित होता है कि ऋजु आत्मा की शुद्धि होती है और धर्म उसी मे टिकता है। वह ऋजुता नही आती है, तब इस पद्य का अर्थ हमारे लिए व्यर्थ हो जाता है।

प्रश्न : समाधान

प्रश्न—ज्वर मे जैसे नाभि पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, वैसे अन्य आवेग की मुद्राओ मे ध्यान को कहा केन्द्रित करना चाहिए ?

उत्तर—आवेग की स्थिति मे श्वास पर ही ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए। जब श्वास पर हमारा ध्यान केन्द्रित हो तो श्वास पर जैसे ही ध्यान केन्द्रित हुआ और आप समझिए कि आवेग को हमने विदाई दे दी। श्वास पर ध्यान जाते ही, श्वास शांत होने लग जाता है और श्वास के शात होने का अर्थ है—आवेग की शाति। या उस समय श्वास को शात करने के लिए हम नासाग्र पर ध्यान टिकाए, नाक के अग्र भाग पर यानी नीचे। नाक के नीचे जो होठ है, जहा से श्वास आता है और जाता है, मन को केन्द्रित करे। ऐसा करने पर श्वास अपने आप शात होने लगता है और श्वास शात होने के साथ-साथ आवेग भी अपने आप शात होने

लग जाता है।

प्रश्न—विभिन्न प्रकार की साधना-पद्धतिया हैं। किसी भी साधना पद्धति को स्वीकार कर जैन साधु आगे बढ सकता है क्या ?

उत्तर—जहा साधना का प्रश्न है, वहा जैन या अजैन—यह भेद नहीं डाला जा सकता। साधना पद्धति शुद्ध अर्थ मे साधना पद्धति ही है और अध्यात्म मे यह भेद नही होता। यह भेद साप्रदायिक होता है। किन्तु जैसा कि मैंने पिछली गोष्ठी मे कहा था कि बहुत लोगो को यह भ्राति है कि जैन परम्परा मे साधना की पद्धति, योग की पद्धति नही है। इसलिए जैन योग या जैन साधना पद्धति के बारे मे कुछ बातें प्रस्तुत करनी पड रही हैं। अन्यथा अध्यात्म की गहराई मे जानेवाले व्यक्ति के लिए यह कोई प्रश्न ही नही रहता। वहा जैन की साधना पद्धति है, वैष्णव की है या किसी तीसरे की है, ये सारे भेद विलीन हो जाते हैं। जहा दूध का प्रश्न है, वहा काली गाय का है, भूरी का है या लगडी का है, यह प्रश्न समाप्त हो जाता है। वहा मात्र दूध का प्रश्न है। साधना का प्रश्न शुद्ध साधना का प्रश्न है। साधना की पद्धति मे केवल यह देखना होता है कि किस आलम्बन से मन शात हो रहा है, मन की पवित्रता बढ रही है और हमारा सहज अनुभव आगे विकसित हो रहा है, इस बात को मुख्यतया देखना होता है।

पद्धतिया अनेक हैं। सब व्यक्तियो के लिए एक पद्धति काम करे, यह बात भी नही है। रुचि भी अलग होती है और ग्रहण की क्षमता भी अलग होती है। पकडने की भावना भी अलग होती है और परमाणुओ का सयोग भी अलग प्रकार का होता है। क्योकि शरीर-रचना की भिन्नता के साथ इन सारी बातो मे भिन्नता आ जाती है। इस परिस्थिति मे हमे केवल विचार यह करना है, कि जहा साधना का प्रश्न है, वहा अन्तत मुख्य साधना ही है। वह किसी भी शब्द से चिपकी हुई साधना नही है। जब साधना मे हम आगे बढें तब इन सब बातो को भुला ही देना है।

भगवान् महावीर जैन नही थे। आज हम जैन हैं। महावीर किसी परम्परा मे नही थे। किसी के शिष्य भी नही थे। स्वय अनुभव किया। जो अच्छा लगा, उसका आचरण किया। उस समय भी अनेक पद्धतिया चालू थी। पार्श्व की परम्परा के अनुयायी भी नहीं बने, श्रावक भी नही बने। उस कुल मे जन्मे थे परन्तु पार्श्व के अनुयायी नही बने थे। कहा जाता है कि साधुओ के पास भी नही गए। धर्म भी नही सुना। किन्तु जैसा उन्हें लगा, वैसा किया। हमारी साधना की क्षमता जैसे विकसित हो, नामो के पीछे हमे कोई अर्थ विशेष नही जोडना है। जैन सूत्रो मे, महावीर की वाणी मे, साधना की या योग की पद्धतिया विकसित नही हैं, यह जो आज विस्मृति हो गयी है और यह भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी है, उस विस्मृति और भ्रान्ति को निरस्त करने के लिए कुछ बार यह जैन साधना

पद्धति, जैन योग या आगमो का उल्लेख किया जाता है, अन्यथा इस बात मे कोई भेद दिखायी नही देता।

आचार्यश्री ने कहा—जिसका क्रम परिपक्व नही हो गया है, तब तक उसे किसी न किसी साधना पद्धति का आलम्बन लेना ही होगा। आगे चलकर उस पद्धति का नाम छूट जायेगा। उस सत्य पर वह चलता जायेगा। चलते-चलते जो भी पद्धति उसके मन मे बैठ गयी, वह उसे सही दिशा मे ले जायेगी। अब जैसे हमारे मुनि दुलीचदजी ने ध्यान की साधना की, उन्होने कोई विशेष लक्ष्य निर्धारित नही किया था। परन्तु चलते-चलते उनको एक रास्ता मिल गया था। यह क्रम तो होता ही है और इस क्रम मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। प्रारम्भ मे किसी न किसी रास्ते से चलना ही पडेगा, यह स्पष्ट मालूम होता है।

प्रश्न—साधना के मार्ग मे व्यक्ति का बौद्धिक होना आवश्यक है क्या ? हमारे वातावरण मे बौद्धिकता की जितनी प्रेरणा है, उतनी साधना की प्रेरणा है क्या ? क्या साधना का प्रशिक्षण अनिवार्य नही है ?

उत्तर—हमारी चेतना के अनेक स्तर है। स्तरीय विकास हमारा होता है। हम यह नही मान सकते कि बौद्धिकता आवश्यक नही है। बौद्धिक स्तर बहुत ज़रूरी है और साधना के मार्ग मे भी बौद्धिक स्तर बहुत ज़रूरी है। जिन साधको का बौद्धिक स्तर उन्नत होता है, उन्हे आध्यात्मिक साधना के अग्रिम तत्त्वो को पकडने मे बहुत सुविधा और सहजता होती है। जिनका बौद्धिक स्तर निम्न होता है, उन्हे विकसित होने मे कठिनाइया उत्पन्न होती हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जो बिना बौद्धिक स्तर के ही साधना के सिरे पर पहुच जाते हैं। पर यह विशेष स्थिति की बात सामान्य नही होती। आनुपातिक स्थिति मे बौद्धिक स्तर का होना भी बहुत ज़रूरी है और जिनका बौद्धिक स्तर अच्छा होता है, उन्हे बहुत बडी सुविधाए हो जाती हैं। ऐन्द्रिक स्तर, मानसिक स्तर और फिर बाद मे अतीन्द्रिय स्तर आता है। वह स्तर होना आवश्यक है।

अब प्रश्न है प्रशिक्षण का। यह बहुत आवश्यक है। यह ठीक है कि आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए बौद्धिक होना आवश्यक हो या न हो किन्तु बौद्धिक व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक होना बहुत ही आवश्यक है। और मुनि के लिए तो बहुत ही आवश्यक है। प्रशिक्षण की बात अपने आप मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। क्योकि हमारी बहुत सारी क्षमताए, जो हर व्यक्ति मे होती हैं, अर्जित होती हैं। ज्ञान के अभाव मे उन क्षमताओ का उपयोग हम नहीं कर पाते।

हमारे फेफडे मे लगभग छह हज़ार छिद्र होते हैं सास भरने के लिए, और एक फेफडे मे एक अरब वायु-कोष होते है। छह हजार छिद्र होते हैं, किन्तु प्राय. आदमी मुश्किल से हज़ार, डेढ हज़ार छिद्रो तक वायु पहुचा पाते हैं। साढे चार-पाच हज़ार छिद्र तो निकम्मे ही पडे रह जाते हैं। अगर फेफडे के सारे छिद्रो मे

प्राणवायु पहुचाई जा सके, तो न जाने चेतना कितनी विकसित हो जाये। अनुभव की क्षमता कितनी वढ जाये ? और वह कोई विलक्षण व्यक्ति हो जाये। किन्तु ऐसा क्यो नही होता ? स्पष्ट है कि ज्ञान के अभाव मे नही होता। एक अरव वायु कोषो मे वायु पहुचाना, फेफडे के छह हजार छिद्रो मे वायु पहुचाना वहुत वडी उपलव्धि है। जिन्हे ज्ञान होना है, वे थोडा-वहुत अधिक पहुचा पाते हैं। अन्यथा वहुत ही कम पहुचा पाते हैं।

हमारे मस्तिष्क मे कितने ज्ञान-ततु हैं ? कितने छिद्र हैं ? कितने प्रकोष्ठ हैं ? कई अरव, कई खरव कोष्ठ हमारे मस्तिष्क मे हैं। एक मानसशास्त्री ने वताया कि एक-एक ज्ञान-ततु को एक-एक कोष्ठ मे ऐसे पक्तिवद्ध किया जाये तो हिन्दुस्तान क्या, आज की दुनिया भर जायेगी। किन्तु उन कोष्ठो को, उन ज्ञान-ततुओ को एक प्रतिशत क्या, आधा प्रतिशत भी कोई विकसित नही कर पाता।

नया ज्ञान होता है साधना के द्वारा। नयी स्मृतिया जागती हैं। नये अनुभव आते हैं। कैसे आते हैं ? कोई-कोई कोष्ठ जाग जाता है तो लगता है कि वहुत वडी उपलव्धि हो गयी। कितना वडा चमत्कार हो जायेगा, सारे कोष्ठो को छोडकर, उनके चार आना हिस्से को भी हम जागृत कर दें तो ? हमारी क्षमताएं वहुत अद्भुत हैं। हमारे शरीर की क्षमताए, हमारे मानस की क्षमताएं, हमारे ज्ञान-ततुओ की क्षमताए इतनी भरी पडी हैं, किन्तु प्रशिक्षण के अभाव मे, ज्ञान के अभाव मे, हम ऐसा नही कर पाते।

प्रशिक्षण की वात वहुत महत्त्वपूर्ण है। मैं समझता हू कि हमारा यह जो क्रम शुरू हुआ है, आचार्यश्री ने यह जो शृखला शुरू की है यह शायद प्रशिक्षण के लिए ही शुरू की है या प्रशिक्षण की पृष्ठभूमि के रूप मे कि इससे प्रेरणा जागे, हमारी भावना वढे और हमारी भावना मे ऐसी जिज्ञासा, ऐसी प्यास जगे, कि जिस प्यास को वुझाने के लिए शायद प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी पडे। तो यह वात वहुत महत्त्वपूर्ण है, अत्यन्त अनिवार्य और नितान्त आवश्यक है।

आचार्यश्री ने कहा—प्रशिक्षण का जो परिणाम हमारे सामने आता है, यह प्रत्यक्ष है। अवकी वार इन चार-छह महीनो मे हमने प्रशिक्षण का थोडा क्रम चलाया। इसका परिणाम हमारे सामने कुछ इस रूप मे आया कि ऐसे व्यक्ति जो हमारे विरोधी थे, सतो के पास कभी आते नही थे, आना नही चाहते थे, वात करना नही चाहते थे, वे लोग साधना-प्रिय वन गये हैं और हमारी उपासक श्रेणी मे उनके नाम भी आ गये हैं। इसलिए मैं प्रशिक्षण को वहुत ही आवश्यक समझता हू और उसके सम्वन्ध मे हमे गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना पडेगा।

प्रश्न—पिछली गोष्ठी मे आपने विवेक प्रतिमा की चर्चा की। वह विवेक क्या है ?

उत्तर—विवेक का अर्थ है—दो चीजो को अलग करना, तोडना। जो मिला

हुआ है उसे विभक्त करते चले जाना। यही हमारी सारी साधना पद्धति का, आदि से अन्त तक, महत्त्वपूर्ण अग है। विवेक से चलना है और विवेक तक पहुचना है। शरीर, मन, भाषा, श्वास, सूक्ष्म शरीर और सस्कार, इन सबका विवेक करना है, इन सबको छोड देना है। विवेक मे छोडने की इतनी बातें आती है। जो हमारे स्थूल व्यक्तित्व का निर्माण करती है, उन सबको छोड देना है। यह है हमारे विवेक की बात। अब प्रश्न होता है कि विवेक कैसे करें ? विवेक का पहला बिन्दु होता है—सम्यग् दर्शन या अन्तर्दृष्टि का निर्माण। अन्तर्दृष्टि के निर्माण का नाम है विवेक। इससे हमारी यह दृष्टि सुदृढ हो जाती है कि शरीर हमारा अस्तित्व नही है। जो शरीर है, वह हम नही हैं। शरीर हमारे अस्तित्व से भिन्न वस्तु है। शरीर और अस्तित्व की भिन्नता का जो बोध होता है, वह सम्यग्-दर्शन है।

अब प्रश्न होता है कि विवेक की साधना कैसे हो ? श्वास की साधना की मैंने जो चर्चा की, वह विवेक की साधना का पहला बिन्दु है। जो व्यक्ति श्वास की साधना करने लग जाता है, वह श्वास की साधना करते-करते उस स्थिति मे पहुच जाता है कि शरीर अलग पडा है और मैं कही अलग पडा हूं। आप श्वास को होठ पर, नाक के नीचे देखें और मन को केन्द्रित करें। आधा घटा, एक घटा, दो घटा, समय लगाते चलिए एक साथ मे, और कुछ भी नही करना है, जप-ध्यान आदि भी नही करना है, माला नही फेरनी है, केवल श्वास पर मन को केन्द्रित करना है। आपको ऐसा लगेगा कि कोई चीज़ अलग हो रही है और मैं अलग हो रहा हू। लम्बे समय के अनुभव के बाद यह बात स्पष्ट हो जाती है। हमारी आत्मा और हमारा स्थूल व्यक्तित्व—इन दोनो को जोडने वाला है श्वास। मन चला जाता है, वाणी चली जाती है, स्थूल शरीर चला जाता है, फिर क्या रहता है ? श्वास।

योगी उच्च भूमिका मे पहले मन का निरोध करता है, फिर वचन का और फिर काया का। तीनो निरुद्ध हो जाते हैं, फिर शेष क्या बचता है ? श्वास। आत्मा और शरीर, इनको जोडनेवाली जो शृखला है, दोनो का माध्यम है, वह है श्वास। श्वास को यदि हम ठीक तरह से समझ लेते हैं तो आत्मा को अलग और स्थूल शरीर को अलग, दोनो को अलग कर सकते हैं।

कुछ लोग स्वाध्याय भी नही करते और कुछ भी नही करते। उनके लिए एक सीधा-सा आलम्बन है। वे केवल श्वास पर ध्यान टिकाए। उन्हे कुछ ही दिनो मे आभास होने लग जायेगा कि शरीर हल्का हो रहा है, आकाश मे उड रहा है और कोई चीज़ उडती चली जा रही है। यह थी हमारी विवेक प्रतिमा जो कि पुरानी पद्धति थी। रात्रिकाल मे बारह बजे के बाद विवेक प्रतिमा स्वीकार की जाती थी और सूर्योदय तक वह प्रतिमा चलती थी। उसमे कायोत्सर्ग के साथ विवेक की प्रतिमा स्वीकार होती थी और अपने अस्तित्व की और स्थूल शरीर की भिन्नता की स्पष्ट प्रतीति हो जाती थी।

३

शरीर-दर्शन

- शरीर के ऊर्ध्वभाग को देखना।
- शरीर के मध्यभाग को देखना।
- शरीर के अधोभाग को देखना।
- शरीर-दर्शन के फलित—
    - अनासक्ति का विकास।
    - तनाव-विसर्जन।
    - मन की स्थिरता।



हमारा प्रस्तुत विषय है—चेतना का ऊर्ध्वारोहण। चेतना के ऊर्ध्वारोहण के लिए श्वास, शरीर और मन को समझना बहुत जरूरी है। उन्हे समझे विना चेतना के ऊर्ध्वारोहण की वात समझ मे नही आ सकती। श्वास के वारे मे कुछ वातें चर्चित की। आज शरीर के वारे मे कुछ वातें करनी हैं। हमारा शरीर एक आयतन है श्वास का, इन्द्रियो का, मन का और चेतना का। उस विशाल आयतन के वारे मे हमे कुछ जानना है। शरीर-दर्शन के अनेक दृष्टिकोण हैं। एक व्यक्ति कामुक है, वह शरीर को देखता है। वह रग-रूप को देखता है, आकार को देखता है और सगठन को देखता है। उसका एक अपना दृष्टिकोण है। एक डॉक्टर है, वह शरीर को देखता है, उसका भी अपना एक दृष्टिकोण है। देखता वह भी है और शरीर के एक-एक अवयव को देखता है। एक साधक है, वह भी शरीर को देखता है, जानता है, उसका भी अपना एक दृष्टिकोण है। एक ही दृश्य अनेक दृष्टिकोणो से देखा जाता है। देखनेवालो के दृष्टिकोण भिन्न होते हैं, दृश्य एक होता है। और

अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार सबको दिखाई देता है।

एक व्यक्ति टॉलस्टाय के पास आया और एक अमीर की बहुत निन्दा करने लगा। काफी निन्दा की। जी भरकर उसे कोसा और गालिया दी। टॉलस्टाय ने कहा, "मैं तुम्हे एक कहानी सुनाता हूं। एक चोर था। चोरी करने गया। रात मे काफी घूमा। किन्तु कही चोरी का अवसर नही मिला। लोग जाग रहे थे। मौका मिला नही। और आप जानते हैं कि चोरी वहा होती है, जहा नीद होती है। जहा जागरण होता है, वहा चोरी नही होती। लोग काफी जाग रहे थे। चोर चोरी नही कर सका। घूमता रहा, घूमता रहा और घूमते-घूमते थक गया। किन्तु चोरी करने का मौका नही मिला। काफी थकान के बाद, गाव के बाहर गया और एक पेड के नीचे जाकर लेट गया। रातभर का जागा हुआ था। काफी गहरी नीद आ गयी। सूरज निकल गया, फिर भी उठा नही।

जब सूरज निकला तो लोग घूमने लगे। एक शराबी उधर से निकला। शराबी ने देखा कि एक आदमी पेड के नीचे सो रहा है। उसने घूमकर देखा और देखने के बाद बोला—'देखो! कितना बडा शराबी है! कितनी शराब पी है! नशे मे कितना धुत्त है कि सूरज निकल गया किन्तु नशा अभी तक नही उतरा। पागल कही का! अभी सो रहा है!' प्रतिक्रिया कर चला गया।

थोडी देर मे एक दूसरा आदमी आया। वह था जुआरी। उसने देखकर कहा, 'लगता है कि जुए मे दाव हार गया। रातभर जुआ खेला और हार गया। थका-मादा सो रहा है। पहले खेला ही क्यो? और खेला तो दाव को ठीक से क्यो नही खेला? बेवकूफ कही का! अभी सो रहा है।' प्रतिक्रिया कर चला गया।

थोडी देर बाद तीसरा व्यक्ति आया। वह था चोर। उसने सोचा, 'सो रहा है, लगता है कि जैसे आज रात्रि मे मैं असफल रहा हू। यह भी मेरा कोई भाई है। असफलता के कारण निराश होकर लेट रहा है।' प्रतिक्रिया कर चला गया।

थोडी देर बाद एक व्यक्ति आया। वह था योगी। उसने देखा, 'ओह! कितनी मस्ती मे सो रहा है! कितना निश्चिन्त है! कोई चिन्ता नही है। लगता है कि बहुत पहुचा हुआ आदमी है, ऐसे ही लेट गया। न कोई बिछौने की अपेक्षा, न और किसी बात की अपेक्षा। ऐसे ही भूतल पर सो रहा है। और लगता है कि बहुत ही पहुचा हुआ व्यक्ति है। नमस्कार करना चाहिए ऐसे व्यक्ति को।' नमस्कार करके चला गया।"

एक था दृश्य और अनेक थे दृष्टिकोण। एक ही दृश्य पर अनेक व्यक्तियो ने अनेक दृष्टिकोणो से अपनी प्रतिक्रियाए व्यक्त की और उसे देखा। यह बहुत बडा सत्य है। एक दृश्य को हम अनेक दृष्टिकोणो से देखते हैं। शरीर एक दृश्य है। उसे भी अनेक दृष्टिकोणो से देखा जाता है। एक सौन्दर्य की दृष्टि से जो कि स्थूल दृष्टि है। स्थूल दर्शन मे पहले शरीर हमारे सामने आता है। दूसरा डॉक्टर का

एक सूक्ष्म दर्शन है। वह ऊपर के रंग, आकार, प्रकार को नही देखता, वह रचना को देखता है। वह सघटना को देखता है और वह देखता है अपनी उपयोगिता की दृष्टि से। तीसरा दृष्टिकोण है साधक का। वह शरीर का सूक्ष्मतम दर्शन है। जो डॉक्टर भी नही देख पाए है, वह चीज देखता है साधक। हमारे शरीर मे साधना के इतने कोण हैं, साधना के इतने तथ्य हैं और साधना की इतनी चाविया हैं कि अगर हम उन्हे घुमाना जानें तो वहुत कुछ पा सकते हैं।

मुझे स्थूल दर्शन के वारे मे कुछ नही कहना है। और सूक्ष्म दर्शन के वारे मे, जो डॉक्टरी दृष्टिकोण है, उसके वारे मे भी आज नही कहना है। वह भी जानना वहुत आवश्यक है पर अभी कुछ नही कहना है। मुझे आज तीसरी दृष्टि से शरीर को देखना है। साधना की दृष्टि से शरीर को देखना है। शरीर साधना की दृष्टि से हमारे लिए कितना उपयोगी है, इस पर इतना वल क्यो ? वह इसलिए कि हमारे मन की शक्ति, हमारी इन्द्रियो की शक्ति या हमारी सारी शक्ति का केन्द्र है शरीर।

आप जानते हैं कि हमारे पास मन है। पर मन कहा से आया ? हमारे पास वाणी है। वाणी कहा से आयी ? कोई भी जैन-दर्शन को जाननेवाला यह जानता है कि मन का कोई अस्तित्व नही है। वाणी का कोई अस्तित्व नही है। अस्तित्व है एकमात्र शरीर का। एक प्रकार से मन और वाणी, ये शरीर के ही उपभेद हैं, मूल नही हैं। एक योग है—काया। योग तीन नही हैं। योग एक है—काया। काया का योग है। मन और वचन—ये दोनो वनते हैं काया के द्वारा। जो भी मन के लिए पुद्‌गल चाहिए, सामग्री चाहिए उस सामग्री का आकर्षण होता है काया के द्वारा। जो वचन के लिए चाहिए, उसका आकर्षण होता है काया के द्वारा। मन्यमान मन होता है। मनन से पहले मन नही होता और मनन के वाद मे मन नही होता। भाष्यमाणा भाषा होती है। वोलने के वाद भाषा नही होती और वोलने से पहले भाषा नही होती। भाषा और मन—दोनो का अस्तित्व शरीर पर निर्भर है, काया पर निर्भर है, काययोग पर निर्भर है। मूलत प्रवृत्ति है काया की।

जीव शरीर को उत्पन्न करता है। शरीर वीर्य को उत्पन्न करता है, और वीर्य मन, वचन और काया की हलन-चलन को उत्पन्न करता है। मूलत अस्तित्व है शरीर का। सारी शक्ति का केन्द्र, सारी शक्ति का अधिष्ठान और सारी शक्ति का आयतन या हमारी आत्मा की जितनी भी अभिव्यक्ति है, उस सारी अभिव्यक्ति का जो एक चक्र है, वह है शरीर।

पॉवरहाउस मे जेनरेटर विद्युत् को उत्पन्न करता है। शरीर हमारी सारी शक्ति का जेनरेटर है, उत्पादक यन्त्र है, विद्युत्-यन्त्र है जो कि सारी विद्युत् को उत्पन्न करता है। और फिर वह यहा से प्रवाहित होती रहती है।

हमने इस दृष्टि से शरीर को नही देखा। और देखें तो बहुत अद्‌भुत चीज़ें हमारे शरीर मे विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए, हम रीढ की हड्डी के विषय मे कुछ समझें। शरीरशास्त्र की दृष्टि से बहुत बडा महत्त्व है उसका। किन्तु साधना की दृष्टि से उसका और अधिक महत्त्व है।

हमारे श्वास की तीन प्रणालिया हैं। एक बायी ओर, एक दायी ओर और एक मध्य मे। बायी ओर की प्रणाली को चन्द्रस्वर या इटा, दायी ओर की प्रणाली को सूर्यस्वर या पिंगला कहते हैं। एक है मध्यवर्ती प्राण की धारा। इसे कहते है सुषुम्ना। यह सुषुम्ना हमारे शरीर मे ठीक वैसे ही है, जैसे एक ट्यूब की नली होती है। नली की भाति पोली। यह रीढ की हड्डी बिलकुल पोली है। ट्यूब की तरह है। और उस ट्यूब मे जो पोल है वह है सुषुम्ना। उसमे से प्राण का जो प्रवाह प्रवाहित होता है, वह सचमुच ज्ञान-तन्तुओ को जाग्रत करता है, प्रतिभा को जाग्रत करता है और चेतना को ऊर्ध्वगामी बनाता है।

भगवान महावीर ध्यान करते, तब ऊचा देखते थे, मध्य मे देखते थे और नीचे देखते थे। ऊचा लोक, मध्य लोक और नीचा लोक। यह क्या है ? हम इस लोक की बात छोडें। यह हमारा शरीर है। शरीर के तीन भाग हैं

१ ऊर्ध्वभाग।
२ मध्यभाग।
३. अधोभाग।

यह विभाग होता है नाभि से। नाभि है मध्यलोक। नाभि के ऊपर का हिस्सा है ऊर्ध्वलोक और नाभि के नीचे का हिस्सा है अधोलोक। ये तीन लोक है हमारे। इन तीन लोको का दर्शन जो कर लेता है, वह सचमुच साधक बन जाता है। नाभि के नीचे कामकेन्द्र है, और उसके ऊपर ज्ञानकेन्द्र। हमारे प्राण की धारा नीचे की ओर जाती है तब चेतना का अधोव्रतरण हो जाता है। जब हम प्राण की धारा को ऊपर की ओर ले जाते हैं तब चेतना का ऊर्ध्वारोहण हो जाता है। चेतना ऊपर की ओर चली जाती है। नीचे ले जाना या ऊपर ले जाना, यह हमारी इच्छा, हमारी सकल्पशक्ति और हमारे ज्ञान पर निर्भर है। जो ऊचे लोक को जानता है, यानी जो हृदय चक्र को जानता है, जो विशुद्धि चक्र को जानता है, जो आज्ञा चक्र को जानता है, जो सूर्य चक्र को जानता है वह अपनी चेतना को ऊपर की ओर ले जाता है।

चेतना को ऊपर की ओर ले जाने के लिए शरीर की रचना को उस दृष्टि से देखना है कि हमारे ज्ञान के केन्द्र कहा है ? ज्ञान की ग्रन्थिया कहा हैं ? आप यह न समझें कि सारे शरीर मे ज्ञान के केन्द्र है। यह ठीक बात है कि आत्मा सारे शरीर मे व्याप्त है। और चेतना के ऊर्ध्वारोहण का या साधना का बहुत बडा सूत्र है, आत्मदर्शन। आचार्य योगीन्दु ने कहा है—जहा कही देखता हू आत्मा ही आत्मा

दिखायी देती है। यह एक बहुत बडा सूत्र है। पैर को देखता हूं तो मुझे आत्मा दिखायी देती है, सिर को देखता हू तो मुझे आत्मा दिखायी देती है, कहीं भी देखता हू, मुझे आत्मा दिखायी देती है। यह यत्र-तत्र आत्मा का दर्शन करना, जहा कही भी आत्मा को देखना और शरीर के अणु-अणु मे आत्मा को देखना, यह आत्मदर्शन का दृष्टिकोण सचमुच ऊर्ध्वारोहण का दृष्टिकोण है। जिस व्यक्ति मे यह बात प्राप्त हो जाती है कि वह हर जगह आत्मा को देखने लग जाता है, वही आदमी सम्यक्‌द्रष्टा बन जाता है। उसे भेद-ज्ञान प्राप्त हो जाता है और विवेक की साधना जागृत हो जाती है। यह है विवेक की साधना।

प्रश्न था कि विवेक प्रतिमा क्या है? यह है विवेक की साधना। शरीर के अणु-अणु मे आत्मा का दर्शन करना—यह है विवेक प्रतिमा। जो दिखायी दे रहा है, उसमे आप गहराई से देखें तो ऐसा लगेगा कि कुछ स्पन्दन-सा हो रहा है। अन्दर से ज्योति का-सा आभास हो रहा है। यह हमारे देखने का अर्थ है, यह हमारी देखने की क्रिया है। अगर हम ठीक से देखने का प्रयत्न करें तो शरीर के भीतर कुछ और ही दिखायी देगा। अगर यह बात ठीक से हमारी समझ मे आ जाये तो शरीर के भीतर की सारी क्रियाए हमे ज्ञात हो जाएगी।

यह आत्मदर्शन शब्द हमे साधारण-सा लगता है। किन्तु यह असाधारण है। यह रूढ हो गया, इसलिए इसका मूल्य हम नही आक रहे हैं। किन्तु वास्तव मे इस शब्द के पीछे कितनी भावनाए है, गहरी भावनाए निहित हैं, इसका उद्‌घाटन करने पर ही ज्ञात हो सकता है।

भगवान् महावीर ने कहा, "आत्मा को आत्मा से जानो। आत्मा को आत्मा से देखो।' ये दो सूचनाए बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। हम आत्मा को आत्मा से नही जानते। हम जान रहे हैं दूसरो के शब्दो के आधार पर। हम आत्मा को आत्मा से नही देख रहे हैं। देख रहे है दूसरो के इगितो के आधार पर। यदि वास्तव मे आत्मा को आत्मा से जाना जाए, अपने अनुभव से जाना जाए और ध्यान की गहराइयो मे पैठकर जाना जाए तो आत्मा का वह ज्ञान होता है जो हजारो शास्त्रो के द्वारा नही हो सकता। यदि हम आत्मा को आत्मा के द्वारा देखे, आत्मा की चेतना की गहराई मे पैठकर देखें तो आत्मा का वह दर्शन होगा जो दूसरो के इगितो पर नही हो सकता।

आत्मदर्शन शाब्दिक दर्शन नही है। वह चेतना के उन स्तरो का दर्शन है जो हमारी इन्द्रियो और मन से अतीत हैं। हम देखते है शरीर को और शरीर की क्रिया को। आत्मा का दर्शन हमे सहज सुलभ नही है। हम देखते हैं सस्कारो को। जितनी धारणाए और सस्कार निर्मित है, उन्ही को देखते हैं और उन्ही के द्वारा देखने हैं। इन्द्रियों के द्वारा देखते हैं और मन के द्वारा भी देखने का प्रयत्न करने हैं। किन्तु सस्कार, इन्द्रिया और मन—ये सब-के-सब उस दर्शन मे बाधक बनते

है जो कि आत्मा का दर्शन है। वह दर्शन तब हो सकता है जबकि हम सस्कार से अतीत हो, इन्द्रियो से अतीत हो। इन सबके पार, उस क्षितिज के पार जो दर्शन है, वह आत्मा का दर्शन है, वह चेतना का दर्शन है और वह हमारी आन्तरिक सहजता, निर्मलता और स्वच्छता का दर्शन है।

मण्डितपुत्र ने भगवान् महावीर से पूछा—'भन्ते ! सस्कारो का निर्माण क्यो होता है ? और कैसे होता है ?' भगवान ने कहा—'सस्कार का निर्माण सस्कार के निमित्त मे होता है। और होता है क्रिया से। प्राणी मे कम्पन और स्पदन होता है। कम्पन के विना कोई भी सस्कार निर्मित नही होता। कम्पन की अनेक क्रियाए होती हैं, तब उसके बाद सस्कार निर्मित होता है, परिणति होती है और अमुक-अमुक भाव का परिणमन होता है।

जो अकम्पित है, जिसमे कम्पन नही है, स्पदन नही है, उसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता। परिवर्तन या परिणमन का मूल है कम्पन, क्रिया। अक्रिया मे कोई भी परिवर्तन नही हो सकता। सारा का सारा परिवर्तन क्रिया मे होता है, क्रियाशील मे होता है और क्रियाशील के द्वारा होता है। मनुष्य क्रिया करता है तब कम्पन होता है। क्रिया का मूल आधार शरीर है। यदि शरीर नहीं है तो कोई भी क्रिया नही हो सकती। यदि शरीर की क्रिया नही है तो कोई भी क्रिया नही हो सकती। शरीर की क्रिया जितनी तीव्र होगी, कम्पन उतना ही तीव्र होगा। और सस्कार का निर्माण भी उतना ही तीव्र होगा। शरीर को स्थिर और शान्त करने का मूल्य यही तो है, वह जितना ही स्थिर और शान्त होता है, उसके द्वारा होने वाली सारी क्रियाए, फिर वे वाणी की हो, मन की हो या श्वास की हो, शान्त हो जाती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा, क्रिया के द्वारा सस्कार का निर्माण होता है, अक्रिया के द्वारा नही होता। सस्कार का विलय उसी स्थिति मे होता है जब क्रिया बन्द हो जाती है।

हमारा शरीर आस्रव है, दरवाज़ा है। दरवाज़ा खुला है, तभी हम इतने लोग एकत्रित हो गये। यदि दरवाज़ा खुला नही होता, हम इतने लोग एकत्र नही हो पाते। दरवाज़ा खुला होता है, तब कुछ भी आ सकता है, मनुष्य भी आ सकता है, पशु भी आ सकता है, आधी भी आ सकती है, धूल भी आ सकती है और हवा भी आ सकती है। दरवाज़ा बन्द होता है तो कुछ भी नही आ सकता। हमारा शरीर एक दरवाज़ा है, आस्रव है। नौका पानी मे तैर रही है। छेद हो गये। नौका मे पानी भर गया, वह डूबने लगी। नौका क्यो डूबने लगी ? क्योकि वह सास्रव हो गयी, आस्रव-सहित हो गयी। छेद हुआ कि पानी आ गया। और पानी आ गया तो वह भारी हो गयी। और भारी हुई कि डूबने लगी। उस समय यदि कुशल कर्णधार होता है, कुशल नाविक होता है, वह सबसे पहले उन छेदों को भरने की कोशिश करता है। छेदो को भर देता है। पानी आना बन्द हो जाता है। और जो

पानी भीतर आ गया है, उसे उलीचकर फेंक देता है। नौका तैरने लग जाती है।

यह शरीर नौका है। यह डूबने भी लगता है और तैरने भी लगता है। जब इसके सारे छिद्र खुल जाते हैं, आस्रव के मुख चौडे हो जाते हैं, तो बाहर से इतना आता है, इतना आता है कि वह डूबने लग जाता है। यह डूबना नौका का डूबना नही है। यह डूबना उन आस्रवो और छिद्रो का डूबना है। और वे साथ-साथ नौका को भी डुबो देते हैं। इन शरीर के छिद्रो को ढकना, आस्रवो को अनास्रव करना, छेदो को बन्द करना, यह हमारी साधना की प्रक्रिया है।

छेद वाली नौका डूबती है और बिना छेद की नौका तैर जाती है। छिद्र वाला शरीर, बाहर से सब कुछ लेने वाला शरीर डूबता है और बाहर से सवरण करने वाला निश्छिद्र शरीर तैर जाता है। जब शरीर की क्रिया सूक्ष्म और स्थिर होती है, उस समय ध्यान की स्थिति निष्पन्न होती है। मन स्थिर होता है, शान्त होता है, तब तीव्र ध्यान होता है। शरीर के स्थिर होने से ऊर्जा और उष्मा बढ जाती है, ध्यान की शक्ति बहुत बढ जाती है और अर्जित सस्कारो को नष्ट करने की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

मण्डितपुत्र के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने बताया, 'देखो, आग जल रही है और उस आग मे कोई आदमी पूला डाल रहा है। क्या होगा ?' 'भते ! जल जाएगा।' 'गर्म तवा है। कोई आदमी उस पर जल-बिन्दु डालता है, उनका क्या होगा ?' 'भते ! सूख जाएगे।' अग्नि घास के पूले को जला डालती है और गर्म तवा जल-बिन्दुओ को सोख लेता है। इस अप्रकम्प-अवस्था मे, शरीर की स्थिर अवस्था मे, छिद्रो को रोक देने की अवस्था मे, शरीर मे वह स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि वह सस्कारो को जला डालता है।

यह सब शरीर की स्थिरता होने पर होता है। शरीर की स्थिरता के बिना ऐसा हो नही सकता। इसीलिए सबसे पहले शरीर की स्थिरता पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। क्योकि जो मूल है, अगर उस पर हमारा ध्यान केन्द्रित नही होगा तो ऊपर की चीजो पर ध्यान केन्द्रित करने से क्या लाभ होगा ?

एक सन्यासी जा रहा था। जगल मे एक बेल को देखा। कभी देखा नही था पहले। पत्ता तोडा, खाया तो कडवा लगा। फूल को चखा तो कडवा लगा। फल खाया तो कडवा। उसने सोचा यह क्या ? सब कडवा ही कडवा। फिर मूल को उखाडा और उसे चखा तो वह भी कडवा। तब बोला—अरे ! पत्ते का क्या दोष ? फूल और फल का क्या दोष ? जब मूल ही कडवा है तब पत्ते, फूल और फल कैसे कड़वे नही होंगे ? जब हमारा मूल ही कडवा है, शरीर ही कडवा है, तो उस पर मधुर फल कहा से लगेंगे ? शरीर मूल है। मन और वाणी उसके पत्ते, फल और फूल हैं। जब शरीर की कडवाहट नही मिटी है तो उनकी कडवाहट कैसे मिटेगी ? शरीर यदि चचल है तो वे स्थिर कैसे होगे ? यह कल्पना भी हमे

नही करनी चाहिए कि शरीर की चचलता मे हमारा श्वास, हमारी वाणी और हमारा मन शान्त और स्थिर हो जाएगा।

बौद्धो ने शरीर की स्थिरता के लिए 'कायविपस्यना' का एक मार्ग प्रस्तुत किया है। क्योकि जब तक काया के प्रति, शरीर के प्रति हमारा ममत्व और हमारी आसक्ति बनी रहेगी, तब तक स्थिरता नही आ सकती। काया को स्थिर, शात तो बनाना चाहते हैं किंतु आसक्ति और ममत्व के रहते हुए, वह स्थिर कैसे होगी ? हो नही सकती। उन्होने एक पद्धति प्रस्तुत की। काया को देखो, काया का दर्शन करो। वे अपने साधको को मुर्दों के पास ले जाते और उन्हे दिखाते। देखो, यह मास है, यह शोणित है, यह मज्जा है। जैसे डॉक्टर अपने विद्यार्थी को सारी चीजे एक-एक कर समझाता और सिखाता है, वैसे ही वे अपने नये साधको को सारी चीजें बताते और समझाते। और फिर उनसे पूछा जाता, इस बात का अनुभव कराया जाता, कि कहो, इस शरीर मे सार कहा है ? और सार क्या है ?

इस प्रकार शरीर-दर्शन के द्वारा शरीर के प्रति अनासक्ति आ जाती। जैन साधक अशौच भावना के द्वारा शरीर के प्रति अनासक्त रहने का अभ्यास कराते थे। महाराज श्रेणिक और महारानी धारिणी ने मेघकुमार से कहा—तुम प्रव्रजित नही हो सकते। मेघकुमार ने उत्तर दिया—क्या मैं इस शरीर के आधार पर यहा बना रहू ? मेरे शरीर की स्थिति क्या है ? यह पित्त का आस्रव है, वमन का आस्रव है, शुक्र का आस्रव है, श्लेष्म का आस्रव है, दुनिया भर मे जितने अशुद्ध पदार्थ होते हैं, उनका आस्रव है। एक दिन नष्ट हो जाने वाला है। कुछ दिन पहले या कुछ दिन पीछे अवश्य ही चला जाने वाला है। क्या इस शरीर के आधार पर मैं अपनी शाश्वत की साधना को ठुकरा दू ?

जिस व्यक्ति को शरीर की वास्तविकता का बोध हो जाता है, वह उसमे आसक्त नही होता। वह उस मार्ग मे नही आता जो तनाव पैदा करता है, जो कठिनाइया पैदा करता है और जो चचलता को उत्पन्न करता है। किंतु शरीर को उस ओर जाने का साधन बना देता है जो शरीर की आसक्ति को विसर्जित करने का मार्ग है। और जैसे ही शरीर की आसक्ति और उसका ममत्व विसर्जित हो जाता है, शरीर स्वय विसर्जित हो जाता है। वह शरीर विसर्जित हो जाता है जो हमारी मानसिक स्थिरता मे और मानसिक स्थिरता की दिशा मे बाधक बनता है। शरीर रहता है। वह बेचारा क्या बिगाडता है। शरीर रहने मे कोई कठिनाई नही है। हमे शरीर को छोडना इस अर्थ मे नही है कि वह मर जाये। किंतु शरीर को छोडना इस अर्थ मे है कि वह हमारी चचलता को समाप्त कर दे। चचलता की ओर हमे न ले जाये। आसक्ति जैसे ही छूटी, वैसे ही उस शरीर की मृत्यु हो गई जो शरीर हमे चचल बना रहा था।

तनाव कल्पना से पैदा होता है और कल्पना पैदा होती है ममत्व से या

आसक्ति से। जव हम श्रम करते हैं, काम करते हैं, उसके वाद अशेप की अनुभूति होती है। कुछ भी करना शेप नही है, इसकी अनुभूति ही नही है तव मन हल्का हो जाता है। शरीर हल्का हो जाता है। और इस कल्पना के साथ-साथ समाप्त करते हैं कि वहुत वाकी है तो यह शेष की अनुभूति हमारे मस्तिष्क पर, हमारे मन पर इतना वोझ डाल देती है कि हमारी काम करने की क्षमता भी कम हो जाती है। यह अशेष की अनुभूति ममत्व का विसर्जन है, तनाव का विसर्जन है और शरीर की स्थिरता का वहुत वडा हेतु है। यह जो शेप की अनुभूति है, वह सारा-का-सारा वोझ हमारे पर डालती है।

रावण ने मरते समय कहा था कि मेरे मन मे तीन काम करने की वात शेष है। दुनिया का कौन-सा व्यक्ति ऐसा हुआ है, जिसने मरते समय शेप की अनुभूति न की हो। मरते समय यदि किसी व्यक्ति ने शेप की अनुभूति नही की या जीते-जी किसी ने शेप की अनुभूति नही की और हर पल अशेप की अनुभूति करता रहा, यानी मुझे कुछ भी करना शेप नही है, जो वर्तमान क्षण मे प्राप्त है वह हो रहा है, अगले क्षण के लिए कुछ भी शेप नही है—यह अनुभूति यदि किसी व्यक्ति ने की है तो उस व्यक्ति ने की है, जिसने ममत्व को त्याग दिया, आसक्ति को त्याग दिया और शरीर के प्रति वेलगाव हो गया।

इन सारे दृष्टिकोणो को ध्यान मे रखकर यदि हम शरीर पर विचार करते हैं तो इस स्थिति पर पहुचते हैं कि शरीर की क्रिया और अक्रिया पर हमारे मन की क्रिया और अक्रिया, मन की चचलता और स्थिरता निर्भर है। इसलिए हम शरीर को गौणता नही दे सकते। शरीर के मूल्य को कम नही कर सकते। साधना के क्षेत्र मे उसका मूल्य हमे आकना है। जो व्यक्ति साधना के क्षेत्र मे गति करना चाहता है, अग्रसर होना चाहता है और वह यदि शरीर का सही मूल्याकन करना नही चाहता, तो वह साधना की प्रतिकूल दिशा मे प्रयाण कर रहा है।

प्रश्न समाधान

प्रश्न—आपने अभी वताया कि काया स्थिर होने पर मन स्थिर हो जाता है और काया चचल होने पर मन चचल हो जाता है। परतु ध्यान मे शरीर तो स्थिर रहता है, फिर भी मन चचल रहता है। भजन, कीर्तन, जप आदि करते समय शरीर तो चंचल रहता है, फिर भी मन स्थिर हो जाता है। इस दृष्टि से यह सगत कैसे होगा ?

उत्तर—हमने मन को अकारण ही अपराधी वना रखा है। चचलता के मामले मे मन का उतना दोप नही है, उतना अपराध नहीं है जितना कि हमने मान रखा है। मन वेचारा वाहक है। वह तो अभिव्यक्ति का साधन है। हमारे सामने वल्व है। विद्युत्धारा आती है और वह वल्व उसे प्रकट कर देता है। वल्व

विद्युत् को पैदा नही करता, वह उसे प्रकट करता है। मन चचलता को पैदा नही करता, वह उसे प्रकट करता है। चचलता मन की नही है और मन मे नही है। वह है स्मृति की और सस्कार की। स्मृति हमारे मस्तिष्क के कोष्ठो मे सचित है। हमारे स्मृतिकोष उत्तेजित होते हैं, स्मृतिया जागृत होती हैं, उन्हे अभिव्यक्ति मन देता है, इसीलिए हम सारा दोष मन पर मढ देते हैं। किंतु वास्तव मे चचलता होने मे मन का दोष क्या है ? चचलता इसीलिए हो रही है कि हमारी काया की स्थिति ठीक नही है। यदि हम सस्कारो को अर्जित न करें, स्मृतियो को अर्जित न करें, और एक धारा की भाति जैसे कि वे हमारे भीतर आए और बहकर दूसरी ओर चली जाए तो मन चचल नही होगा। शरीर के स्थिर होने पर मन चचल होता है, उसे समझने मे शायद हमारी भूल हो सकती है। शरीर की स्थिरता सधी या नही सधी, यह जानना भी कुछ सरल नही है। हम स्थिरता की मुद्रा मे बैठ जाए, यह एक बात है किंतु जब तक मन का शरीर से योग नही होता, शब्द और विकल्प का मन से वियोग नही होता, वियोजन नही होता, सयोजन बना रहता है, तब तक स्थिरता सधती नही है। शरीर की स्थिरता के लिए ज़रूरी है कि जैसे उसमे गति न हो, वैसे ही उसमे आसक्ति का वेग भी न हो। यदि आसक्ति का धागा खिचा हुआ रहता है, ममत्व की रस्सी से हम उसे खीचते रहते हैं तो शरीर की स्थिरता निष्पन्न नही होती, शरीर का विसर्जन सही अर्थ मे फलित नही होता। हमे इस बात को समझना ज़रूरी है कि शरीर की अप्रकम्पता कैसे निष्पन्न हो ? उसकी निष्पत्ति के लिए शारीरिक अवयवो को निर्देश देना बहुत ज़रूरी है। आप सोचें कि शरीर के अवयवो को निर्देश देने से क्या होगा ? क्या वे हमारा निर्देश मानेंगे ? मनोविज्ञान के क्षेत्र मे ऐसा हो रहा है। आज यह कोरी कल्पना की बात नही। प्रयोग-भूमि पर सारा उतर रहा है। हम जिस अवयव को निर्देश देते हैं, वह हमारा निर्देश मानने लग जाता है। कोष्ठबद्धता की स्थिति मे जो लोग आदेश नही किंतु प्रेमपूर्वक अपनी आतो को निर्देश देते हैं, उनके उत्सर्ग की क्रिया ठीक होने लग जाती है। दूसरे-दूसरे अवयवो मे ऐसा घटित होता है। आप जानना चाहेगे कि ऐसा क्यो होता है ?

इसका एक कारण है। भगवान् महावीर से पूछा गया—भन्ते ! हमारा मन सजीव है या निर्जीव ? चेतन है या अचेतन ?

भगवान् ने कहा—मन जीव नही, अजीव है। मन चेतन नही, अचेतन है। वाणी के बारे मे पूछा तो भगवान् ने वही कहा, वाणी अजीव है और अचेतन है। जब काया के बारे मे पूछा तो भगवान् ने कहा—काया सजीव भी है और निर्जीव भी है, काया चेतन भी है और अचेतन भी है। काया चेतन कैसे ? वह पौद्गलिक है। पुद्गलो का, परमाणुओ का एक सघात है। फिर सजीव कैसे ? चेतन कैसे ?

किन्तु इसमे गहरा अर्थ है। काया का हमारी चेतना से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध

है कि शरीर के अणु-अणु मे चेतना व्याप्त है। चेतना के विना काया की प्रवृत्ति नही होती और काया के विना चेतना की अभिव्यक्ति नही होती। अभिव्यक्ति का मवसे वडा और पहला साधन है शरीर। इस निकटता के कारण, इस तादात्म्य जैसी स्थिति के कारण शरीर को चेतन भी वतलाया है। जहा चेतना का प्रवेश है, अणु-अणु मे चेतना व्याप्त है तो जो निर्देश हम काया को देते हैं, वह काया को नही, हमारी चेतना को निर्देश प्राप्त होता है और चैतन्यमय अणु-अणु जो हैं, वे हमारे निर्देश को स्वीकार करते हैं, मान लेते है और हम जिस ओर ले जाना चाहते हैं, उस ओर जाने को तैयार हो जाते हैं। यदि हम निर्देश की बात को ठीक समझें और ध्यान करने से पहले अपने शरीर को ठीक से निर्देश दें और देने का अभ्यास करें तो काया मे अद्‌भुत रूप से स्थिरता आने लगेगी। उस स्थिति मे मन और वाणी एकदम शात हो जाएगे। मन की स्थिरता के लिए काया की स्थिरता ज़रूरी है, वैसे ही काया की स्थिरता को समझना भी ज़रूरी है और काया की स्थिरता को ठीक से साधना भी ज़रूरी है। अगर यह ठीक से सध जाये तो फिर यह शिकायत नही हो सकती कि काया के स्थिर होने पर भी मन चचल रहता है। काया के स्थिर होने पर मन स्थिर हो जाता है। भजन, कीर्तन, जप आदि मे मन स्थिर नही होता, एक दिशागामी हो जाता है। दिशागामी होना एक अलग वात है और स्थिर होना एक अलग बात है। इसलिए दोनो विषय मे हमारी यह भ्राति नही होनी चाहिए। हमारी व्याप्ति के विपरीत व्याप्ति नही होनी चाहिए। वह ऐसी होगी कि जहा काया की स्थिरता है, वहा मन की स्थिरता है और जहा काया की चचलता है, वहा मन की स्थिरता नही है।

प्रश्न—अहकार और ममकार का सीधा सम्बन्ध मन से है या शरीर से ? और मन से है तो शरीर के शिथिलीकरण से क्या लाभ है ?

उत्तर—शरीर की प्रवृत्ति और उसके साथ-साथ श्वास की सस्कार पर जो चोट लगती है उससे स्मृति जाग उठती है और उस स्मृति के जागते ही अहकार और ममकार प्रवुद्ध होकर मन की धारा मे वहने लग जाते हैं। हमे लगता है कि मन मे अहकार जाग गया, ममकार जाग गया किन्तु यह तो अभिव्यक्ति हुई। यह तो उसकी धारा मे उनका वहना हुआ। किन्तु वे मन से पैदा नही हुए हैं, मन से आये नही हैं। यदि नदी की धारा मे कोई काठ वहकर आता है तो इसे हम नही कह सकेंगे कि नदी की धारा मे काठ ने जन्म लिया। उसका जन्मदाता दूसरा है। उसकी खोज हमे दूसरी दिशा मे करनी होगी। अहकार और ममकार का जो जन्म है, वह मन मे नही हुआ है, मन मे प्रवाहित हो रहा है। इस वात को हम ठीक तरह से समझ लें तो यह समझने मे कोई कठिनाई नही होगी कि शरीर का शिथिलीकरण करने से वृत्तियो पर, सस्कारो पर या स्मृतियो पर चोट नही होगी

और उस चोट के विना अहंकार और ममकार की भावना जागृत नही होगी। और वह जागृत नही होगी तो मन की धारा मे उसका प्रवाह नही होगा। इस प्रकार अगर मूल तक जाएं, गहराई मे जाए, तो शरीर की स्थिरता और चचलता पर हमारे सस्कारों का, हमारी वृत्तियो का, अहकार और ममकार का प्रकट न होना या होना वहुत कुछ निर्भर है, यह हमे स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा।

योग-दर्शन मे महर्षि पतजलि ने भी कहा है—मन की उत्पत्ति इन तीन गुणो मे होती है। शुक्ल, कृष्ण और रक्त—ये तीन मन की प्रकृतिया हैं। जैन-दर्शन में लेश्याए छह मानी गयी हैं। किन्तु वास्तव मे कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनो कृष्ण के अन्तर्गत ही चली जाती हैं और तेजस् को लाल के रूप मे ले सकते हैं। शुक्ल लेश्या का वर्ण शुक्ल है।

शरीर जीव से उत्पन्न होता है, वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है और योग वीर्य से उत्पन्न होता है। लेश्या से उत्पन्न होता है—मन का योग। वास्तव में यह लेश्या शक्ति का वहुत वडा केन्द्र है। मूलाराधना मे इसकी वहुत लम्बी चर्चा है। अध्यवसाय शुद्ध होता है तव लेश्या शुद्ध होती है। जव वाहर की लेश्या शुद्ध होती है तव भीतर की लेश्या भी शुद्ध होती है। यह पूरा का पूरा वर्तुल है। हम अध्यवसाय से चलें और फिर चित्त तक पहुच जाए। एक के वाद एक की शुद्धि का क्रम आता है। वास्तव मे यह लेश्या, प्रभा, प्रभामडल (ओरा) जो है, वह हमारे मन का निर्माण करती है। मन उससे निर्मित होता है। क्योकि मन तो परिणामी है। मन स्थायी तत्त्व नही है। मन परिणामी है, परिणमनशील है। एक पर्याय है। कपाय-आत्मा मे कपाय-मन उत्पन्न हुआ। निमित्त द्वारा कपाय-मन समाप्त हो गया। दूसरे क्षण कोई अनुकूल वातावरण आया, हर्ष-मन का निर्माण हो गया। तीसरे क्षण फिर कोई स्थिति आयी, शोक-मन निर्मित हो गया। अगले क्षण कोई ऐसा निमित्त मिला कि भय-मन निर्मित हो गया। एक दिन मे हजारो-हजारो मनो का हम निर्माण करते हैं। यानी जितनी हमारी अनुभूतिया हैं, जितने हमारे पर्याय हैं, उतने ही मनो का निर्माण होना है। एक मन का निर्माण होता है और उसी अवस्था का हम उस समय अनुभव करते हैं।

मैं समझता हूं कि यहा दो अवस्थाए अव स्पष्ट हो गयी होगी—एक चित्तातीत अवस्था और एक चित्त-निर्माण की अवस्था। हमारे चित्त का निर्माण होता रहता है और हम हजारो-हजारो अवस्थाओ से गुजरते रहते हैं। एक दिन मे भी न जाने कितनी अवस्थाए आ जाती हैं। क्योकि पर्याय का परिवर्तन होता रहता है और वैसे ही चित्त का निर्माण होता रहता है। अव हमारे सामने प्रश्न यह है कि यह पर्याय का जो वर्तुल चल रहा है, वैसे ही चलने दें या चित्त के निर्माण को हम अपने अधीन कर लें? हम चाहें वैसे चित्त का निर्माण कर लें? दशवैकालिक मे एक महत्त्वपूर्ण शब्द आया है—होउकामेणं जो होना चाहता है। 'कुछ होना' चाहता है। और 'कुछ होना' हमारे लिए जरूरी है। क्योकि जव तक चित्तातीत अवस्था निरतर नही सध जाती तव तक कुछ न कुछ होना तो पडता ही है। अव हमे इसमे चुनाव करना है कि हम क्या हो? भगवान् महावीर ने चुनाव किया है। जितने भी साधक हुए हैं, उन्होने चुनाव किया है कि हमे क्या होना है? क्योकि विना चुनाव किये कोई वन नही सकता। जो भी साधक होता है, वह चुनाव करता है

कि हमे क्या होना है ? इस आधार पर उसके चित्त-निर्माण की प्रक्रिया शुरू होती है। यह परिणमनशील मन की अवस्थाओ मे से एक वैसा निर्माण करना, सघन निर्माण करना, जिससे कि वह अवस्था हमारे लिए मुख्य वन जाये, टिक जाये और इतनी सघन वन जाये कि दूसरे निर्माण की अवस्था उसे तोड न सके, उसे टकरा न सके। वह होता है सघन अवस्था का निर्माण। ऐसी सघन अवस्था का निर्माण जो हमारे लिए त्राण वन सके, कवच वन सके।

चित्त-निर्माण की स्थिति से सव लोग परिचित हैं। कोई भी व्यक्ति अपरिचित नही है। जिस प्रकार के चित्त का निर्माण हो जाता है, वही उसके लिए सुख का विपय वन जाता है। कुछ मछुए मछली पकडने के लिए गये। काफी तेज वरसात होने लगी। अपना काम वे कर नही सके, इसलिए एक वगीचे मे चले आये। वर्षा तेज हो गयी। वाहर जा नही सकते थे। इसलिए उन्होने माली से कहा—स्थान दे दो। माली ने स्थान दे दिया। मछुए सो गये। आसपास मे फूल पडे थे। मछुए लेट गये, परन्तु नीद नही आ रही थी। थोडी देर वाद उठकर वैठ गये और बोले—नीद नही आ रही है क्योकि कही से दुर्गन्ध आती है। परस्पर वातचीत की। फिर माली से कहा—हमे नीद नही आ रही है। माली ने कहा—मकान तो ठीक है। पानी की छीटें भी अन्दर नही आ रही हैं। शान्ति से सो जाओ। मछुए लेट गये, परन्तु कुछ देर वाद पुन उठ वैठे और कहा—कही से दुर्गन्ध आ रही है, इसलिए नीद नही आती है। माली ने कहा—दुर्गन्ध तो कुछ भी नही है, इधर तो पुष्प पडे हैं खुशवू आ रही है। माली समझदार था। उसने कहा—तुम लोगो के पास मे क्या है ? उन्होने कहा—मछली रखने की टोकरिया है। माली ने कहा—तुम्हे नीद ऐसे नही आयेगी। इन टोकरियो को अपने-अपने मुह पर डाल लो, नीद आ जायेगी। मछुओ ने ऐसा ही किया और उन्हे नीद आ गयी।

यह था चित्त का निर्माण। उनका चित्त ऐसा वन गया था कि मछली की वासना उनके लिए प्रिय वन गयी। वे उसमे आनन्द का अनुभव करते। पुष्प की खुशवू उनके लिए दुर्गन्ध दे रही थी और मछली की वासना सुगन्ध देती थी।

मछुओ का ही नही, पता नही इस प्रकार का चित्त कितने लोगो का होता है। वहुत सारे लोग अगर भोजन करते समय लडाई न करे तो उनके वह भोजन पचता ही नही है। क्योकि उनके चित्त का निर्माण ऐसा हो जाता है। उस समय वह सस्कार पूरा होता है। वैसी स्थिति आती है तो उन्हें आनन्द का अनुभव होता है, अन्यथा वैसा नही होता।

चित्त का निर्माण हर व्यक्ति करता है और बिना चित्त का निर्माण किये कोई जी नही सकता। प्रश्न है कि हम कैसे चित्त का निर्माण करे ? यह चुनाव व्यक्ति को करना है जो कि 'कुछ होना' चाहता है, जो स्वय कुछ वनना चाहता है, कुछ पाना चाहता है। जो केवल अनायास प्राप्त होता है, उसका खिलौना

४

चित्त का निर्माण

- विना चित्त का निर्माण किए कोई जी नही सकता।
- किस प्रकार के चित्त का निर्माण करे ?
- वैसे चित्त का निर्माण करे जैसा हम होना चाहते हैं।
- चित्त-निर्माण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—
  - **ध्येय का चिन्तन।**
  - **ध्येय के साथ तदात्म होना।**



आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि जब वस्तु का सक्षेप करते है तब वह अपर्याय हो जाती है। पर्याय को स्वीकार नही करते तब वस्तु सिमट जाती है और जब वस्तु का विवेचन करते हैं तब द्रव्य समाप्त हो जाता है, केवल पर्याय ही शेष रह जाता है। दो अवस्थाए हैं—एक पर्याय की अवस्था और दूसरी द्रव्य की अवस्था यानी वस्तु की अवस्था। ये दोनो अवस्थाए हमारे जीवन मे घटित होती हैं। एक है अस्तित्व और एक है व्यक्तित्व। अस्तित्व का मतलब है होना और व्यक्तित्व का मतलब है कुछ होना। अस्तित्व की अनुभूति केवल होने की अनुभूति है। हम हैं, इसके सिवाय कोई अनुभव नही होता। इस अस्तित्व की अनुभूति मे हमारी पूर्ण चेतना सक्रिय होती है। अखड चेतना सक्रिय होती है। हम कुछ हैं, यह हमारे व्यक्तित्व की अनुभूति है। इसमे हमारी खड चेतना सक्रिय होती है। हमारी चेतना की ये दो अवस्थाए हैं, जिन्हे हम योग की भाषा मे चित्तातीत अवस्था और चित्त-निर्माण की अवस्था कह सकते हैं।

एक होती है चित्तातीत अवस्था जिसमे चित्त नही होता। एक होती है चित्त-

निर्माण की अवस्था जो चित्त-पर्याय की अवस्था है। शुद्ध आत्म-द्रव्य की अवस्था है, वह चित्तातीत अवस्था है और पर्याय की अवस्था जिसे 'थोकडो' की भाषा मे कहते हैं 'अनेरी' (अन्य) आत्मा की अवस्था, वह है चित्त-पर्याय की अवस्था, चित्त-निर्माण की अवस्था। चित्त और मन का एक क्रम चलता है। साधारणत हम समझते हैं कि चित्त और मन एक हैं, किन्तु वस्तुत वे एक नही हैं। अनुयोग-द्वार सूत्र मे 'तच्चित्त, तन्मना, तल्लेश्य और तद्-अध्यवसाय'—ऐसा एक क्रम चलता है। यह बहुत ही सुन्दर क्रम है। कई बार तो लगा कि ये पर्यायवाची शब्द हैं। किन्तु ये पर्यायवाची नही, उत्तरोत्तर अवस्थाओ के सूचक हैं। अध्यवसाय हमारी चेतना की सूक्ष्म परिणति है, जिसे मनोविज्ञान की भाषा मे कहते हैं—अवचेतन मन। यह जो अवचेतन मन की स्थिति है, वह अध्यवसाय है। हमारा अध्यवसाय प्रभावित करता है लेश्या को और लेश्या के द्वारा मन का निर्माण होता है और उस पर चित्त-नियत्रण स्थापित करता है। चित्त बुद्धि है, वह परिणमनशील नही है, स्थायी होता है। मन परिणमनशील है। मन उत्पन्न होता है लेश्या के द्वारा। जैसे साख्यदर्शन और योग-दर्शन ने माना है कि सत्व, रज और तम—ये तीन गुण हैं और यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। इस प्रकृति से मन उत्पन्न होता है। चित्त उत्पन्न होता है। जैन दर्शन मे जो लेश्या है, उससे मन उत्पन्न होता है। मन की जो सारी क्रिया है, मन का जो सारा तत्र है, वह भौतिक तत्र है। उसमे अपने आप मे चेतना नही है। चेतना चित्त से सक्रान्त होती है। मन, इन्द्रिय, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा—यह सारा का सारा तत्र है, अपने आपमे अचेतन तत्र है। चेतना उसमे सक्रान्त होती है चित्त के द्वारा। यह परिणमनशील है। लेश्या के द्वारा मन उत्पन्न होता रहता है। जिस प्रकार का अध्यवसाय होता है, उस प्रकार की बाहरी लेश्या पैदा हो जाती है। लेश्या तो रहती ही है। उसके वर्ण मे परिवर्तन आ जाता है। आज की योग की भाषा मे, मनोविज्ञान की भाषा मे उसे 'ओरा' (Auro) कहते हैं। हर मनुष्य के शरीर के बाहर 'ओरा' होता है, प्रभामडल होता है। वह हर व्यक्ति के आसपास मे होता है। 'ओरा' पूर्ण विकसित होता है तो छह फुट मे चारो ओर फैल जाता है। उस 'ओरा' के आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि व्यक्ति कैसा है ? स्वभाव कैसा है ? इसका मनोभाव कैसा है ? स्वस्थ है या बीमार है ? आदि-आदि।

भारतीय योग मे ज्योति पर ध्यान करने की बात आती है और ध्यान करने वाले लोग कहने लग जाते हैं कि हमे ज्योति-सी दिखाई देती है। वह ज्योति क्या है ? वह 'ओरा' ही है। ज्योति पर जब ध्यान केन्द्रित करते हैं तब हम 'ओरा' के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं। अपने प्रभामडल के साथ सम्पर्क स्थापित करते है और सबसे पहले यह तेजस्, जो कि अपने तेजोलेश्या से शुरू होता है और बाद मे तेजस् 'ओरा' ही सबसे पहले हमारे सामने व्यक्त होता है।

बनना नही चाहता। अपने आपको कुछ बनाना चाहता है, उसे यह निर्माण करने का प्रयत्न करना होता है। उसकी कुछ प्रक्रियाए मैं प्रस्तुत करना चाहता हूं। इसके लिए सबसे पहले हमे ध्येय का चुनाव करना होगा कि मैं क्या होना चाहता हू ? एक बीमार व्यक्ति स्वस्थ होना चाहता है। एक ध्येय का निर्माण हो गया यानी वह स्वस्थ-चित्त का निर्माण करे। एक व्यक्ति ब्रह्मचारी रहना चाहता है तो वह ब्रह्मचर्य-चित्त का निर्माण करे। एक व्यक्ति प्रसन्न रहना चाहता है तो वह प्रसन्न-चित्त का निर्माण करे। इस प्रकार जो हमारी अपेक्षा है, वह ध्येय हमने पहले चुन लिया। हमारा ध्येय निश्चित हो गया। अब ध्येय तक पहुचना है। कैसे पहुचे ? उसके लिए हमे एक कल्पना का चित्र बनाना है। चाहे कोई व्यक्ति हो, जिस ध्येय तक पहुचना है, उसका चित्र बनाना होगा। ब्रह्मचर्य की स्थिति मे पहुचना है तो स्थूलिभद्र का चित्र बनाना होगा। ऐसे व्यक्ति का चित्र बना लेना है जिस व्यक्ति मे हमारा ध्येय पूर्णत साकार हो। चाहे हमारा काल्पनिक चित्र हो। वह चित्र हमने लिया और ध्यान की मुद्रा मे बैठ गये। शरीर को बिलकुल शून्य कर दिया। फिर उस चित्त को, उस कल्पना को हमने साकार किया। कल्पना को साकार कर हमने प्राणायाम शुरू कर दिया। भावी चित्त की निर्मलता के लिए, उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए, रेचक और बाह्य कुभक—ये दो बहुत महत्त्वपूर्ण कडिया है। हमने प्राण का रेचन कर कुभक किया। बाह्य कुभक—जितनी देर हम प्राण को बाहर रखते हैं उतनी ही चित्त की निर्मलता प्राप्त होती है। और चित्त को निर्मलता प्राप्त होती है तो उसका प्रतिबिम्ब जल्द पड जाता है। चित्त की निर्मलता के लिए यह रेचन और बाह्य-कुभक बहुत सुन्दर प्रक्रिया है। प्राण जितना बाहर रहेगा, उससे नाडी-शुद्धि होगी और चित्त की शुद्धि होगी। पतजलि ने भी इसका अच्छा प्रतिपादन किया है।

प्राण के **विच्छर्दन और धारणा** से चित्त की प्रसन्नता होती है। यह विच्छर्दन है रेचक और धारणा है बाह्य-कुभक। ये दोनो स्थितिया हमारी प्राप्त होगी। जैसे स्थूलिभद्र का चित्र हमने सामने लिया। हमारी कल्पना हो तो अब उसे दोहराने की जरूरत नही। वह मूर्त अर्थात् ब्रह्मचर्यमय हमारे सामने है। रेचक करते हैं और उसके बाद कुभक करते हैं और फिर एक बार उसको देखते हैं। फिर दूसरी बार हमने रेचक किया, कुभक किया और फिर उसकी ओर ध्यान केन्द्रित किया। इस सिलसिले को हम दो बार, चार बार, दस बार और पचास बार दोहराते जायें। दो-चार दिनो मे ऐसा अनुभव होगा कि उसके साथ तादात्म्य स्थापित हो रहा है। यह है हमारा **तन्मूर्तियोग**। तन्मय बन जाना। इस स्थिति मे एवभूतनय की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

रेचक और बाह्य कुभक बार-बार दोहराते जाइये, उसी प्रकार चित्त का निर्माण होता चला जायेगा। चित्त का निर्माण होता है, पर्याय का निर्माण होता

है। क्योकि जव हम स्वाभाविक पर्याय मे रहते है तव हमें किसी निमित्त की आवश्यकता नही रहती। ये सारे वैभाविक पर्याय हैं। चित्त का निर्माण चाहे बुरा होता है तो वैभाविक पर्याय है और चाहे अच्छा होता है तो वैभाविक पर्याय है। स्वाभाविक पर्याय तो नही है। किन्तु यह वैभाविक पर्याय भी हमारे लिए आवश्यक होता है, दूसरे वैभाविक पर्यायो का या समस्याओ का पार पाने के लिए।

स्वस्थ चित्त के निर्माण-के लिए योग के आचार्यों ने विचार किया है। एक सामान्य उदाहरण दू। भोजन किया और उसके वाद जो व्यक्ति समझता है कि पाचन ठीक नही है, अग्नि मंद है, उसे क्या करना चाहिए ? उसके लिए निर्देश दिया गया है कि तुम भोजन के वाद सूर्य का ध्यान करो। सूर्य की कल्पना करो। अग्नि की कल्पना करो। इससे तेजस् की कल्पना होती है। हमारे मन की परिणति तेजोमय होने लग जाती है। दूसरी प्रक्रिया निर्माण की है। अर्थात् पूरक की। हम जिस प्रकार के चित्त का निर्माण करना चाहते हैं, उसमे तेजस्-प्रधान तत्त्व की आवश्यकता है। या शीत-प्रधान तत्त्व की आवश्यकता है। शरीर मे गर्मी लाना और चित्तपर्याय को उष्णता के द्वारा उत्तेजित करना है तो एक प्रकार की हमे प्रक्रिया करनी होगी कि दाहिने स्वर से, दाहिने नथुने से श्वास लेकर कुभक करे और कुभक करवाए नथुने से निकाल दें। इस क्रम को वार-वार दुहराए और इतनी वार दुहराए कि जितनी वार दुहरा सकें। लेना दाए स्वर से और छोडना वाए स्वर से। आप पचास वार ऐसा करके देखें। सर्दी के मौसम मे भी पसीना आने लग जायेगा। इतना गर्म स्वर हो जायेगा कि इस स्थिति मे भी कुछ अवस्थाओ का निर्माण किया जाता है। तिव्वत मे ऐसा प्रयोग भी चलता है। वहा एक प्रयोग चलता है—हीट-योग का। एक साधक को सर्दी मे वर्फ पर लिटा देते हैं और उससे कहते हैं पसीना लाओ। वस्त्र सारा खोल देते हैं और फिर पूरक का प्रयोग करते हैं। सूर्य स्वर से श्वास लेने का प्रयोग करते हैं। प्रयोग करते-करते जव पसीना चूने लग जाता है, तव वह साधक अपनी परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाता है।

आचाराग सूत्र मे आता है कि जिस समय दूसरे लोग सर्दी मे निवास-स्थान की खोज करते थे, उस समय भगवान् महावीर विना वस्त्र वाहर जाकर चक्रमण करते थे। क्या उन्हे शीत का अनुभव नही होता था ? होता था। परन्तु कुछ प्रक्रियाए ऐसी हैं, उनके द्वारा उन पर विजय पा ली जाती है। अव आप देखें कि आप जा रहे हैं, ऐसी स्थिति आ गयी है कि वहुत अधिक सर्दी पडने लगी। मकान आया नही। हवा तेज चल रही है। क्या करें ? एक उपाय किया जा सकता है और वह है योग का सरल फार्मूला। उस समय जितने सूर्य जैसे तेजस् पदार्थ हैं, उनकी स्मृति वार-वार लाइये। वार-वार दुहराइये। और मन का वैसा निर्माण कीजिये। आपका सकट वहुत अशो मे दूर हो जायेगा। सर्दी की अनुभूति वहुत

कम हो जायेगी और ऐसा अनुभव होगा कि शरीर को जितनी उष्मा चाहिए, उतनी उष्मा हमे प्राप्त हो रही है।

ठीक इसी प्रकार जब शीत-चित्त का निर्माण करना है तो उल्टा प्रयोग कीजिये यानी श्वास लिया चन्द्र स्वर से, कुभक किया और सूर्य स्वर से छोडा। बाए से लिया और दाए से छोडा। इसी क्रम को बार-बार दोहराते जाइये। एक-दो बार मे कुछ नही होने वाला है। इसे कम-से-कम बीस-तीस, चालीस-पचास बार करें तब ठीक अनुभव होगा कि इस प्रकार के चित्त का निर्माण हो रहा है। उसे दोहराते जाइये। काफी ठडक का अनुभव होने लग जायेगा। दूसरी एक प्रक्रिया और है, वह सर्दी मे करने की नही है। शीतली प्राणायाम, शीतकारी प्राणायाम और भुजगी प्राणायाम—ये तीन प्राणायाम हमारे शीत-चित्त का निर्माण करते हैं।

मान लीजिये कि पेट बहुत गर्म है और ऐसा अनुभव हो कि जलन भी लग रही है। भुजगी प्राणायाम से आपको तत्काल ठडक महसूस होने लग जायेगी। भुजगी प्राणायाम मे पूरा मुह खोलकर बहुत तेजी के साथ श्वास लेना होता है। उस समय इतना ठडा लगेगा मानो कोई ठडी चीज़ गले मे डाली जा रही है। गर्मी तेज़ हो गयी, उस समय ठडी चीज़ का स्मरण करें, जैसे बर्फ हिमालय आदि-आदि। तत्काल ठडी परिणति शुरू हो जायेगी।

विशेषावश्यक भाष्य मे एक बहुत बडी चर्चा चली है—जीवो के अनुग्रह और उपघात की। ये दोनो पुद्गलो के द्वारा होते हैं। वहा मन के प्रसग मे चर्चा है कि यदि मानसिक पुद्गल इष्ट गृहीत होते है तो जीव का अनुग्रह होता है और अगर अनिष्ट पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं तो उपघात होता है। अगर आप चिन्ता बहुत करते हैं, शोक बहुत करते हैं, ईर्ष्या बहुत करते हैं, उस प्रकार के पुद्गलो को ग्रहण करेंगे तो आपके शरीर पर, आपके मन पर इतना बुरा असर होगा कि दोनो—शरीर और मन खराब होने लग जायेंगे। दोनो की परिणतिया खराब होने लग जायेंगी। यानी उपघात होने लग जायेगा। यदि आप प्रसन्नता, मैत्री आदि अच्छी बातो का चिन्तन करते हैं तो अनायास ऐसे इष्ट पुद्गलो का ग्रहण होगा कि आपका मन अच्छा बनने लग जायेगा और चित्त स्वस्थ होने लग जायेगा। भोजन का अनुग्रह और उपघात होता है—अच्छा भोजन मिलता है तो शरीर स्वस्थ बनता है, शरीर नीरोग बनता है और अच्छा बनता है। खराब भोजन मिलता है तो शरीर विकृत होने लग जाता है। जब स्थूल पुद्गल हमे इतना प्रभावित कर सकते हैं तो सूक्ष्म पुद्गल तो और अधिक प्रभावित कर सकते हैं। यह सारा-का-सारा अनुग्रह का सिद्धात है। अनुग्रह करने वाली सामग्री का ग्रहण और उसके आधार पर चित्त का निर्माण। यह चित्त-निर्माण की प्रक्रिया है।

दो अवस्थाओ के निर्माण की चर्चा मैंने की थी—एक चित्तातीत अवस्था और दूसरी चित्त-निर्माण की अवस्था। चित्त-निर्माण तो हमारा होता ही है। हमे यह चुनाव करना होता है कि हम किस प्रकार के चित्त का निर्माण करें। तीसरी वात यह आती है कि जो हमारा ध्येय है, उस ध्येय के अनुकूल सामग्री का चयन करें और उस प्रकार का चित्त हम बनायें, निर्मित करे। चौथी वात है—चित्त-निर्माण की प्रक्रिया। चित्त-निर्माण की प्रक्रिया क्या होगी? इसमे सवसे महत्त्वपूर्ण साधन है—ध्येय की कल्पना यानी ध्येय का चिन्तन।

यदा ध्यानवलाद् ध्याता, शून्यीकृत्य स्वविग्रहम्।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्, तादृक् सपद्यते स्वयम॥

—ध्येय के स्वरूप मे आविष्ट हो जाना, यह आवेश की प्रक्रिया है। आवेश आता है, क्रोध हमारे मन मे उतरता है। दूसरी वात हमारे मन मे उतर जाती है। आविष्ट होना—एक-दूसरे मे घुस जाना। अपने शरीर को तो बना दिया शून्य और सामने ध्येय है, उसमे आविष्ट होना शुरू कर दिया। उसमे घुसना शुरू कर दिया। घुसते-घुसते इतने घुस गये कि ध्येय और ध्याता दोनो एक वन गये। यह गुण-संक्रमण का सिद्धात है। योगी के देह मे उस प्रकार का ध्यान करने से, गुण-सक्रमण हो जाता है यानी जो गुण ध्येय का है, वह उसमे सक्रामित हो जाता है। महावीर का समत्व गुण है, और महावीर के ध्यान मे हम आविष्ट हो गये तो महावीर का समत्व हमारे भीतर प्रकट होना शुरू हो जायेगा। यह है गुण-सक्रमण का सिद्धात।

जव इस प्रकार के चित्त का निर्माण कर लेते हैं तो विकृत मानस का निर्माण अपने आप स्थगित हो जाता है और इस प्रकार हम अपनी साधना की मजिल तय कर लेते है और अपने चित्त की अधीनता हम स्वय प्राप्त कर लेते हैं। जिस प्रकार के चित्त का निर्माण, जितने प्रकार के पर्यायो का निर्माण हमे जीने के लिए आवश्यक होता है, हमारी साधना के लिए आवश्यक होता है, उस प्रकार के पर्यायो का निर्माण कर उन पर्यायो में चलते-चलते हम पर्यायातीत स्थिति तक पहुच जाते है।

प्रश्न : समाधान

प्रश्न—क्या चित्त और मन दोनो अलग-अलग होते है?

उत्तर—चेतना का वह पर्याय जो हमारी योग्यता के अनुरूप विकसित होता है, वह है चित्त और मन है उसके द्वारा निर्मित होने वाला क्रिया-सचालन के तत्र का मुख्य उपकरण। उसमें विपय के सम्पर्क से लेकर स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तक का पूरा एक चक्र आ जाता है। क्रिया सचालन का एक मुख्य तत्र है जिसके द्वारा हम

वाह्य जगत् में सम्पर्क स्थापित करते हैं। वहा तक की सारी क्रिया का संचालन करता है मन। मन है परिणमनशील। मन उत्पन्न होता है, नष्ट होता है उत्पन्न होता है, नष्ट होता है। एक क्षण में मन होता है और फिर नष्ट हो जाता है। मनन से पहले मन नही है और मनन के वाद मन नहीं है। मन उत्पन्न होता रहता है और चित्त उस पर स्थायी नियत्रण करने वाला है।

जव हम ध्यान में वैठते हैं तव हम सोचते तो है कि इस वात पर मन टिकाए, पर मन टिकता तो नही है। भीतर में कोई कहता है कि उस पर मन टिकाओ तो फिर मन ही ये दो काम कर रहा है क्या ? जैसे तर्कशास्त्र में आता है कि नट कितना भी कुशल हो, अपने कंधो पर नही चढ सकता। मन दो क्रियाए कैसे कर सकता है ? वही तो चचल है और वही निर्देश देता है कि स्थिर वनो—दोनो वातें कैसे कर मकता है ? किन्तु वास्तव में देखें तो चित्त और मन एक नही हैं। सक्रियता मन की है। मन चचल होता है और उसका काम ही है चचल होना। यह निर्देश मिलता है चित्त के द्वारा, वुद्धि के द्वारा या विवेक के द्वारा कि 'स्थिर करो'। हम स्थिर करते हैं किन्तु मन तो अपना काम करता जाता है। मन अपना काम करता रहेगा तो फिर वह स्थिर कैसे रहेगा ? वास्तव में सोचे तो मन स्थिर होता ही नहीं है। तो फिर क्या है ? इसका वहुत अच्छा उत्तर हमें एक वौद्ध साधक से मिलता है। उनसे पूछा गया कि मन कैसे स्थिर करे ? उन्होने कहा—स्थिर क्या करोगे ? उत्पन्न ही मत करो। प्रतिष्ठा ही मत करो। उत्पन्न नही होना ही स्थिरता है। जो चीज़ चचल है, जिसका स्वभाव ही चचल है, जिसका अर्थ ही है सक्रियता, क्रिया करना, क्रियातत्र का सचालन करना, वह स्थिर कैसे होगा ? इसका अर्थ है कि मन को उत्पन्न मत करो।

हम मौन हो जाते हैं। अव कहे कि भाषा को हमने स्थिर कर दिया। भाषा को स्थिर क्या किया ? हमने भाषा को उत्पन्न ही नही किया। भाष्यमाण भाषा होती है। हम वोलते ही नही है तो भाषा कैसे होगी ?

मन का अनुत्पादन ही मन की स्थिरता है। मन परिणमनशील है, और चित्त है उसका एक स्थायी नियत्रण करने वाला वौद्धिक चक्र। वृत्तियो का काम भी मन की चचलता है। उसके ज़िम्मे वहुत वडा काम है। वृत्तिया जो उभरती हैं, उनका वहन करना भी मन का काम है। मन इतना वडा सदेशवाहक और इतना वडा भार ढोने वाला खच्चर है कि वह काफी भार ढोता है।

एक व्यक्ति का खच्चर खो गया तो वह पीर के पास जाकर वोला—मेरा खच्चर मिल जाए तो मैं उसे एक रुपए मे वेच दूगा। मनौती की और सयोग से खच्चर मिल गया। अव सौ रुपए की चीज़ एक रुपए मे कैसे वेचे ? वडी कठिनाई खडी हो गयी, परतु मनौती की हुई थी, इसलिए करे क्या ? उसने सोचा क्या करू ? एक विल्ली लाया और उसे खच्चर की पीठ पर वैठा दिया। वाजार मे जाकर

बोला—"लो, खच्चर बेच रहा हूं। एक रुपए में खच्चर और सौ रुपए में उस पर बैठी हुई बिल्ली। लेना हो तो लो। किंतु दोनो साथ मे बिकेंगे। खच्चर के साथ बिल्ली भी लेनी होगी। दोनो साथ मे मिलेंगे, अलग-अलग नही मिलेंगे।"

ठीक इसी प्रकार यह सौ रुपए की वृत्तिया और एक रुपए के मन का खच्चर है। दोनो साथ मे हैं। लेना हो तो साथ मे लो। अलग-अलग नही मिलेंगे। वृत्ति अलग नही मिलेगी और मन अलग नही मिलेगा। दोनो साथ मिलगे। इस प्रकार मन का काम काफी लम्बा-चौडा है। इसीलिए मन सक्रिय बनता है। मन का कोई दोष नही है। सक्रियता इसीलिए है कि ससार के सारे क्रियातत्र का सचालन करना उसका अपना सहज नैसर्गिक काम है।

प्रश्न है कि बाह्य सगो को हम क्यो छोडें ? यानी वस्त्र, मकान, दूसरी-दूसरी चीजें क्यो छोडें ? छोडने की क्या ज़रूरत है ? तब वहा बताया गया है कि सग नही छोडेंगे तो कषाय को उत्तेजना मिलेगी। कषाय उत्तेजित होगा तो अध्यवसाय विकृत होगा। अध्यवसाय विकृत होगे तो लेश्या अशुद्ध होगी। लेश्या अशुद्ध होगी तो अशुद्ध मन का निर्माण होगा। अशुद्ध मन का निर्माण होगा तो चित्त विकृत होगा।

प्रश्न—क्या सूक्ष्म-शरीर और 'ओरा' एक नही है ?

उत्तर—'ओरा' और सूक्ष्म-शरीर दो हैं। तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म-शरीर हैं। ओरा (लेश्या या प्रभा-मडल) तैजस-शरीर से निकलने वाली प्रकाश-रश्मिया हैं। कर्म-शरीर भावात्मक शरीर है। आदमी मर जाता है और मरते समय जब तीव्र आकाक्षा उसके मन मे रह जाती है, जैसे किसी ने अकस्मात् आत्महत्या कर ली। मन मे तीव्र भावना थी, पूरी नही हुई। दुर्घटना से मर गया। फिर कहते हैं कि वह भूत बन जाता है। देखता है, बोलता है और बार-बार यह जो प्लेनचेट के द्वारा आत्मा का अवतरण करते हैं, आमत्रण करते हैं, आत्मा को बुलाते हैं। कुछ बातें बताते हैं। कुछ बातें मिलती है, कुछ बाते नही मिलती हैं। यह सारा क्रम न आत्मा का है, न स्थूल-शरीर का। यह एस्ट्रल बॉडी का क्रम है। स्थूल-शरीर रह जाता है। आत्मा चली जाती है। किंतु उसके सस्कार रह जाते हैं।

प्रश्न—जैन आगमो मे योगवहन शब्द आता है। क्या प्राचीनकाल मे योग की कोई विशिष्ट पद्धति रही है या जो आजकल चलती है, वही रही है ?

उत्तर—आजकल योगवहन का अर्थ आगम अध्ययन के साथ जुड गया। जब सूत्र पढें तो उसके साथ मे इतने आयबिल करने चाहिए। अमुक-अमुक तपस्या करनी चाहिए। यह योगवहन के अर्थ मे रूढ हो गया किंतु यह बहुत पुरानी बात नही है। यह बाद की है। यह योगवहन की कल्पना, उत्तरकालीन कल्पना है। जब आगमो की व्यवस्था हुई, अगो-उपागो की जो व्यवस्था हुई, उस व्यवस्था के

अनुपात से इस व्यवस्था का भी विधान हुआ। किंतु योगवहन का यह मूल अर्थ नही लगता। हम थोडे गहरे मे जाए तो अर्थ ढूढ सकते हैं। जैन परपरा मे भावनायोग, सवरध्यानयोग और निर्जरायोग—ये तीन शब्द बहुत प्रचलित हैं। भावनायोग, सवरध्यानयोग की बहुत बडी प्रक्रिया रही है। स्थान-स्थान पर आता है—झाणकोट्ठोवगए। यह ध्यान-कोष्ठ क्या है ? यह है चित्त-निर्माण। ध्यान-कोष्ठ मे चला जाना एक प्रकार के चित्त-कोष्ठ का निर्माण कर देना है। महाप्राण ध्यान और सवरध्यानयोग की एक ही प्रक्रिया है, यानी चित्त को निरोध करने की प्रक्रिया या आनापान को सूक्ष्म करने की प्रक्रिया। श्वास को इतना सूक्ष्म कर दिया जाता है कि आनापान को सूक्ष्म करनेवाला अतर्मुहूर्त मे चौदह पूर्वों (विशाल ज्ञान-राशि) का स्मरण कर लेता है। यह शब्द उस प्रक्रिया मे, उस अर्थ मे सम्भव लगता है। किंतु बाद मे दूसरी परम्परा के साथ जुड गया और यह प्रक्रिया छूट-सी गयी। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो आचार्य भद्रबाहु और स्थूलिभद्र के बाद हमारी परम्परा मे बहुत बडा परिवर्तन आया। कई एक कठिनाइया पैदा हुई हैं। काफी परिवर्तन आया है। हम स्वयं अनुभव करेंगे कि हमारी श्वेताम्बर परम्परा की अपेक्षा दिगम्बर परम्परा मे ध्यान की पद्धति सुरक्षित रही है और जितने ग्रन्थ दिगम्बर आचार्यों के हैं ध्यान के विषय मे श्वेताम्बर आचार्यो के उतने नही हैं। उन लोगो मे साधना का बहुत अच्छा क्रम चला है। जो परम्परा बाद मे रही उसमे बाह्य क्रिया ज्यादा आ गई। इन सारे तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि योगवहन की जो मौलिक परम्परा थी वह विस्मृत हो गयी और यह उत्तरकाल की परम्परा आ गयी।

प्रश्न—मन और मस्तिष्क मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—मन भावना-प्रधान होता है और मस्तिष्क चिंतन-प्रधान। हमारी व्यावहारिक चेतना के तीन अग हैं—भावना, चिंतन और क्रिया। ये तीनो हमारी प्रवृत्ति के मुख्य अग हैं। भावना का स्थान माना जाता है हृदय, चिंतन का स्थान मस्तिष्क और क्रिया का स्थान सारा शरीर है।

अब रहा प्रश्न मन और मस्तिष्क का। एक प्रकार से हमे यह स्वीकार करना चाहिए कि मन और मस्तिष्क मे बहुत गहरा सबध है। मन स्वय चिंतन का एक अग है। क्योकि जो भी विषय यह ग्रहण करता है, उस विषय का सवेदन मस्तिष्क तक पहुचता है। हमारा मन पर्याप्ति का केंद्र यह बृहद् मस्तिष्क ही होना चाहिए। बृहद् मस्तिष्क मे जो सवेदन पहुचता है, वहा फिर उससे इनका अनुभव पूरा होकर और पर्यालोचन होता है। वह काम करता है मन। मन और मस्तिष्क—दोनो एक क्रिया से सबधित हैं। शरीरशास्त्री या मनोवैज्ञानिक तो मानते हैं कि मस्तिष्क की क्रिया ही मन है। हम इस भाषा मे न मानें किंतु यह मानें कि मन की प्रवृत्ति का मुख्य साधक अग है मस्तिष्क, जहा से सारी क्रियाओ

का सचालन होता है। मस्तिष्क विकृत होता है तो मन की क्रिया विकृत हो जाती है। मस्तिष्क स्वस्थ होता है तो मन की क्रिया स्वस्थ होती है। दोनो का गहरा संबंध है।

अब प्रश्न रहा भावना पक्ष का। इसका बहुत सबध है हमारे हृदय से और कुछ सबंध होता है मज्जादड से। भावनाओ का नियत्रण करना या भावनाओ को छोडना, यह मज्जादड का काम है।

एक संन्यासी था। स्त्रिया और पुरुष उस सन्यासी के पीछे-पीछे लग जाते थे। वह कोई मज्जागत चीज़ ऐसी देता था कि उसका सस्कार बैठ जाता था। बाद मे वह पकडा गया। खोज की गई। उसने कहा कि जब तक यह मज्जा का अश नही निकल जाता, तब तक उनका विचार बदलेगा नही। इसीलिए श्रावक के लिए कहा गया है कि उसकी मज्जा धर्म के प्रेम से अनुरक्त होती है। भावनात्मक चीज़ें जितनी भी दी जाती हैं, उनका सबसे अधिक प्रभाव होता है हृदय चक्र पर। यह भावना का मुख्य केंद्र है। इसका नियत्रण होता है मस्तिष्क के नीचे मेरुदड से। मेरुदड और मस्तिष्क के बीच जो गर्दन का हिस्सा है, वह है मज्जादड। जो चीज़ मास तक पहुची, उसका उतना प्रभाव नही पडता। जो मज्जागत हो गई, अस्थिगत हो गई, उसका प्रभाव तेजी से पडता है। जो बोन टी० बी० हो जाती है, उसका असर अधिक पडता है। अस्थि से भी आगे जब मज्जा मे पहुच जाती है तो उसका भयंकर प्रभाव होता है। यह सारे सस्कार हैं मज्जा के। यह काम मन का नही है। उसके नीचे का है। राग-द्वेषात्मक आदि जितनी भावनाए है, उन पर नियत्रण पाना, उन पर कट्रोल पाना मेरुदड का, मज्जादड का और कठमणि का काम है। भावना और चिंतन दोनो अलग-अलग हो जाते हैं।

प्रश्न—भाषणो की अपेक्षा क्या प्रयोगो की ओर ध्यान देना अधिक उचित नही है? क्या प्रयोग करने के बारे मे भी हमारा कुछ चिंतन है?

उत्तर—प्रश्न बिलकुल ठीक है, परतु मैं कोई जादूगर नही हू कि एक डडा घुमा दू और सब कुछ सिद्ध हो जाए। यह प्रक्रिया भी श्रेष्ठ नही है। साधक को बता देना है कि ऐसा-ऐसा करो। करना तो आपको स्वय है और वास्तव मे समुचित प्रक्रिया भी यही है। व्यक्ति को स्वय को ही करना चाहिए। कुछ लोग ऐसा करते भी हैं। डॉक्टर की तरह हृदय का प्रत्यारोपण नही किया जा सकता। अब रहा प्रश्न चित्त-निर्माण का, चित्तातीत अवस्था के निर्माण का। आप जानते हैं कि हमारी कुछ कठिनाइया हैं। हम यह निश्चित जानते हैं कि केवल सवर मे ही हमे नही जाना है, सवर को भी छोड देना है, सवरातीत हो जाना है। मज़िल तो हमारी वहा तक है, फिर भी हमे निर्जरा के साधन अपनाने होगे। कुछ ऐसी जटिलताए हैं। इन जटिलताओ को पार करना है। जगल को पार करने के लिए

हमे वाहन पर भी चढना है, नदी को पार करने के लिए नौका पर भी चढना है। जो व्यक्ति कमज़ोर है और चाहता है कि दो-तीन घटे बैठकर ध्यान करे, शरीर की स्थिति नही है, बैठ नही सकता, कैसे करे? इसलिए उस व्यक्ति के लिए ज़रूरी है कि स्वस्थ चित्त का निर्माण करे, यानी शरीर के स्वास्थ्य का निर्माण करे। वह शरीर उस कोटि का बन जाए, फिर अपने ध्येय की ओर चले। स्थिति को पार करता जाए किंतु उसमे उलझे नही। जो व्यक्ति चित्त-निर्माण करने की क्षमता अर्जित कर लेता है, वह उलझेगा नही। प्राय वह अगले चित्त के निर्माण के लिए आगे चलता जाएगा।

५

चंचलता का चौराहा

- पहली चचलता है—स्मृति ।
- दूसरी चचलता है—कल्पना ।
- तीसरी चचलता है—विचार ।

स्थिरता क्या है ?
स्मृति का न होना, कल्पना का न होना और विचार का न होना ।

-

महामत्री चाणक्य जा रहे थे। एक गाव मे ठहरे। एक बुढिया के घर भोजन करने के लिए गये । बुढिया ने अच्छा आतिथ्य किया। आवभगत की। और जैसी भारत की परपरा रही है, अतिथि के स्वागत करने की, उसी के अनुरूप उनका स्वागत किया । भोजन के लिए बैठे । बुढिया ने खिचडी परोसी । चाणक्य ने बैठते ही हाथ डाला मध्य मे। खिचडी गर्म थी। हाथ जल उठा। एक श्वास के साथ हाथ को उठाया और हाथ को हिलाने लगे। बुढिया ने देखा और वह तत्काल बोल उठी—"लगता है तुम भी चाणक्य जैसे महामूर्ख हो ?" चाणक्य ने अपना नाम सुना । वे सकपका गये । मैं मूर्ख कैसे ? चाणक्य और मूर्ख ! यह कैसे हो सकता है ? चाणक्य अपने युग का महापडित था और महान् विद्वान् था । न केवल अपने युग का बल्कि भारतीय परपरा मे राजनीतिक विचारदृष्टि से चाणक्य एक ऐसा व्यक्ति हुआ है, जिसकी तुलना अभी तक दूसरे व्यक्ति मे नही हो रही है। वह चाणक्य और बुढिया ने कहा—मूर्ख ? चाणक्य को बहुत आश्चर्य हुआ । वह बोला—"मा ! चाणक्य मूर्ख कसे ?" बुढिया को क्या पता, यह कौन बैठा है ? उसके सामने तो एक अतिथि था, पाहुना था । वह बोली—"क्या तुम नही

जानते कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर रहे हैं। पाटलिपुत्र पर धावा बोल रहे हैं। किंतु सीधे पाटलिपुत्र पर जाते हैं। महानद बहुत शक्तिशाली है, मार खाकर वापस आ जाते हैं। कितना मूर्ख और बेवकूफ है! उसे इतना भी बोध नही कि पहले आसपास को जीतना चाहिए, और जब आसपास को जीत ले, शक्ति बढा ले, फिर राजधानी पर आक्रमण करना चाहिए। तुम भी उसी की तरह मूर्ख हो। खिचडी के बीच मे हाथ डालते हो। पहले खिचडी जो आसपास मे ठडी हो गयी है, उसमे हाथ डालना चाहिए था, खाना चाहिए था और खाते-खाते बीच की भी ठडी हो जाती, उसे खा लेते। परतु तुम तो सीधा बीच मे हाथ डाल रहे हो। क्या तुम मूर्ख नही हो, ठीक वैसे ही जैसे चाणक्य है ?"

चाणक्य को इतना अच्छा बोध मिला कि फिर वह मूर्ख नही रहा। यह एक कहानी है और इसलिए मैं कह रहा हू कि मुझे लगा मैंने श्वास के विषय मे और शरीर के विषय मे पिछली गोष्ठियो मे जो कहा, शायद कुछ श्रोताओ को या बहुत सारे श्रोताओ को ऐसा लगा होगा कि जहा बात चली थी कि मन को शान्त कैसे किया जाये, मन को एकाग्र कैसे किया जाये, वहा बात चल रही है शरीर की और श्वास की, जबकि हमे ध्यान केन्द्रित करना चाहिए मन पर।

यदि हम पहले मन पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो हम भी चाणक्य जैसे और खिचडी खानेवाले जैसे मूर्ख बन सकते हैं। मन को पहले छूने की जरूरत नही है। हमे जब ध्यान करना है और ध्यान मे स्थिर होना है, तो पहले मन पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नही है। पहले खिचडी जो ठडी हो गयी है, उसे खा लेना है। हमे समझ लेना है कि मन के आसपास क्या क्रियाए और प्रतिक्रियाए होती हैं। जब हम शरीर को और श्वास को नही समझ पाते और सीधा मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते है तो मूर्खता ही हाथ लग सकती है।

यह कैसे हो सकता है ? इसके लिए थोडा विस्तार मे जाना होगा। मन की स्थिति और मन की क्रिया को समझना हमारे लिए बहुत आवश्यक है। इसे स्थिर करना है। पहले इसे समझना है कि वह क्या है ? उसकी क्रिया क्या है ? प्रक्रिया क्या है और प्रतिक्रिया क्या है ? शरीर को समझे बिना यह नही समझा जा सकता।

आचार्यों ने मन पर्याप्ति के बारे मे बतलाया। इन्द्रियों के विषय मे बतलाया। निर्वृत्ति इन्द्रिय, उपकरण इन्द्रिय—इनके बारे मे बतलाया। किंतु आज मनोविज्ञान के सदर्भ मे, आज के शरीरशास्त्र के सदर्भ मे, उनका अध्ययन नहीं करते हैं तो हमारा ज्ञान प्रस्फुटित नही होता, विकसित नहीं होता। यदि हम प्राचीन साहित्य और मनोविज्ञान—दोनो का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो विषय इतना स्पष्ट हो जाता है कि हमे समझने मे बडी सुविधा होती है।

अव प्रश्न है कि मन चचल है। आखिर चचलता क्या होती है ? इसे पहले समझना चाहिए। जब तक हम चचलता को नही समझेंगे तव तक मन को स्थिर करने के हमारे सारे प्रयत्न विफल हो जाएगे। पहले हमें समझना है कि चचलता क्या है ? इसके लिए हमें शरीर पर जाना होगा। हमारा शरीर ज्ञान करने का माध्यम है।

शरीर में दो ज्ञान-केन्द्र होते हैं—एक मस्तिष्क या वृहद् मस्तिष्क, दूसरा मेरुदंड। ये दो मुख्य केन्द्र हैं। सारे शरीर में ततुओ का एक जाल जैसा है। उन ततुओं में दो प्रकार के ततु हैं—एक ज्ञानग्राही और एक ज्ञानवाही। मूली की जड में रेशे होते है जो रस का आकर्षण करते है, रस को खीचते हैं। उसी प्रकार हमारे ततुओ में एक रेशे जैसे होते हैं। वे रेशे विषय को ग्रहण करते है और उनके द्वारा ग्रहण किया हुआ विषय आगे के तंतु (ज्ञानवाही ततु) मस्तिष्क तक पहुचा देते हैं मेरुदंड के माध्यम से। ये ज्ञानवाही ततु (Sensory Nerves) कहे जाते हैं। वृहद् मस्तिष्क का जो मध्यभाग है उसे भेजा, कारटेक्स कहा जाता है। ज्ञानग्राही ततु विषय को पकडते हैं, फिर ज्ञानवाही ततु उसे ले जाते है और मस्तिष्क के कारटेक्स तक पहुचा देते हैं। फिर अनुभव होता है, प्रत्यय होता है।

एक काम होता है ज्ञान का और दूसरा काम होता है चेष्टा का। मस्तिष्क में दो केन्द्र हैं—एक ज्ञानकेन्द्र (Sensory Centre) और एक चेष्टाकेन्द्र या क्रियाकेन्द्र (Motor Centre)। ज्ञानकेन्द्र का काम है ज्ञान को ग्रहण कर लेना। फिर अनुभव का आदेश होता है चेष्टाकेन्द्र को, क्रियाकेन्द्र को। वह फिर प्रवृत्ति करता है। पैर में काटा चुभा, काटा चुभते ही जो चुभन हुई, उसका ज्ञान ठेठ मस्तिष्क तक पहुच जाता है। फिर वहा से हाथ को आदेश मिलता है कि काटे को निकालो। चेष्टाकेन्द्र सक्रिय हो जाता है। क्रियाकेन्द्र का आदेश होता है और क्रियावाही ततु सक्रिय होकर काटे को निकाल लेते हैं। यह सारी व्यजन से लेकर क्रिया करने तक की प्रक्रिया है।

यह है हमारे शरीर की प्रक्रिया—ज्ञान करने की और क्रिया करने की। सर्दी है, हम बैठे हैं। ठडी हवा चल रही है। हमें सर्दी लग रही है। यह है प्रत्यय या निर्विकल्प प्रत्यक्ष। इन्द्रिय का ज्ञान हो रहा है। यह इन्द्रियजन्य ज्ञान है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे प्रत्यय (Percept) कहते हैं। यह इन्द्रिय का ठीक वोध है। अव यह होने के वाद जो हमारा प्रत्यय हुआ, इन्द्रिय का ज्ञान हुआ, उसके साथ फिर मन जुडता है। हमारी भाषा में पहले व्यजन होता है। व्यजन का मतलव है विषय के पुद्गलो का ग्रहण होकर मस्तिष्क तक पहुच जाना। फिर उस व्यजन का वोध होता है। मन का योग नही केवल इन्द्रियो का ज्ञान रहता है। यहा आते-आते मन साथ जुड जाता है और वह मानसिक विषय वन जाता है। फिर हम आगे चलते हैं। मन साथ मे जुडा तव उस विषय मे तर्क, ऊह, अपोह

होता है। निर्णय होता है और उसके वाद धारणा हो जाती है, अनुभव का सचय हो जाता है, शक्ति का सचय हो जाता है।

शक्ति-सचय तक हम एक कक्षा तक पहुच जाते हैं। प्रत्यय और प्रत्यय से शक्ति-सचय यानी धारणा। अव फिर क्या होता है ? अगली प्रक्रिया शुरू होती है मन की। धारणा हो गयी। हमारे मस्तिष्क मे धारणा के प्रकोष्ठ हैं। प्रत्यय आता है और तत्काल चला जाता है। प्रत्यय सामने नही रहता। हमने एक व्यक्ति को देखा। व्यक्ति चला गया। किंतु प्रत्यय या निर्विकल्प ज्ञान अपने सस्कार छोड जाता है। मस्तिष्क मे एक परिवर्तन होता है कि वह वहा संचित रह जाता है। अव क्या होता है ? प्रत्यय तो चला गया। हमारे मन मे एक प्रतिमा वन गयी। दूसरी कोई उत्तेजना सामने आती है, वह धारणा फिर जागृत हो जाती है। उसे हम कहते हैं स्मृति। सस्कार के जागरण से होने वाला सवेदन स्मृति कहलाता है। सस्कार जागा, जो वामना मे था, वह जागृत हुआ, स्मृति हो गयी। सस्कार और वासना का एक नाम है अविच्युति। वह च्युत नही होता। जो अनुभव था, वह च्युत नही होता। वह टिका रह जाता है। वही हमारे सामने फिर स्पष्ट होता है, स्मृति वन जाती है। हमारी चचलता और क्या है ? मन की तीन क्रियाए हैं—स्मृति, विचार और कल्पना। इनका नाम है चचलता। यदि हमारी स्मृति न हो, चचलता हो नही सकती। जव ध्यान करने बैठते हैं, एक के वाद एक अनुभव याद आते जाते हैं। ऐसा लगता है कि मानो कोई किवाड खुल गया, नाला खुल गया, और पानी वहता चला आ रहा है। स्मृति का नाला खुल जाता है, स्मृति का दरवाज़ा खुल जाता है और वह ऊपर से ऊपर आने लग जाती है। यह है हमारी चचलता।

दूसरी हमारी चचलता है कल्पना। हम मकल्प और विकल्प करने लग जाते हैं। यह कल्पना क्या है ? यह भी स्मृति का ही एक परिणाम है। अगर स्मृति नही है तो कल्पना नही हो मकती। कल्पना स्मृति का ही एक रूप है।

मनोविज्ञान तीन वातें मानता है—स्मृति, प्रतिमा और कल्पना। हमने एक मकान देखा। हम आगे चले गए। मकान तो चला गया। किंतु मकान की प्रतिमा हमारी आखो के सामने आ जाती है, वह प्रतिमा वन जाती है। प्रतिमा क्या है ? जैमी स्मृति होती है वैसी प्रतिमा वन जाती है। कल्पना कर हम कुछ न कुछ नया और जोड देते हैं। एक आदमी गर्मी मे वैठा है। लूए चल रही हैं। पसीने से तर-व-तर हो गया। यह हमारा प्रत्यय है। गर्मी चली गयी। साझ का समय आ गया। और ठडक भी हो गयी। स्मृति उभरती है—ओह! कितनी गर्मी थी ? किस प्रकार मैं पसीने से तर-व-तर था। यह एक प्रतिमा हमारे सामने आ जाती है। कल्पना मे क्या होता है ? कोई मित्र आया। अरे भाई! क्या पूछते हो, आज तो कितनी भयकर गर्मी थी। गर्मी क्या थी, आग वरस रही थी। अव यह आग

वरस रही थी, कल्पना मे नया और जुड गया। बरसना भी जोड दिया और आग को भी जोड दिया। गर्मी चली गयी। आग वरस रही थी, आग और वरसना दोनो आ गये। यह हो जाती है हमारी कल्पना। कल्पना, स्मृति और विचार—ये चचलता के तीन रूप हैं। तीनो मन की क्रियाएं हैं। तीनो अलग नही हैं। एक ही मन की प्रक्रिया और शृखला मे ये होते हैं। मन की क्रिया मे स्मृति होती है, मन की क्रिया मे विचार होता है, मन की क्रिया में कल्पना होती है। तीनो मन की क्रिया में होते हैं। और एक ही साथ तीनो चलते हैं। इसी का नाम है चचलता।

स्मृति की उधेडबुन, कल्पना का तानावाना और विचार की शृखला, इसका नाम है चचलता। चचलता कहिए, चाहे मन की क्रियाशीलता कहिए, चाहे सस्कारो की क्रियाशीलता कहिए, एक ही बात है। यह तो स्वाभाविक प्रक्रिया है मन की। मन के लिए कोई बुरी बात नही है। मन का काम है गतिशीलता। मन का काम रुकना नही है। मन का काम है गतिशील होना और गतिशील रहना। जब हम मन को उत्पन्न करेंगे, मन को रखेंगे तो मन का यह निश्चित काम है, और उसी काम से मन चलता है।

अब फिर प्रश्न आता है स्थिरता का। स्थिरता क्या है, यह बताने की जरूरत नही है। स्मृति का न होना, कल्पना का न होना और विचार का न होना, स्थिरता है। बडी कठिन बात है। हमारी आदत भी वन जाती है। एक सस्कार सस्कार मात्र होता है, और एक सस्कार आदत बन जाती है। जो सस्कार गाढ हो जाता है, वह आदत वन जाती है। एक बात को बार-बार दुहराइए, बार-बार याद कीजिए, बार-बार ध्यान केन्द्रित कीजिए वह विचार सस्कार से आगे आदत का रूप ले लेता है। और आदत वनने के बाद ऐसी कठिनाई है, कि हम चाहे या न चाहे, वह काम हमे करना पड जाता है। क्योकि आदत मे सस्कार की प्रगाढता हो जाती है।

एक कहानी है। वह हमारी मन स्थिति को बहुत सुन्दर ढग से स्पष्ट करती है। तीन मित्र थे और तीनो मे एक-एक आदत थी। एक की आदत थी बार-बार आखो को खुजलाना, आखो पर हाथ फेरना। दूसरे की आदत थी शरीर को बार-बार खुजलाना। और तीसरे की आदत हो गयी कि पानी मे वार-वार हाथ डालना। ये आदतें कोई काम की नही थी। कोई उपयोग भी नही था इनका। पर आदत मे उपयोग और अनुपयोग का सवाल नही उठता। प्रश्न है सस्कार की प्रगाढता, स्मृति की प्रगाढता। जिसकी स्मृति बहुत गाढ बन जाती है, जो सस्कार बहुत गाढ बन जाता है, वह काम चाहे-अनचाहे व्यक्ति कर लेता है। उनकी भी ऐसी आदत हो गयी थी। दूसरे व्यक्तियो को बुरा भी लगता। आसपास के लोग टोकते भी, पर करें क्या? उनकी तो विवशता थी सस्कार की। एक व्यक्ति ने एक दिन प्रस्ताव किया कि तुम लोग अगर ये आदतें छोड दो तो हम तुम्हे पुरस्कार

देंगे। प्रत्येक व्यक्ति को एक-एक हजार रुपया, अगर एक दिन के लिए भी आख नही मलो, शरीर को नही खुजलाओ और पानी मे हाथ नही डालो तो।

लोभ था रुपयो का और इधर विवशता थी आदत की, सस्कारो की। परन्तु लोभ वडा था, इसलिए तीनो ने स्वीकार कर लिया। वह व्यक्ति उन तीनो को नौका मे वैठाकर चल पडा। तीनो थे, साथ मे कुछ और लोग भी थे। चलते गये, चलते गये किन्तु आखिर मे जव स्मृति तीव्र होती है, उस समय आदमी को दुर्वल वना देती है, सकल्प को क्षीण वना देती है। स्मृति प्रवल हुई। सस्कार जागा। रहा नही गया। एक ने सोचा, क्या करू ? ऐसे तो नही होगा। वह वोला, "मैं तुम्हे आज एक वात सुनाता हू। मेरे था एक मामा और मामा के थी वकरी। वकरी के कान इतने वडे थे कि जव वह चाहती अपनी आखो को ऐसे मल लेती" —यो कहकर उसने आखें मल दी।

दूसरे ने सोचा,—अरे! इसने तो काम कर लिया। उसकी स्मृति और जाग गयी। उसने कहा, "तुम कैसी वेवकूफी की वात करते हो ? मैं इससे भी वडी वात कहता हू। मेरे था एक दादा। और इतना वडा पहलवान था कि वह सुवह अखाडे मे जाता और अखाडे की मिट्टी लेकर अपने शरीर को मलता, रगडता और इस प्रकार मलत-रगडता।" उसने अपने शरीर को भी रगड दिया।

तीसरे की स्मृति भी जाग उठी। उसने कहा, "तुम दोनो वेवकूफ हो। कहा तुम्हारा मामा और कहा तुम्हारा दादा! मरे हुए की वात क्या वताई जाये ? उनको तो श्रद्धाजलि देनी चाहिए।" श्रद्धाजलि के मिष से उसने अपने दोनो हाथ पानी मे डाल लिये।

यह क्या है ? पानी मे हाथ डालने से उसे कोई आनन्द नही आया। आख मलने से उसे कुछ मिला नही। शरीर को मलने से उसे कुछ मिला नही, शरीर को खुजलाने मे उसे कुछ मिला नही। यह है स्मृति का आवेग। स्मृति जव तीव्र होती है, और वह स्मृति जव आदत के रूप मे वन जाती है, जव उत्तेजना करती है, तव व्यक्ति सव कुछ भूल जाता है, स्मृति के अधीन हो जाता है। यानी चचल हो उठता है, क्षुब्ध हो उठता है। यह क्षोभ, यह उत्तेजना और यह चचलता, इस स्मृति के कारण होती है। कल्पना के कारण भी ऐसा ही होता है और विचार-प्रवाह मे भी ऐसा ही होता है।

उत्तेजना क्यो मिलती है ? इसके दो कारण हैं। पहला कारण है—विषय की सन्निधि और दूसरा कारण है—आन्तरिक। विषय सामने आया, आख ने पकडा, आख का सवेदन मस्तिष्क तक पहुचा, मन तक पहुचा और मन की चचलता वढ गयी। यह होती है वाहरी उत्तेजना। एक होती है भीतरी उत्तेजना। वह हमारे लिए वहुत महत्त्वपूर्ण है। वह है वायु और प्राण। श्वास और वायु। वह है आन्तरिक उत्तेजना। हमारी शरीर की सारी क्रिया वायु के द्वारा सचालित होती है। यदि

वायु न हो, श्वास न हो तो शरीर बिलकुल खभे जैसा बन जायेगा। ज्ञानवाही ततु न हो, चेष्टावाही ततु न हो तो भी यही स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

ज्ञानवाही ततु को काट देने से हाथ चेष्टा करेगा पर जान नही पायेगा। चेष्टावाही ततु को काट देने से वह जान सकेगा परन्तु चेष्टा नही कर पायेगा। मनोविज्ञान ने ऐसे कई प्रयोग किये हैं। एक व्यक्ति के चेष्टावाही ततुओ को काट दिया। सामने दृश्य है, देखता है पर कोई क्रिया करने की उसमे क्षमता नही है। कुछ भी नही कर सकता। हाथ को नही चला सकता। ये दोनो बराबर मिलते है—ज्ञानवाही ततु और चेष्टावाही ततु। फिर कल्पना और स्मृति का योग होता है। तत्काल वह क्रिया निष्पन्न हो जाती है। वायु से क्रिया होती है।

पूज्यपाद विद्यानन्दि ने बहुत सुन्दर लिखा है—

> प्रयत्नाद् आत्मनो वायु, रागद्वेषप्रवर्तितात्।
> वायो शरीरयन्त्राणि, वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु॥

आत्मा के प्रयत्न से वायु पैदा होती है। उस वायु से शरीर का सारा यत्र सचालित होता है, सारी क्रियाए निष्पन्न होती हैं। वायु की बहुत बडी मुख्यता है। शरीर और वायु इन दोनो को ठीक समझें तो हम चचलता को ठीक समझ सकते हैं, स्थिरता को समझ सकते हैं। चचलता को मिटा सकते है और स्थिरता को प्राप्त कर सकते हैं। अगर शरीर और वायु को ठीक न समझे तो हम कुछ भी नही कर सकते।

चौदह पूर्व हैं। उनमे एक पूर्व था 'प्राणावाय', जिसमे सारा प्राण का विवेक था। वायु का विवेचन था। प्राण और अपान का विवेचन था। आज वह नही रहा। इतना बडा महत्त्व का है यह काम कि यदि हम ठीक प्राण को समझ लें, शरीर की रचना को ठीक समझ लें, तो फिर यह नही सोचेंगे कि मन स्थिर क्यो नही होता ? मन को पकडने की जरूरत नही है। हम मन को तो अपने आप वैसे ही कर लेते हैं कि शेष बगाल को विजित किया, ढाका अपने आप घिर जायेगा। जब घिर जाता है, मन कहा टिक पायेगा ? मन फिर चल नही हो सकता।

पाच वायु मुख्य मानी गयी है—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। व्यानवायु हमारी त्वचा मे व्याप्त रहती है। तिब्बत के योगी इसे कुछ भिन्न प्रकार से मानते हैं। वे व्यानवायु का मुख्य केन्द्र मानते हैं जननेन्द्रिय के पास। उनकी दृष्टि मे व्यानवायु का केन्द्र वहा है। सकल्प क्या है ? विकल्प क्या है ? व्यानवायु के साथ मन का योग होना, इसका नाम है सकल्प और विकल्प। आप व्यानवायु से मन को हटा लीजिए, सकल्प-विकल्प उत्पन्न ही नही होगे।

इसीलिए जालधर बध की योजना की है। व्यानवायु को जीतने के लिए जालधर बध करना, कठ मे सयम करना। कठ मे सयम करने का अर्थ है—

हैं तो मन कभी त्रिकाल मे भी शान्त होने को नही है। इसलिए आज का हमारा विवेचन इसी रूप मे था कि हम कार्य को छोडकर कारणो को शान्त करने का प्रयत्न करे। अब इस विषय मे जिज्ञासाए प्रस्तुत की जा सकती हैं।

प्रश्न समाधान

प्रश्न—शरीर की जो चचलताएं होती हैं, वे केवल शरीर से ही नही होती। हमारा हाथ आगे बढता है तो सुखद स्पर्श की कल्पना होती है। आखें दौडती हैं तो उसके पीछे भी मन की कोई कल्पना होती है। शरीर की जो भी क्रियाए होती हैं, मन की ओर नही जाती। मन शरीर की ओर जाता है। मेरा ऐसा खयाल है कि शरीर की अपेक्षा हम मन को शान्त कर लेते हैं, तो ये सारी क्रियाए स्वत: ही शान्त हो जाती हैं। कृपया इसे स्पष्ट करेंगे।

उत्तर—मन पर ध्यान देने वाले लोगो की शिकायत हमेशा यह रहती है कि मन स्थिर नही रहता। और यह प्रश्न हज़ारो-हज़ारों लोगों के द्वारा पूछा जाता है। वे प्रयत्न करते हैं ध्यान करने का, पर चचलता नही मिटती। इसका कारण यही है कि मन को तब तक शून्य नहीं किया जा सकता, जब तक हम सस्कार-कोष को नही समझ लेते, सस्कार-कोष पर होने वाली उत्तेजना को नही समझ लेते और संस्कार-जागरण की प्रक्रिया का शमन कैसे हो सकता है, इस बात को नही समझ लेते। चचलता आ रही है शरीर के माध्यम से या आ रही है स्मृति के माध्यम से। स्मृति और शरीर, ये दोनो बहुत निकट आ जाते हैं। निकट इस अर्थ मे कि स्मृति का कोष जो है वह हमारे मस्तिष्क मे है। और यह केवल मनोविज्ञान की दृष्टि से नही, जैन आगमो की दृष्टि से भी हम विचार करें तो जितना हमारा वीर्य है, शक्ति है, वह सारी-की-सारी पौद्गलिक शक्ति के आधार पर होती है। यह मस्तिष्क हमारी मन पर्याप्ति है। यह मन की ऊर्जा का केन्द्र है। प्राण की ऊर्जा उत्पन्न होती है, मस्तिष्क से और स्मृति के प्रकोष्ठो से। स्मृति के जो प्रकोष्ठ हैं, उनको केन्द्रित किया जाता है जैसा कि मनोवैज्ञानिको ने प्रयोग किया। एक कुत्ते के ज्ञानवाहक ततु को काट दिया। आख खुली, वह देखता है, पर उसे पता नही कि क्या देखता है। समझ नहीं पाता। केवल देखता है। जैसे आजकल क्रोध के ततु को काट देते हैं तो फिर क्रोध नही आता। क्रोध की सामग्री सामने है, फिर भी गुस्सा नही आयेगा। शरीर और मन दोनो की मिली-जुली क्रिया है पर्याप्ति और प्राण। पर्याप्ति के बिना प्राण का कार्य नही होता। पर्याप्ति के बिना प्राण का प्रयोग भी नही हो सकता। उपकरण इन्द्रिय खराब है, निर्वृत्ति इन्द्रिय खराब है। हम देख नही सकते। हम सुन नही सकते। हम कुछ भी नही कर सकते। यह तब होता है जब निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धि का उपयोग होता है। उपयोग चौथी कक्षा मे आता है। उपयोग है मन की चचलता। सारा उपयोग नहीं, किन्तु

इन्द्रियो का उपयोग। मन की चचलता है उपयोग। किन्तु उपयोग होता कब है ? निर्वृत्ति है, उपकरण है, किन्तु कान का पर्दा फट गया, फिर चाहे ढोल वज रहा हो, चाहे सायरन वज रहा हो, कुछ भी हो रहा हो, सुनायी नही देगा। सुनायी नही देगा तो मन क्षुव्ध नही होगा।

मन की चचलता के तीन मुख्य सवेदन हैं

१ त्वचा का सवेदन।

२. श्रोत्र का सवेदन।

३ चक्षु का सवेदन।

ये तीनो हमे प्रभावित करते हैं।

त्वचा का सवेदन सबसे वडा सवेदन है जो वहुत प्रभावित करता है हमारे मन को। दूसरा श्रोत्र का और तीसरा दर्शन का। त्वचा के सवेदन को आप शून्य कर दीजिये, श्रोत्र के सवेदन को शून्य कर दीजिये और चक्षु के सवेदन को शून्य कर दीजिये। फिर कितने ही रूप सामने आ जायें, कितने ही शव्द सामने आ जाये और कितने ही स्पर्श आ जाये, हमारे मन पर कोई असर नही होगा। हमारे मन मे कोई क्षोभ पैदा नही होगा। पानी मे एक ढेला फेंकते हैं और हज़ारो ऊर्मिया उठ जाती हैं। पानी मे ऊर्मिया उठती है पर वे ढेले के निमित्त से उठती हैं। हमारे मन मे भी जो ये ऊर्मिया उठती हैं—राग की ऊर्मिया, द्वेष की ऊर्मिया, इच्छा की ऊर्मिया, वासना की ऊर्मिया—ये सारी ऊर्मिया उठती हैं उत्तेजना को पाकर। प्रज्ञापना सूत्र मे वहुत विस्तार से यह समझाया गया है कि निमित्तो के विना अच्छी से अच्छी शक्तिया निकम्मी चली जाती हैं और बुरी शक्तियां भी निकम्मी चली जाती हैं। हम इस वात को गौण नही कर सकते कि जो निमित्त हैं, वे हमारे उपादान को अभिव्यक्ति देते है। विना निमित्त के अभिव्यक्ति नही हो सकती। विद्युत् की धारा प्रवाहित हो रही है किन्तु वल्व नही है, आप प्रकाश नही कर सकते। प्रकाश तभी होगा जव उसे अभिव्यक्ति देने वाला वल्व होगा। निमित्त उपादान को हमारे सामने रखता है।

हम इस वात को मान ले हमारे सामने कोई कठिनाई नही, कि मन को शात करने से यह सव अपने आप ठीक हो जाता है। और मैं यह एकान्त की भाषा मे नही कह रहा हू। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो सीधा मन पर प्रहार करते हैं। किन्तु यह आपवादिक वात है। यह उन लोगो के लिए होती है, जिन्होने काफी शक्ति का सचय पहले कर लिया है। इतनी शक्ति अर्जित है कि सीधा आक्रमण किया और विजय पा ली। किन्तु यह सामान्य प्रक्रिया नही है। सामान्य बात नही है। सामान्य वात है कि निमित्तो पर ध्यान केन्द्रित कर, निमित्त की समस्याओ को सुलझाकर फिर उपादान को वश मे लाना।

हम कर्मशास्त्र को अगर गहराई से पढें तो हमे आश्चर्य होगा। उदय मे आने

व्यानवायु को जीतना।

लाडनू की बात है। एक व्यक्ति बैठा था। उसने कहा—यहा से तीस-चालीस मील की दूरी पर एक मठ है। मैंने वहा जाकर पूछा एक सन्यासी से—आपके यहा ध्यान की पद्धति क्या है ? उन्होंने बताया—हम तो विशेष नही जानते। इतनी-सी हमारी परम्परा है कि ध्यान करने के लिए जब मन को स्थिर करना होता है तो कठकूप मे ठुड्डी को टिका देते हैं और फिर ध्यान करते हैं। इससे मन शात और स्थिर हो जाता है।

मैंने उससे कहा कि तुमने मूल बात को पकडा है। क्योकि व्यानवायु के साथ मन का सयोग होने से सकल्प-विकल्प पैदा होते हैं, स्मृतिया उभरती हैं। शरीर की चेष्टाए चालू होती हैं। व्यानवायु को जीतने का सबसे मौलिक और सुन्दर उपाय है, कठ पर सयम करना। जब कठ पर सयम कर लिया जाता है, तो फिर सकल्प कहा से आयेगा ? फिर विकल्प कहा से आयेगा ? फिर कल्पना कहां से आयेगी ? अपने आप सकल्प, विकल्प और कल्पनाए समाप्त हो जाएगी और मन की स्थिरता अपने आप सध जायेगी।

शरीर को समझे बिना क्या हम मन की स्थिरता का उपाय समझ सकते हैं ? हम परिपार्श्व को नही समझें, शरीर को नही समझें, श्वास को नही समझें तो केवल मन को स्थिर करने की बात कभी भी नही समझी जा सकती। प्रक्रिया को समझे बिना मूल विषय को नही समझ सकते। दूसरी एक बात मैं आपके सामने और रखूगा। मद्रास मे एक व्यक्ति मिला। जैन था और श्रीमद् रायचन्द की परम्परा मे विश्वास रखता था। उस व्यक्ति ने कहा—महाराज ! क्या करें ? आज के हमारे जैन लोग और मुझे कहना चाहिए कि जैन मुनि भी ध्यान की परम्परा से बहुत दूर चले गये। उन्हे पता ही नही कि हमारी परम्परा क्या है ? मैंने कहा—तुम करते हो ध्यान ? हा, करता हू। किस परपरा से करते हो ? जैन की परपरा से करता हू। मैंने पूछा—क्या परम्परा है जैन की ? उसने कहा कि जो मुझे गुरु के द्वारा प्राप्त हुई है। जैनो के ध्यान करने की सीधी परम्परा यह है कि जीभ को उलट दो। बैठ जाओ। मन स्थिर और शात हो जायेगा। इसे हठयोग मे कहा गया है 'खेचरी मुद्रा'। इसे जैन परपरा मे कहा गया है—सवर करना। सवर कैसे होगा ? जीभ को उलटकर बैठ जाओ, सवर हो जायेगा। मन का सवर, वाणी का सवर और काया का सवर। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—अपने आप ही सध जायेगी।

बात बहुत अच्छी थी। खेचरी मुद्रा के बारे मे मैं जानता था। किन्तु जैनो की यह प्रक्रिया है, यह बात मैंने मद्रास मे उस भाई से सुनी। इसका भी आशय स्पष्ट होता चला गया। सब वायु मे मूल वायु है प्राण। व्यान आदि सब उसी के अवातर भेद हैं। मूल है प्राण। जीभ को उलटने से क्या होता है ? जैसे ही जीभ को

उलटते हैं, प्राणवायु ऊपर मस्तिष्क मे चली जाती है। और प्राणवायु के ऊपर जाने का अर्थ है—मानसिक विकल्पो की शाति। यह महाप्राण ध्यान का पहला चरण है। भद्रवाहु स्वामी ने महाप्राण ध्यान किया था। आचार्य आषाढभूति ने महाप्राण ध्यान की साधना की थी। महाप्राण ध्यान की साधना क्या है ? वायु को, प्राण को, सिर मे केन्द्रित कर देना। एक बिन्दु पर केन्द्रित कर देना, जिससे प्राण की सारी क्रिया समाप्त हो जाये। जीभ को ऊपर उलटने का मतलब है महाप्राण ध्यान का पहला चरण। आपको सोचने की ज़रूरत नही, आपको और कुछ करने की ज़रूरत नही। जैसे ही जीभ को उलटकर आप बैठ गये, आपका प्राणवायु अपने आप ही ऊपर जाना शुरू हो जायेगा। अगर कोई व्यक्ति घटा भर रह जाये तो कितना आनन्द उसे मिलता है। जीभ को उलटकर घटो तक बैठ जाना बडी कठिन साधना है। कितनी ऊष्मा बढ जाती है! चलते-फिरते अगर यह क्रिया करें तो फफोले भी पड जाते हैं। किन्तु शान्तवृत्ति मे करने से प्राणवायु ऊपर चली जाती है, फिर यह कोई प्रश्न नही रहता कि मन कैसे शान्त हो, मन का विकल्प कैसे मिटे और चचलता कैसे मिटे ? फिर प्रश्न यह हो सकता है कि चचलता कैसे आये ? चचलता को लाना पडता है। ये दो उदाहरण मैंने अभी आपके सामने प्रस्तुत किये, एक खेचरी मुद्रा का या जीभ को उलटकर बैठने का और दूसरा जालन्धर वध का—कठकूप मे सयम करने का। उससे व्यानवायु पर विजय होती है और इससे प्राणवायु ऊपर जाता है। न जाने कितने सम्बन्ध है शरीर के हमारे। अगर शरीर और प्राण के सारे सम्बन्धो को हम समझ लें और थोडा-सा भी अभ्यास करें तो फिर यह मन का प्रश्न, मन की चचलता का प्रश्न, स्मृतियो की उधेड-बुन का प्रश्न, विचार का प्रश्न, हमारे लिए रहता ही नही।

इस सारी प्रक्रिया मे मन को शून्य बनाना एक मुख्य बात है। चेतना के उद्‌घाटन के लिए मन को शून्य करना ज़रूरी है। मन की दो अवस्थाए हैं—शून्य और परमशून्य। मन की शून्यता के लिए शरीर और वायु पर ध्यान केन्द्रित करना बहुत ज़रूरी है। इस संदर्भ मे हमने श्वास पर विचार किया, शरीर पर विचार किया। और जब ये दोनो ठीक हो जाते हैं तो मन अपने आप शून्य हो जाता है। मन के लिए अलग से कोई प्रयत्न करने की ज़रूरत नही, मन अपने आप शून्य हो जाता है। आज हमने शून्य को भरने का प्रयत्न नही किया, किन्तु भरे हुए को शून्य करने का प्रयत्न किया है।

आचार्यश्री ने कहा—अगर हम कारणो को पहले मिटा दें तो कार्य को मिटाने का प्रयत्न हमे नही करना पडता है। और अच्छा यही है कि हम उन कारणो को मिटा दें। निमित्त जब नही रहेगा, उपादान नही रहेगा, दोनो का मिश्रित योग नहीं होगा तो कार्य की निष्पत्ति होगी ही नही। इसलिए यदि हम मन को शान्त करने का प्रयत्न करते हैं और मन को उभारने के कारणो को ज्यो का त्यो रखते

वाले कर्म को हम समाप्त कर देते है। अगर स्थितियो मे, निमित्तों मे तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मे परिवर्तन किया तो उदय मे आने वाले को विफल वना देते हैं, सक्रमण कर देते है। उदीरणा करके अन्यथा कर देते हैं। कर्म वधा था पाप का। अशुभ पुद्गलो का सचय किया था। ऐसा तीव्र प्रयत्न किया शुभ भावो का, कि सारे के सारे पुद्गलो को पुण्य मे वदल दिया। सक्रमण कर दिया। हमने निमित्तो को वहुत गौणता दी है किन्तु उतनी गौणता नही है। निमित्तो का भी वहुत वडा स्थान है। हम 'अश्रुत्वा-केवली' जैसी वात को छोड दें। वह भी घटित होता है, जिस व्यक्ति ने धर्म को नही सुना, कोई निमित्त का आश्रय नही लिया, केवली वन जाता है, उत्कृष्ट साधक वन जाता है। किन्तु अश्रुत्वा-केवली की वात प्रक्रिया नही हो सकती। प्रक्रिया होगी 'श्रुत्वा-केवली' की—जो सुनकर के केवली वनता है। अगर हम व्यवस्था पर विचार करें तो हमे इस वात पर वहुत अधिक महत्त्व देना होगा कि शरीर और श्वास की प्रक्रिया से हम चलें। यह प्रक्रिया सचमुच एक वैज्ञानिक प्रक्रिया होगी। प्रक्रिया की दृष्टि से जहा हमारा विचार है, वहा हमे प्रक्रिया के सन्दर्भ मे शरीर और श्वास, इन दोनो को गहराई से समझकर फिर मन का स्पर्श करना चाहिए। वह हमारी उचित प्रक्रिया होगी।

प्रश्न—सस्कार के केन्द्र को किस प्रकार सयत किया जाये ?

उत्तर—सस्कार सचित रहते हैं। यह सचय-शक्ति, निमित्त के विना जागृत नही होती। अमुक व्यक्ति को मैंने देखा। पाच वर्ष हो गये, मुझे याद नही आया। किन्तु सामने ऐसी पगडीवाला आदमी आता देखा और तत्काल दूर से ही सोच लिया कि यह अमुक व्यक्ति है। यह अमुक की स्मृति क्यो हुई ? पगडी के निमित्त से हुई। यह व्यक्ति की आकृति के निमित्तसे हुई। सस्कार जागृत होता है विषय की उत्तेजना पाकर। प्रतिसलीनता का और मतलव क्या है ? इद्रियो की प्रतिसलीनता (प्रत्याहार) करो अर्थात् सस्कार को विस्मृत करो। सस्कार की विस्मृति की एक साधना है—प्रतिसलीनता। अव रहा सस्कार के जागरण का आतरिक निमित्त। वह है शरीर का क्षोभ, प्राण का क्षोभ और वायु का क्षोभ। वायु पर विजय पाना वहुत जरूरी है। प्राण पर विजय पाना वहुत जरूरी है।

आप स्वय अनुभव करते होगे कि जिस दिन आपके शरीर मे वायु वहुत ज्यादा हो जाती है, आपको वेचैनी-सी अनुभव होती है। और ऐसा लगता है कि इतने विचार ऊपर से आते जा रहे है कि मानो विचारो का सागर ही उमड पडा है। और अधिक वायु हो जाती है तो लोग वहकने लग जाते हैं, वातचीत करने लग जाते हैं। वायु का प्रकोप होने पर स्वप्न भी वहुत आने लग जाते हैं। वायु की तीव्रता, हमारे जो सस्कार-केन्द्र हैं, स्मृति के कोष्ठ हैं, उन पर आघात पहुचाती है। इसीलिए योग के आचार्यों ने इस पर काफी चिंतन करके एक मार्ग निकाला कि प्राण को मध्य मे ले जाओ—इडा और पिंगला इन दोनो से हटाकर सुषुम्ना

मे ले जाओ। जव प्राण सुषुम्ना में चला जायेगा, तो वायु का जो आघात मस्तिष्क पर लगता है वह समाप्त हो जायेगा। स्मृति-कोष्ठो पर जो आघात लगता है वह समाप्त हो जायेगा। कोई भी व्यक्ति प्राण को मध्यवर्ती किए विना, सुषुम्ना मे ले जाए विना, स्मृति-चक्र से मुक्ति पा सके, यह वहुत कठिन वात है।

भगवान् महावीर ने कहा—**मज्झत्यो निज्जरापेही**। मध्यस्थ का अर्थ हम करते हैं—राग नही, द्वेष नही, समता मे रहने वाला। अर्थ तो ठीक है पर सूत्रकार का क्या इतना ही आशय था ? क्योकि जो अर्थ चल रहे है वे इतने ही नही है।

मैं एक पुस्तक पढ रहा था। उसमे एक शब्द आया—**महावीथी**। तत्काल आचाराग का एक वाक्य ध्यान मे आया—**पणया वीरा महावीहीं**—अर्थात् वीर मनुष्य वह है जो महावीथी पर उतर पडे। ऐसे कोई अर्थ समझ मे नही आया। महावीथी पर चल पडे यानी राजमार्ग पर चल पडे। राजमार्ग हो तो उस पर चले, सकरी पगडडी आ जाये तो उस पर चले। यह स्पष्ट दीख रहा है कि अभिधा का अर्थ तो यहा नही है। महावीथी का एक साकेतिक अर्थ रहा है। इसका अर्थ यह क्यो नही हो सकता कि साधना की जो महावीथी—कुडलिनी है, उस पर जो चल पडा है, वह सचमुच वीर आदमी है। **महावीथी अर्थात् कुंडलिनी**।

आप किसी भी तत्र के ग्रन्थ को उठाकर देखिये, आपको यह मिलेगा कि जिस व्यक्ति के प्राण ने सुषुम्ना मे प्रवेश नही किया, वह संकल्पो से मुक्ति नही पा सकता।

'मज्झत्थो निज्जरापेही'—वह मध्यस्थ होता है, क्योकि निर्जरापेक्षी है। वहुत निर्जरा करता है। निर्जरा करने की वहुत सुन्दर प्रक्रिया है—प्राण का सुषुम्ना मे प्रवेश। आन्तरिक स्मृति को जो उत्तेजनाए होती हैं, उनके उपशमन का मार्ग है—प्राण का मध्यवर्ती होना। न इधर, न उधर। मध्य मे आ जाना। संतुलन स्थापित करना। स्मृति पर होने वाले प्राण के आघातो को कम करने के लिए हम प्राण को मध्यवर्ती वनायें। मध्यस्थ वनें। सतुलित वनें।

एक वात और है। समता का भाव जैसे ही आया, वैसे ही आप चाहें या न चाहे, जानें या न जानें, प्राण मध्यवर्ती हो जायेगा। यह समता और प्राणो का मध्यवर्ती होना, दोनो ही जाने-अनजाने सध जाते हैं। अगर आप प्राण को मध्य मे ले जायेंगे तो आपके मन मे समता का प्रवाह वहने लगेगा। और समता मे आप चले गये तो आपका प्राण मध्यवर्ती हो जायेगा। यह हमारी आतरिक प्रक्रिया है। इन दोनो से स्मृतियो का जो ताना-वाना है, वह स्वय शान्त हो जायेगा।

प्रश्न—स्मृति, विचार और कल्पना हमारे मन को चचल करते हैं। इन हेतुओ का निरसन करने के लिए दो क्रियाए हमारे सामने है—एक योग की और दूसरी मनोविज्ञान की। दोनो मे किसको मान्यता दी जाये ?

उत्तर—मनोवैज्ञानिक वडे विचित्र ढग से आदतों का निवारण करते हैं।

हमें दीखता कुछ है और कारण नीचे कुछ और होता है। एक आदमी को आखो से कम दिखायी देने लगा। उसने डॉक्टरी चिकित्सा करवायी, कोई लाभ नहीं हुआ। डॉक्टर देखता है, आख विलकुल ठीक है। उसमे कोई खराबी नही है। परन्तु दिखायी साफ नही देता है। रोगी गया मनोवैज्ञानिक के पास। मनोवैज्ञानिक तो यह नही देखता कि आख ठीक है या खराव। वह पूछता है कि तुम्हारी स्मृतिया क्या हैं? तुमने क्या-क्या किया है? उसने वताते-वताते कहा, एक वार भय का एक ऐसा धक्का लगा कि आख जिस रूप मे थी वैसे ही रह गयी। मनोवैज्ञानिक ने आख का कोई इलाज नही किया। उसने भय की ग्रथि को खोलने का प्रयास किया। भय की ग्रथि खुलते ही आख ठीक हो गयी। उसने उसे अभय के वातावरण मे रखा। प्रेम के वातावरण मे रखा। मैत्रीपूर्ण वातें करता रहा। भय की वात धीरे-धीरे निकल गयी और वह अच्छी तरह देखने लग गया। ऐसे ही हजारो चिकित्साए हो रही हैं और आश्चर्यकारी ढग से हो रही हैं।

जो भी वात चलती है, हम उसे एकागी दृष्टि से न देखें। एकागी दृष्टि से लेना तो हमारा मार्ग ही नही है। हम तो सवका समन्वय करके चलते हैं। हमारा सम्यक् दर्शन क्या है? हमारा व्रत मवर क्या है? व्रत सवर और सम्यक् दर्शन—ये दोनो ग्रथि-विमोचन की क्रियाए हैं।

सम्यक् दर्शन हो गया, ग्रथिपात का मार्ग वद हो जाता है। हम प्रतिक्रमण करते हैं। प्रतिक्रमण क्या है? प्रतिक्रमण को हमने एक पारम्परिक रूप दे दिया। अन्यथा प्रतिक्रमण आज के मनोविज्ञान के ग्रथिविमोचन की प्रक्रिया से अधिक सुदर मार्ग है। आप किसी मनोवैज्ञानिक के पास जाइये। वह सवसे पहले आपको सुला देगा। और वह आदेश देगा कि शिथिल होकर सो जाइये, तनाव को मिटा दीजिये। यानी पहले कायोत्सर्ग करायेगा।

प्रतिक्रमण मे हम पहले कायोत्सर्ग करते हैं। ठीक मनोवैज्ञानिक भी वही काम करता है। सुला देने के वाद वह निर्देश देगा कि वतलाओ, तुमने आज क्या किया, कल क्या किया, परसो क्या किया, एक महीने पहले क्या किया, वर्षों पहले क्या किया? वह वार-वार यह निर्देश देगा कि तुम मेरे सामने कोई वात छिपाओ मत। जैसे भोला वच्चा अपनी मा के सामने वात कहे, वैसे ही कहते चले जाओ।

प्रतिक्रमण क्या है? पुरानी वातो को याद करो। दशवैकालिक मे आता है—'आलोएज्ज जहक्कम'—क्रम से आलोचना करो। अगर व्यतिक्रम हो गया तो फिर वापस चलो। मनोवैज्ञानिक भी ऐसा ही कहना है कि क्रम से सारी वातें कहते चले जाओ।

क्या प्रतिक्रमण हमारी साधना नही है? वहुत वडी साधना है। हरिभद्र सूरी ने वहुत सुदर वात कही थी—हमारा प्रतिक्रमण, हमारी ईर्या समिति, हमारी भाषा-समिति, हमारा प्रतिलेखन, हमारा आहार और उत्सर्ग सारा का सारा

योग है। हमारा चलना भी योग है। हमारा प्रतिक्रमण भी योग है। हमने साधना को एक अलग अर्थ मे बाध दिया। भगवान् महावीर ने कहा—चक्षु का उन्मेष-निमेष भी उपयोगपूर्वक करो। और जो व्यक्ति चक्षु का उन्मेष-निमेष उपयोगपूर्वक करता है, उसके कर्म की धारा आती है। पहले समय आती है, दूसरे समय वह उसे भोगता है और तीसरे समय समाप्त कर देता है। इतना सरल होता है। यह भी एक प्रक्रिया है।

शरीर की साधना, श्वास की साधना और उसके द्वारा मन को शात करना वह भी एक प्रक्रिया है। दोनो साधना की प्रक्रियाए हैं। अब चुनाव हमे करना है कि आज किसकी जरूरत है। रोटी की भी जरूरत है, दूध की भी जरूरत है और साग की भी जरूरत है। यह निर्णय तो स्वय व्यक्ति को करना है कि आज क्या खाना है? पेट गर्म हो गया है और गडबडा रहा है तो दूध की जरूरत नही। दूध की जरूरत तब है, जब पेट ठीक है, स्वस्थ है। पेट ठीक नही है, दस्तें लग रही हैं तो दूध और अधिक नुकसान कर देगा। यह तो किस समय किस क्रिया का उपयोग है, किस पद्धति का हमारे लिए कब उपयोग है, यह पद्धतियो का चुनाव करना एक प्रश्न है। उपयोगिता के कोण से दोनो पद्धतिया हमारे लिए उपयोगी हैं।

६

स्मृति का वर्गीकरण

- स्मृति के चार प्रकार—
    - संबद्ध स्मृति
    - असंबद्ध स्मृति
    - निरुद्ध स्मृति
    - स्मृति-शून्यता
- स्मृति को उत्तेजित करने के तीन साधन—
    - मन
    - शरीर
    - इशारा

•

चेतना और अभिव्यक्त चेतना—ये चेतना के दो स्तर बन जाते हैं। अनावृत चेतना, चेतना का अस्तित्व है और वह अपने स्वरूप मे रहती है। किंतु उसकी जितनी अभिव्यक्ति है, वह सारी-की-सारी शरीर के माध्यम से होती है। चाहे इद्रियो की अभिव्यक्ति, चाहे मन की अभिव्यक्ति। इद्रिय चेतना हमारे गोलको के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

चक्षु एक गोलक है, उससे देखने की चेतना अभिव्यक्त होती है। श्रोत्र का गोलक है, सुनने की चेतना अभिव्यक्त होती है। तो सारी अभिव्यक्ति इद्रियो के माध्यम से यानी शरीर के माध्यम से होती है। मन अपना काम करता है। मन के स्तर की चेतना अभिव्यक्त होता है मस्तिष्क के माध्यम से। या मेरुदड के माध्यम से। वृहद् मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क और मेरुदड के माध्यम से मानसिक चेतना अभिव्यक्त होती है। चाहे ऐंद्रिक स्तर की चेतना हो, चाहे मानसिक स्तर की चेतना, दोनो अभिव्यक्त होती हैं शरीर के माध्यम से। इसीलिए हमे शरीर के रहस्य का समझना बहुत जरूरी है। मैं समझता हू कि जो व्यक्ति शरीर के रहस्यो को नही समझता, वह अपनी चेतना की अभिव्यक्ति ठीक नही कर पाता। और उस अनावृत चेतना तक पहुचने मे भी उसे कठिनाई होती है।

एक मत्री था। राजा क्रुद्ध हो गया। मत्री को ऊचे बुर्ज पर कैद कर दिया। पत्नी उसकी पतिव्रता थी। वह रोज़ पति का दर्शन करने के लिए आती। आती और देखकर चली जाती। कुछ दिन वीते, पत्नी ने पूछा—आप मुक्त कैसे हो सकते हैं, कोई उपाय वताइये ? आप आखिर मत्री हैं, वुद्धिमान हैं, कोई उपाय सुझाइये। मत्री ने कहा—एक उपाय हो सकता है। कल तुम कुछ चीज़ें ले आओ। पत्नी ने कहा—क्या चीज़े लाऊ ? मत्री ने कहा—एक लाना भवरा, थोडा-सा शहद और एक रेशमी धागा। एक सूती धागा तथा एक मोटा धागा और एक लाना रस्सा। दूसरे दिन वह आयी और सारी चीजें अपने साथ लायी। मत्री बुर्ज पर वैठा है। वह नीचे आकर खडी हो गई। जैसे वताया था उस विधि से उसने किया। भवरे के रेशमी धागा वाध दिया। रेशमी धागे से पतला धागा वाध दिया, पतले धागे से मोटा धागा वाध दिया और फिर उसके साथ रस्सा वाध दिया। फिर थोडा-सा शहद भवरे के माथे पर लगाया और छोड दिया। भवरे को शहद की गध आती है। वह ऊपर की ओर जाता है। सोचता है कही ऊपर से गध आ रही है। वह ऊपर की ओर उडा। मत्री बुर्ज पर वैठा था। उसने भवरे को पकड लिया।

मत्री ने रेशमी धागे को खीचा तो छोटा धागा आया। उसे खीचा तो पतला धागा आया। उसे खीचा तो मोटा धागा और उसे खीचा तो मोटा रस्सा हाथ मे आ गया। रस्से को ठीक से वाधा और उसके सहारे नीचे उतरकर भाग गया।

यह एक वौद्धिक-सी वात लगती है पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण रूपक है। जो

व्यक्ति रेशमी धागे को पकड लेता है, उसके हाथ मे पतला धागा आ जाता है। जिसके हाथ मे पतला धागा आ जाता है, उसके हाथ मे मोटा धागा आ जाता है। जिसके हाथ मे मोटा धागा आ जाता है, उसके हाथ मे रस्सा आ जाता है। और जिसके हाथ मे रस्सा आ जाता है, वह उतर जाता है, मुक्त हो जाता है। गहराई मे चला जाता है।

यह श्वास रेशमी धागा है। यह हाथ मे आता है तो पतला धागा अर्थात् नाडिया हाथ मे आ जाती हैं। जब नाडिया पकड मे आ जाती हैं तो विचार का धागा भी पकड मे आ जाता है। और जब विचार का धागा पकड मे आ जाता है तो प्राण का रस्सा भी हमारी पकड मे आ जाता है और उसके सहारे हम मुक्त हो जाते हैं, उतर जाते हैं चेतना की गहराई मे। चेतना की गहराई मे चले जाते है तो बधनो से मुक्त हो जाते हैं।

श्वास, नाडिया, विचार और प्राण को समझने की आवश्यकता है। प्राण की गहराई मे गये तो चेतना की गहराई मे जाने का द्वार हमारे लिए खुल जाता है, उन्मुक्त हो जाता है। यह बहुत ही मर्म और रहस्य की बात है। श्वास को समझे बिना हम नाडियो को नही समझ सकते। नाडियो को समझे बिना हम विचार को नही समझ सकते। विचार को समझे बिना हम प्राण को नहीं समझ सकते। प्राण को समझे बिना हम चेतना की गहराई मे नही जा सकते और जहा हमे पहुचना चाहिए, वहा नही पहुच सकते।

हमे पहुचना है चेतना की गहराई मे। किंतु यह पहुचने का जो रास्ता है, पहुचने का जो क्रम है, उसे छोडकर हम पहुचने का प्रयत्न करते हैं, तो शायद हम उलझ जाते हैं, बीच मे लटक जाते हैं और ऐसा महसूस होता है कि हमने इतना प्रयत्न किया किंतु जहा पहुचना था, वहा पहुच नही पाये। इसीलिए श्वास को समझना जरूरी है। इसके सबध मे पहले भी अपनी चर्चा हो चुकी है और काफी बातें प्रस्तुत भी की जा चुकी हैं। पिछली गोष्ठी मे नाडियो के सबध मे भी चर्चा हुई थी कि हमारे जो ततु हैं, सपूर्ण नाडी-सस्थान है, उसे हम नही समझते हैं तो शायद विचारो को समझने मे हमे कठिनाई होगी। उसे समझना बहुत जरूरी है और उसे समझ लेते हैं तो विचारो को समझने मे कठिनाई विशेष नही होती है। विचार से मतलब यहा चिता या स्मृति से है। हमारी सारी कठिनाई क्या है ? यह स्मृति की कठिनाई है। स्मृति का छेद ऐसा है कि उसमे से सब कुछ झरता रहता है। इसलिए हमे आज गहराई मे और विस्तार से स्मृति को समझना है।

हमारे जीवन का बहुत सारा व्यवहार स्मृति के सहारे चलता है, स्मृति के आधार पर चलता है। स्मृति के चार प्रकार हैं

१ संबद्ध स्मृति

२ असंबद्ध स्मृति

३ निरुद्ध स्मृति

४ स्मृति-शून्यता।

पहली है—सवद्ध स्मृति, सामान्य स्मृति। जो वात हम याद करते हैं, वह वात हमे याद आती चली जाती है। मनुष्य मे सामान्य स्मृति होती है और उसी के आधार पर ही जीवन का काम चलता है। अगर स्मृति नही होती तो आप लोग यहा एकत्र नही होते। स्मृति है कि आज एक वजे गोष्ठी मे पहुचना है। यह धारणा थी, स्मृति हुई और सब लोग यहा एकत्रित हो गये। स्मृति होती है, तब हम खाते हैं। स्मृति होती है, तव हम वातचीत करते हैं। स्मृति होती है, तब हम व्यवहार करते हैं। स्मृति के विना हमारे जीवन का कोई भी काम नही चलता। यह है हमारी सामान्य स्मृति जो कि हमारे सारे व्यवहार का सचालन करती है। किंतु इस स्मृति मे भी एक कठिनाई पैदा हो जाती है। वह है असवद्ध स्मृति। यानी स्मृति अस्त-व्यस्त हो जाती है। सवधहीन स्मृति होने लग जाती है। एक वात याद करनी शुरू की और वीच मे इतनी वाते याद आने लग जाती हैं कि स्मृति अस्त-व्यस्त होने लग जाती है। वह होती है असवद्ध स्मृति। असवद्ध स्मृति मे कोई संवध नही रहता। सवध टूट जाता है। तो एक होती है सवद्ध स्मृति और दूसरी होती है असवद्ध स्मृति, जिसे विक्षेप या पागलपन भी कहा जाता है। असवद्ध स्मृति के कई रूप होते है। जैसे स्मृति का आवर्तन। एक वात याद आ गयी। सर्दी तो चली गयी, दोपहर का समय आ गया, फिर भी सर्दी खूब थी, यह विचार मन मे चक्कर काटता रहा। वह स्मृति छोडने से भी छूटती नही है। स्मृति का आवर्तन होता रहता है। यह असवद्ध स्मृति के कारण ऐसा होता है।

एक होता है स्मृति का विपर्यय। कहा कुछ और याद कुछ रहा। कहा था कि तुम्हे भीनासर जाना है किंतु चला और चलते ही भूल गया। वीकानेर की ओर चला गया। ऐसा होता है वहुत वार। कहा—चार वजे वातचीत करने के लिए आना है। पाच वजे पहुचा और जव पूछा कि इतनी देरी से क्यो आये तो उत्तर मिला कि आपने मुझे पाच वजे के लिए ही कहा था। यह स्मृति का विपर्यय हो जाता है। देश का विपर्यय, काल का विपर्यय, वस्तु का विपर्यय हो जाता है।

आचार्य ने शिष्य को वताया—तुम्हे साधना के मार्ग मे जाना है। और मैं तुम्हें एक सूत्र देता हू। **जीव देह से भिन्न है**—यह सूत्र दे दिया। कुछ दूर रटता रहा, फिर भूल गया। आगे गया। देखता है कि एक खलिहान मे तुष अलग किये जा रहे हैं। मासे अलग किये जा रहे हैं। उसने देखा। याद आ गया। ओह! आचार्यजी ने यही कहा था—**तुषणां मासो भिन्न**। तुप से मास भिन्न है। कितना विपर्यय हो गया। कहा था कुछ, याद रहा कुछ। वह उस वात को भूल गया कि 'जीवो देहाद् भिन्न।' इस प्रकार स्मृति का विपर्यय भी होता रहता है।

स्मृति का आवर्तन होता है। स्मृति का विपर्यय होता है। और एक होती है

विस्मृति। यानी बिलकुल ही भूल जाना। अभी कहा और दो मिनट के बाद भूल जाते हैं। भुलक्कड स्वभाव हो जाता है। ये सारे असबद्ध स्मृति के स्रोत हैं या उसके पर्याय हैं। असबद्धता—सबधहीन स्मृति होना, स्मृति का विपर्यय होना, स्मृति का आवर्तन होना और विस्मृति होना—यह सारा एक वर्ग मे आ जाता है। ऐसा क्यो होता है ? मनोविज्ञान ने इसका कारण माना है, सस्कार-प्रसक्ति। यानी असबद्ध स्मृति क्यो होती है ! एक स्मृति बार-बार क्यो आती है ? यहा सस्कार की प्रसक्ति हो जाती है, सस्कार इतना गाढ जम जाता है कि फिर छुटाए नही छूटता है।

स्मृति अपने आप मे कोई चीज नही है। वह तो केवल अभिव्यक्ति है। मूल चीज है धारणा, सस्कारकोष। वह है मूल। सस्कारकोष अगर ठीक होता है तो स्मृति ठीक हो जाती है। सस्कारकोष मे अगर गडबडिया होती है तो स्मृति मे गडबडी हो जाती है। इसीलिए भारतीय वैद्यो ने कुछ औषधियो का आविष्कार किया। ब्राह्मी, सारस्वत चूर्ण, मालकागनी आदि-आदि औषधियो का आविष्कार किया। यदि धारणाशक्ति दुर्बल हो गयी तो इन औषधियो का उपयोग करो, धारणाशक्ति पुष्ट हो जायेगी। स्मृति मे गडबडी नही होगी। मालकागनी का, ब्राह्मी का सेवन करने वाले लोग स्मृति का, धारणाशक्ति का बहुत विकास कर लेते हैं।

पडित रघुनन्दनजी बहुत बार कहा करते थे कि जब मैं विद्यार्थी था, ब्राह्मी के पत्ते बहुत खाता था। उनकी स्मृति भी बहुत विलक्षण हो गयी थी। धारणाशक्ति बहुत प्रबल हो गयी थी कि सैकडो-सैकडो श्लोक एक दिन मे याद कर लेते थे। आश्चर्य होगा सुनकर कि चरक और सुश्रुत जैसे ग्रथ लगभग कठस्थ जैसे हो गये थे। काफी श्लोक वे याद कर लिया करते थे। धारणाशक्ति का विकास इन द्रव्यो से होता है।

प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति मे यह बतलाया गया है कि ब्राह्मी आदि के सेवन से मतिज्ञान की शक्ति पुष्ट हो जाती है। मतिज्ञान की शक्ति बढ जाती है।

होमियोपैथी मे इस पर बहुत विचार किया गया है। और वहा तो एक-एक चीज के लिए औषधि का विधान किया गया है। आवेश के कारण स्मृति क्षीण हो तो अमुक औषधि ली जा सकती है। एक-एक औषधि के पीछे उसका लक्षण तथा सारा वर्णन मिलेगा।

योग की पद्धति ने आसनो का विधान किया। स्मृति दुर्बल है, धारणाशक्ति दुर्बल है तो आप शीर्षासन कीजिए, सर्वांगासन कीजिये, जालन्धर बध कीजिये। रग चिकित्सा और रगों की पद्धति मे रगो का विधान किया। स्मृति की दुर्बलता है धारणाशक्ति कमजोर है तो आप अपने मस्तिष्क मे पीले रग का दस मिनट तक चिंतन कीजिये, दस मिनट तक धूसर वर्ण का चिंतन कीजिये, आपकी धारणा

की शक्ति तेज़ हो जाएगी, प्रवल हो जायेगी। ओंकार का जप कीजिये तो मकार की ध्वनि से जो आहनन होगा मस्तिष्क मे, आपकी स्मृति-शक्ति तेज़ हो जाएगी। ये सारे-के-सारे धारणाशक्ति को पुष्ट करने के लिए, शक्तिशाली वनाने के लिए, वैद्यो ने, डॉक्टरो ने, यौगिक आचार्यो ने, भिन्न-भिन्न प्रकार से, अपने-अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये। उनका उपयोग भी है तथा आज भी किया जाता है।

यहा तक साधना का कोई वडा मूल्य नही है। साधना का मूल्य अव आगे शुरू होता है। जव हमारी स्मृति ठीक होती है, स्मृति अपना काम ठीक करती है तो हम असवद्ध स्मृति से हटकर, सवद्ध स्मृति की भूमिका मे आ जाते हैं। स्मृति का जो विक्षेप है, वह हमारा कम हो जाता है। अन्यथा होता क्या है, वैठते हैं भोजन करने के लिए और दुनिया भर की वातें याद आने लग जाती हैं। वह हमारा स्मृति का विक्षेप है, असवद्ध स्मृति है। पागल आदमी कौन होता है? पागल वह होता है, जिसकी धारणा-प्रसक्ति होती है। एक वात को पकड लेता है, उसकी रट छोडता नही है। वह धारणा का वेग इतना वलवान हो जाता है कि आदमी पागल वन जाता है। एक वात की रट लगाये रहता है। वह वात भुलाए नही भूली जाती। पागल हो जाता है। यह है स्मृति का आवेग, धारणा का प्रसारक और धारणा की प्रसक्ति। तो असवद्ध स्मृति से सवद्ध स्मृति मे आना, एक भूमिका होती है।

अव सवद्ध स्मृति मे हमे कहा जाना है साधना की दृष्टि से? वहा हमारी दो भूमिकाए और होती है। एक है निरुद्ध स्मृति की भूमिका, दूसरी है स्मृति-शून्यता की भूमिका। निरुद्ध स्मृति, यानी स्मृति को एक दिशा मे प्रवाहित करना। निरुद्ध करना। निरुद्ध का मतलव रोकना नही है। निरुद्ध का मतलव है एक चीज़ मे लगा देना, व्याप्त कर देना।

ध्यान क्या है? **एकाग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्**—एक आलम्वन पर चिंता—स्मृति को व्याप्त कर देना ध्यान है। एक व्यक्ति को एक मकान मे वद कर दिया गया, रोक दिया गया। इसका मतलव यह नही कि वह कमरे मे घूम-फिर नही सकता, किंतु उस मकान से वाहर नही जा सकता। एक धारावाही जो स्मृति हो जाती है, एक दिशागामी जो स्मृति हो जाती है, वह होती है निरुद्ध स्मृति। यहा से साधना का क्रम प्रारभ हो जाता है। स्मृति को धारावाही वनाना, एक दिशागामी वनाना, एक दिशा मे उसका वहाव कर देना जिससे कि उसका भटकाव न हो, और उसके द्वारा उत्पन्न होने वाली शक्ति या ऊर्जा विखरे नही, यह है निरुद्ध स्मृति।

निरुद्ध स्मृति दो प्रकार की होती है—विषयानुगत और एकविंदु-अनुगत। यानी शव्दानुगत या रूपानुगत। एक विषय में एक स्मृति का वहाव कर दिया, वह विषयानुगत स्मृति होती है। यानी उस विषय से वाहर हमारी स्मृति नही

जाती है। और उससे भी उसका सक्षिप्त रूप यह होता है कि उस स्मृति को हमने किसी एक बिंदु पर टिका दिया। चाहे किसी शब्द पर, चाहे किसी रूप पर, चाहे परमाणु पर, चाहे किसी स्थूल वस्तु पर हमने टिका दिया। वह हमारी होती है एकबिंदु-अनुगत स्मृति।

अंतिम है स्मृति-शून्यता। बिलकुल स्मृति से शून्य हो जाना। स्मृति से शून्य होने का मतलब है, हम चेतना के स्तर पर चले गये। हमारी चेतना स्मृति से अतीत, विचार से अतीत और कल्पना से अतीत है।

वीतराग चेतना होने के बाद न कोई स्मृति होती है, न कोई कल्पना होती है और न कोई विचार होता है। यह स्मृति होती है इन्द्रिय के स्तर पर, मानस के स्तर पर, जब हमारी चेतना होती है। और स्मृति होती है, तब हमारे मन में विचार होता है। स्मृति के बिना कोई विचार हो नही सकता। जिसमें स्मृति नही है, उसमे विचार भी नही है। और जहा विचार और स्मृति नही है, वहा कल्पना भी नही हो सकती। विचार और कल्पना, इन दोनो का मूल आधार है स्मृति। यानी स्मृतिमूलक विचार और स्मृतिमूलक कल्पना। ये सारे स्मृति के कारण होते हैं। चचलता का मतलब है स्मृति। मन मे छेद होने का मतलब है स्मृति। स्मृति आती है, मन में छेद डाल जाती है। मन का पानी टिकता नही, झरने लग जाता है। मन चचल हो जाता है, उद्विग्न हो जाता है। सारी बात का मूल है स्मृति।

बात अच्छी है कि स्मृति को हम निरुद्ध कर दें। स्मृति-शून्य बनें, पर कैसे बनें ? मूल प्रश्न तो यह है कि कैसे बनें ? और इस बनने मे शरीर का, हमारे नाडी-संस्थान का और हमारे श्वास का योग क्या है ?

हमारी स्मृति जागृत क्यो होती है ? उत्तेजना के कारण स्मृति जागृत होती है। बाह्य उत्तेजना मिलती है, स्मृति जागृत होती है। हम जब-जब उत्तेजना को पकडते हैं, तब-तब स्मृति जागृत होती है। स्मृति जागृत होती है प्रकम्पन के द्वारा। अगर प्रकम्पन न हो तो स्मृति जागृत नही हो सकती। जो बात धारणा मे है, वह धारणा मे रह जायेगी, धारणा उद्‌बुद्ध नही होगी। और धारणा जागृत हुए बिना स्मृति जागृत नही होती। स्मृति के जागरण का मतलब है धारणा का, सस्कार का उद्‌बुद्ध होना, जागृत होना। वह होता है प्रकम्प के द्वारा।

हमे प्रकम्पन के सिद्धात को समझ लेना बहुत जरूरी है। प्राचीन काल मे चीन मे एक स्कूल चलता था। उसका नाम था मिंगचायी। स्कूल से मतलब विद्यालय नही बल्कि एक सम्प्रदाय मे है। उस सम्प्रदाय का काम था व्यक्तियो और वस्तुओ के नामो का निर्धारण करना। उनका यह मानना था कि व्यक्ति या वस्तु के जो नाम रखे जाते हैं, अगर नाम ठीक नही होता है तो उसके द्वारा होने वाला प्रकम्पन ठीक नही होता। उससे हमारी शक्ति का ह्रास हो जाता है। और

उसके वाईब्रेशन (प्रकम्पन) ठीक होते हैं तो हमारी शक्ति का सवर्द्धन हो जाता है। उस स्कूल के जो अधिकारी व्यक्ति थे, उनके पास जाकर सब लोग नामो का चुनाव करते थे। वे नाम चुनकर देते। उसके पीछे प्रकम्पनो का सिद्धान्त था। यानी नाम के उच्चारण से किस प्रकार के प्रकम्पन उत्पन्न होते हैं।

यह वहुत वडे महत्त्व का सिद्धान्त है। क्योकि हमारे चित्त का निर्माण प्रकम्पनो के द्वारा होता है। जिस प्रकार के प्रकम्पन हम उत्पन्न कर सकते है, उसी प्रकार की क्रिया होने लग जाती है। आप लोगो ने पढा है, कृष्ण-वासुदेव ने तेला (तीन उपवास) किया। तेला पूरा होते-होते देवता का आसन प्रकम्पित हुआ, देवता को पता चला कि कौन याद कर रहा है। वह कृष्ण-वासुदेव के पास आ गया।

अभयकुमार ने तेला किया। जप करते-करते देवता का आसन प्रकम्पित हुआ, देवता आ गया। कहा देवता असख्य योजनो की दूरी पर और कहा अभयकुमार और कहा कृष्ण-वासुदेव? कैसे पता चला? यह प्रकम्पनो का सिद्धान्त काम कर रहा है। हमारे मन के द्वारा छोडे हुए धारावाही प्रकम्पन, एक दिशा मे जानेवाले प्रकम्पन इतने तीव्र हो जाते हैं कि वहा पहुचकर उस व्यक्ति के आसन को भी प्रकम्पित कर देते हैं। और उस व्यक्ति को पता चल जाता है कि मुझे कोई याद कर रहा है।

आजकल भी विचार-सम्प्रेषण का सिद्धान्त चल रहा है। एक मकान मे पाच कमरे हैं। पाच कमरे मे पाच व्यक्ति वैठ जाते हैं, और परस्पर मे सकेत होता है। एक व्यक्ति एक वात को सोच रहा है। और जो मध्यवर्ती कमरे मे वैठा है उससे कहता है कि मैं तुम्हें विचारो का सम्प्रेषण कर रहा हू। तुम ध्यान रखना। वह अपने विचार को वार-वार इतनी तीव्रता से और उसी एक धारा मे, एक लय मे, एक सगीत मे, एक प्रवाह मे प्रवाहित करता चला जाता है। सामने वाले व्यक्ति को ऐसा लगता है कि कोई वात कर रहा है। और कुछ वात ऐसी आ जाती है और वह लिख देता है कार्ड पर कि यह वात मुझे सूझी। और वहा वह लिख देता है। दोनो को आप मिलाइये। दोनो की एक समान वर्णमाला होगी। समान विचार और समान चितन होगा। यह विचार का सप्रेषण कैसे होता है? यह प्रकम्पन की प्रक्रिया के द्वारा होता है। जव हम एक दिशागामी प्रकम्पन उत्पन्न कर देते हैं, एक दिशा मे अपने विचारो को प्रवाहित कर देते है, विचार सप्रेपित हो जाते हैं। जैसे ही हमारे विचार वाहर आते हैं वैसे ही उनका भेदन होता है। विचारो का भेदन अर्थात् मन के परमाणुओ का भेदन, वचन के परमाणुओ का भेदन और शरीर के परमाणुओ का भेदन होता है। और इतना तीव्रगामी भेदन होता है कि परमाणु उससे टूट जाते है। जैसे परमाणु का भेदन होने पर शक्ति और ऊर्जा पैदा होती है, उसी प्रकार मन का भेदन होने पर एक शक्ति पैदा होती

है, और वह शक्ति इतनी सूक्ष्म और दूरगामी हो जाती है कि वह हमारे विचार के प्रकम्पनो को हमारे सकल्प के स्थान तक ले जाती है।

यह निरुद्ध स्मृति प्रकम्पन का सिद्धान्त है। हमारी स्मृति को एक दिशा मे इतना प्रवाहित करना कि जिससे एक ऐसी धार बन जाये, कि वह धार इतनी सशक्त बने जहा हम उसे पहुचाना चाहते है, वहा तक पहुच जाये। इन्दौर में नेमीचन्दजी मोदी थे। वे विचार-संप्रेषण का बहुत प्रयोग करते थे। एक बार उन्होने अपनी पत्नी से कहा कि जब सन्तान हो, उस समय मुझे याद करना। वे थे इन्दौर मे और पत्नी थी किशनगढ मे। काफी दूर थे। पत्नी ने याद किया और उन्होने अपने घरवालो को बता दिया कि अमुक समय मे मेरे सन्तान हुई है। फिर ठीक उसका प्रामाणिक सवाद मगाया गया। तो पता चला कि दो घटे के पश्चात् यह समय निकलता है। यानी सन्तान दो घटे पहले पैदा हो गयी थी। फिर जाच की गयी कि ऐसा क्यो हुआ ? तब पता चला कि दो घटा तक पत्नी बेहोश रही। और जब स्मृति आयी, तब याद किया। और जब याद किया, वह समय ठीक उन्होंने नोट कर लिया। यानी जागृत होने पर सप्रेषण हुआ।

स्मृति को जब हम एक जगह रोक लेते हैं, एक दिशा मे प्रवाहित करते हैं, तो हमारे प्रकम्पन की क्षमता बढ जाती है। अगर दोनो ओर से हो तो और अधिक सुविधा हो जाती है। कभी-कभी दो व्यक्ति एक समय मे ही एक विचार प्रकट करते हैं। आश्चर्य होता है कि दोनो की शब्दावली भी एक ही होती है। यह अनुभव की बात है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है।

अब प्रश्न है कि निरुद्ध स्मृति कैसे हो ? उसके लिए हमे नाडियो का बोध होना बहुत अपेक्षित है। हमारे शरीर मे जो नाडिया हैं, उनमे कुछ हैं ज्ञानग्राही और कुछ हैं ज्ञानवाही। इन दोनो का बोध होना बहुत ही जरूरी है। मैं समझता हू कि जिसे यह ठीक बोध नही होता, वह ठीक योगी भी नही हो सकता। कौन-सी नाडी कहा से चलती है और कहा जाकर अपना काम शुरू करती है, इसका ज्ञान होना चाहिए। आख हमारी बिलकुल ठीक है। कोई गडबड नही है। किन्तु मस्तिष्क मे जहा आख को शक्ति देने का यन्त्र है, उसे आप काट दीजिये। आख बिलकुल ठीक है पर दिखायी नही देगा। बृहद् मस्तिष्क मे जो श्रोत्रग्राही ततु है, इसे हम अपनी भाषा मे उपकरण कह सकते हैं, उसे आप काट दीजिये। कान ठीक है, पर्दा ठीक है, शब्द हो रहा है तेज, पर सुनायी कुछ भी नही पडेगा। हमारे शरीर मे जो मुख्य-मुख्य ग्रथिया हैं, इनके द्वारा हमारे शरीर और मन का बहुत नियत्रण होता है। पीच्युटरी जो हमारे मस्तिष्क के मध्य मे एक आधा इच की ग्रन्थि है, वह ग्रन्थि अगर विकसित नहीं होती, तो ज्ञान होने पर भी ज्ञान के उपयोग की क्षमता हमारे मे नही होती। हम काम नही ले सकते। जिस व्यक्ति की जननेन्द्रिय की ग्रन्थिया, सेक्स की ग्रन्थिया बहुत सक्रिय हो जाती हैं, विचित्र

रूप में काम-वासना उभर आती है। काम-वासना उभरी है और यदि उस पर हमें नियन्त्रण पाना है, तो हमे यह समझना होगा कि जो सेक्स-ग्रन्थिया हैं, उनको किस प्रकार निष्क्रिय बनाया जाये ? यह सिद्धासन का विकास क्यो हुआ ? काम-ग्रन्थियो को निष्क्रिय बनाने के लिए ही हुआ था। यह पादागुष्ठ-आसन का विकास क्यो हुआ ? इसीलिए हुआ कि इसके द्वारा काम-ग्रन्थियो को निष्क्रिय किया जा सकता है, उस अनुभूति को मिटाया जा सकता है।

आज्ञाचक्र पर ध्यान करने की प्रक्रिया पर अधिक ध्यान क्यो दिया गया ? आज्ञाचक्र पर जब हम ध्यान केन्द्रित करते हैं, तब हमारा ज्ञानचक्र, भावनाचक्र, यानी हृदयचक्र और विशुद्धिचक्र इतने जल्दी जागृत हो जाते हैं, वे सक्रिय हो जाते कि जिसमे नीचे के चक्र अपने आप ही निष्क्रिय बन जाते है। इन सारी प्रक्रियाओ का आशय यही था कि हमारे ज्ञानवाही तन्तुओ को, किस तन्तु को सक्रिय बनाना और किस तन्तु को निष्क्रिय बनाना, इसका ठीक-ठीक बोध यदि हमे मिल जाये तो अनावश्यक उभरने वाली स्मृतिया शात हो जायें। इसीलिए इनका विकास किया गया था। क्या आप कल्पना करते हैं, हमारे शरीर की रचना को और शरीर मे हमारे ज्ञान के तन्तुओ को समझे बिना हम ठीक योग की बात को समझ लेंगे ? या मन को वश मे करने की बात समझ लेंगे ? मैं समझता हू कि ऐसा नही सोचा जा सकता। और जबकि सिद्धान्तत हम यह मान चुके हैं, कि हमारी सारी चेतना की जो अभिव्यक्ति होती है वह सारी की सारी शरीर के माध्यम से ही होती है। शरीर के माध्यम के बिना, चेतना का चाहे जितना विकास हो, आपके कोई काम का नही हो सकता। इन्द्रिय की उपलब्धि और उपयोग हो सकता है किन्तु आकार, रचना और उपकरण ठीक नही है, इन्द्रिया कुछ काम नही देंगी। मानसिक विकास बहुत अच्छा है, किन्तु मस्तिष्क आहत हो गया तो मन कोई काम नही देगा। आपने जोधपुर के लोढाजी के बारे मे पढा होगा कि मस्तिष्क पर कोई ऐसा धक्का लगा कि पाच-सात वर्ष तक केवल यन्त्र की तरह जीते रहे। उनको कोई स्मृति नही थी। वह आहनन मिटा। चेतना लौटी तो सारे कार्य पूर्ववत् करने लगे। किन्तु जब तक मस्तिष्क आहत था, मन काम नही दे रहा था।

इस प्रकार चेतना को बाहर लाने का जो साधन है, वह शरीर है। इसीलिए शरीर पर हमे इतना बल देने की जरूरत है कि साधना की दृष्टि से शरीर को समझना हमारे लिए बहुत आवश्यक है। अगर साधना की दृष्टि से शरीर को न समझें तो जहा पहुचना चाहते हैं, वहा पहुचने मे बाधा हो सकती है।

स्मृति-शून्यता को समझने के पूर्व हमे यह जान लेना है कि किन कारणो से स्मृति की उत्तेजना होती है ? उन कारणो को गौण कर दें, स्मृति-शून्यता अपने आप ही आ जायेगी। हमारी स्मृति को सबसे पहले मन उत्तेजित करता है, दूसरे मे शरीर और तीसरे मे श्वास। सबसे सूक्ष्म चोट होती है श्वास की। इसीलिए

शरीर को शिथिल कर दो। वचनों के प्रकम्पन को समाप्त कर दो। और ध्यान कर लो, यानी मन को भी स्थिर कर लो। श्वास मद, मन शान्त, वचन शा तथा शरीर निष्क्रिय और निश्चेष्ट की स्थिति आती है, तव स्मृति को उत्तेजि करने का कोई भी साधन नही रहता। न वाहर से कोई प्रत्यय होता है, जो स्मृ को उत्तेजित कर सके। क्योकि इन्द्रिया समाप्त हो जाती है, उस स्थिति मे अप आप प्राण ऊपर चला जाता है, श्वास ऊपर चला जाता है, मन्द हो जाता है अं स्मृति-शून्यता की, निर्विकल्प प्रत्यक्ष की स्थिति हमारी चेतना मे आ जाती है हम सविकल्प प्रत्यक्ष से निर्विकल्प प्रत्यक्ष की स्थिति मे आ जाते हैं। सविक चेतना से निर्विकल्प चेतना की स्थिति मे आ जाते हैं। यह है हमारी स्मृति-शून्य की स्थिति।

जव श्वास हमारा नियत्रित, शरीर हमारा नियत्रित और मन हमारा नियं ज्ञानपूर्वक हो जाता है तो उस स्थिति मे अपने आप चेतना को ऊपर जाने का म मिल जाता है, ऊर्ध्वारोहण हो जाता है और चेतना के ऊर्ध्वारोहण मे कोई प्रत्य वाधा उस स्थिति मे नही आती।

प्रश्न : समाधान

प्रश्न—लम्बे समय तक साधना की जाती है, फिर भी जो उपलब्धिया हो चाहिए नही होती। इसमे क्या शरीर के विपय मे अज्ञान है या नाडियो का ज्ञ न होना है? कौन-सा तत्त्व वाधक है?

उत्तर—भारतीय योग मे इस प्रश्न को दो दृष्टियो से विचारा जाता है प्रथम तो यह कि हमारे पुराने सस्कार कैसे हैं? हम केवल शरीर और ना सस्थान तक ही सीमित नही रह सकते। यद्यपि उस साधन को भुला नही सकते वहुत महत्त्वपूर्ण साधन है, फिर भी उसके आगे सूक्ष्म सस्कार होता है, जिसे व कहते हैं। यदि हमारे सस्कारो की अनुकूलता है, यानी ऐसा कोई कर्म वाधक न है और हमे साधना की प्रक्रिया का ठीक ज्ञान है तो साधना के मार्ग मे हम चल शुरू हो जाते हैं। अव लम्बी अवधि का जो प्रश्न है, वह चेतना जगत् का है। क्यो एक यात्रिक चीज होती है, वह उतने समय मे ही वन जाती है। एक धागा वन है, एक कपडा वनता है। निश्चित समय है। इतने समय मे धागा वन जायेग इतने समय मे कपडा वन जायेगा। अचेतन के प्रति तो यह नियम किया जा सक है, किन्तु जहा चेतना की स्वतत्रता और सस्कारो की विचित्रता है, वहा यह लम अथवा छोटी अवधि का नियम नही वनता है। भगवान् महावीर ने पूर्व-जीवन साधना के वाद भी साढे वारह वर्ष तक अनवरत साधना की। जागरूक साध की। इतनी जागरूक साधना की जो हर व्यक्ति के लिए सभव नही। साढे वा वर्ष के वाद केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई और तीर्थंकर मल्लिनाथ जिस दिन दीक्षि

हुए, उसी दिन केवलज्ञानी हो गये। वडा गूढ प्रश्न है कि भगवान् महावीर को साढे वारह वर्षों तक कठोर साधना करनी पडी और मल्लिनाथ को एक दिन मे ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। किसी को कितना समय लगा और किसी को कितना लगा। इसमें अनेक कारण हैं और सवसे महत्त्वपूर्ण कारण है, कर्म या पिछले सस्कार। आवरण को हमने कितना गाढा वना रखा है। हमारा आवरण जितना गाढा है उतना ही लम्बा समय लगेगा। और आवरण को हटाने में कितनी देरी करते है, उतना और अधिक समय लगेगा। वर्तमान के योगियो को लें तो हमें मालूम होता है कि अरविन्द ने अठारह वर्षों तक काफी श्रम किया। अठारह वर्ष के वाद उन्हे ठीक रास्ता मिला। महर्षि रमण ने भी कठोर यातनाए साधना के लिए सहन की। काफी लम्वा समय लग सकता है। जो लोग वहुत थोडे समय में साधना की उपलब्धि चाहते हैं वे शायद कच्चा फल तोडकर खाना चाहते है जो कि खट्टा होता है। समय का परिपाक होना चाहिए।

साधना में समय लगे, कोई कठिनाई की वात नही है। अगर हमें यह लगे कि रास्ता ठीक है, दिशा सही है, और फिर चल रहे है तो दो वर्ष बाद आये या दो वर्ष पहले आये, कोई चिन्ता की वात नही है। दिशा सही, पथ सही और गति सही, इसको विशेप ध्यान मे रखना चाहिए। और ये तीनो सही है तो समझना चाहिए कि साधना का पथ सही है और उस पर हम अग्रसर हो रहे हैं। समय का छोटा होना और वडा होना कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नही है।

आचार्यश्री ने कहा—जिसमे सीधा फल पाने की भावना रहती है, मैं नही समझता कि वह कोई साधना है। क्योकि उसमे तो सीधा फल पाने की भावना रहती है। अगर कोई सही मार्ग पर चल रहा है तो उसके मन मे यह सदेह होना ही नही चाहिए कि उसकी साधना सिद्ध हो रही है या नही हो रही है।

प्रश्न—ऐसा सुना है कि कुछ लोग भोजन नही करते हैं। इसका कारण पेट का अन्दर चिपक जाना, नाडियो का पीछे की ओर चले जाना है या और कुछ ? योग मे जिन नाडियो का वर्णन है वे वर्तमान शरीर-विज्ञान के अनुसार उपलब्ध हैं ?

उत्तर—पेट को अन्दर चिपकाने से भूख वन्द नही होती। उससे तो अच्छी भूख लगती है। किन्तु एक वात अवश्य है, जठराग्नि तो प्रज्वलित होगी परन्तु अन्न की मात्रा कम हो जायेगी। अल्प मात्रा मे ही तृप्ति हो जायेगी। कभी-कभी हमारे शरीर मे इतना आकस्मिक परिवर्तन होता है कि हमारे शरीर को खाने की आवश्यकता नही होती। नाडियो पर घृणा, शोक, भय आदि का कभी-कभी इतना प्रभाव पडता है कि कुछ नाडियो का आहनन हो जाता है। ऐसी स्थिति मे फिर खाने-पीने की आवश्यकता नही रहती है। पतजलि ने भी लिखा है कि कठकूप-सयम करो, भूख-प्यास अपने आप मिट जायेगी। जीभ को ऊपर की ओर लौटाने

से अर्थात् खेचरी मुद्रा करने से भूख कम हो जाती है। वर्णन मिलता है कि पहले लोग महीने-महीने की तपस्या करते और पारणे मे कुश की नोक पर टिके उतना खाते। यह आश्चर्य की बात नही है। उनकी ग्रहणशक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि थोडे से अन्न को भी इतनी सूक्ष्मता से ग्रहण करते है कि उतना ही उनके लिए पर्याप्त हो जाता है।

दूसरी बात है कि डॉक्टरो ने जो परीक्षण किया, उसके अनुसार योग मे जो नाडियो का विधान है, वह प्राप्त नही है। इस बारे मे दो बातें है। कुछ तो, योग मे इतनी सूक्ष्म नाडियो का प्रतिपादन है कि उनका अभी तक ठीक अर्थ समझ मे नही आया है। जैसे मेरुदड का योग मे इतना सूक्ष्म वर्णन है कि यत्र मे उसको नही पकडा जा सकता। दूसरी बात हैं शब्दो की और परिभाषाओ की। आप लोग जानते हैं कि छह पर्याप्तिया होती हैं। ये पर्याप्तिया शरीर मे हैं। अब कोई कहेगा कि हमारे शरीर मे छह पर्याप्तिया बतलाई गयी हैं, आज डॉक्टरो और शरीर-शास्त्रियो ने एक-एक अवयव को चीर-फाड दिया परन्तु कही भी पर्याप्ति तो नही मिली? पर्याप्ति तो बोलती नही है। पर्याप्ति हमारी भाषा मे है। डॉक्टर लोगो की अपनी भाषा होती है। इस सन्दर्भ में थोडा चिन्तन किया तो पता चला कि केवल नामो का भेद है। जैसे बृहद् मस्तिष्क मन पर्याप्ति का स्थान है, जहा सारी शक्तिया केन्द्रित हैं। इसी प्रकार अन्यान्य पर्याप्तियो के भी स्थान हैं। आज इतना ही।

७

वृत्तियों का वर्तुल

- दस प्रकार की वृत्तिया, मूर्च्छाए या सज्ञाए।
- वृत्तियो को तोडने का उपाय—
    - शुद्ध चेतना का अनुभव करना।
    - आत्म-सम्मोहन।
    - केवल कुभक।
    - विशुद्धिकेन्द्र और ज्ञानकेन्द्र पर स्थिरीकरण।
    - सूक्ष्म प्राणायाम।
    - नो-सज्ञोपयुक्त अवस्था।



हमारी चेतना पर मूर्च्छा और सज्ञा का आवरण है, वृत्ति और सस्कार का आवरण है, उसे हम कैसे तोडें ? चित्त को सज्ञामुक्त कैसे करें ? चित्त से मूर्च्छा और सस्कार को कैसे मिटाए ? यह साधना के क्षेत्र मे ज्वलत प्रश्न है।

दस प्रकार की सज्ञाए, चित्तवृत्तिया या मूर्च्छाए हैं। वास्तव मे वे एक ही है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि बीमारी एक ही होती है। स्थान-भेद के कारण उसके अनेक नाम हो जाते है। दर्द दर्द है। पर उसके स्थान-भेद से सिर का दर्द, घुटने का दर्द, छाती का दर्द, कधे का दर्द, गर्दन का दर्द—आदि-आदि नाम हो जाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धात भी यही है कि बीमारी एक ही है। शरीर मे विजातीय तत्त्व सचित हो जाता है और वह बीमारी का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार मूर्च्छा एक ही है। कारण-भेद के आधार पर वह अनेक प्रकार की हो जाती है। आहार के प्रति आसक्ति होती है, वह आहार सज्ञा कहलाती है।

परिग्रह के प्रति आसक्ति होती है, वह परिग्रह सज्ञा कहलाती है। वास्तव मे मूर्च्छा एक ही है। इतना-सा होता है कि किसी विषय पर मूर्च्छा सघन होती है और किसी विषय पर वह विरल होती है। यह सच है कि एक ही व्यक्ति मे सभी सज्ञाए सघन नही होतीं और सभी सज्ञाए विरल नही होती। कुछ सज्ञाए सघन होती हैं और कुछ सज्ञाए विरल होती हैं। किसी मे कोई सज्ञा सघन होती है और किसी मे कोई सज्ञा सघन नही होती। इसीलिए साधना करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले यह निश्चय करना होता है कि उसमे कौन-सी सज्ञा प्रबल है, कौन-सी चित्तवृत्ति प्रखर है। उसे उसी पर प्रहार करना होता है।

नारकीय जीवो मे भयसज्ञा, देवताओ मे परिग्रहसज्ञा, तिर्यञ्च मे आहारसज्ञा और मनुष्य मे मैथुनसंज्ञा प्रबल होती है। यह विभाजन प्रधानता की दृष्टि से किया गया है। वैसे तो प्रत्येक प्राणी मे ये चारो सज्ञाए होती हैं। किन्तु सबमे इनका प्रबल होना आवश्यक नही है। प्रत्येक व्यक्ति सभी सज्ञाओ मे से गुजरता है। उसकी चित्तवृत्ति सभी सज्ञाओ से सक्रान्त होती है।

एक ही पदार्थ के उपयोग भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। एक सन्यासी था। उसकी कबल चोरी मे चली गयी। भक्तो ने दौड-धूप की। पुलिस मे रिपोर्ट दी। चोर पकडा गया। उसे न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित किया गया। सन्यासी को भी बुलाया गया। न्यायाधीश ने चोर से पूछा—"तुमने सन्यासी का क्या चुराया?"

चोर ने कहा—"सन्यासी के पास एक कबल थी। वह मैंने चुरा ली।"

सन्यासी से न्यायाधीश ने पूछा—"तुम्हारा क्या गया?"

संन्यासी बोला—"मेरा सब कुछ चला गया। मेरा बिछौना, सिरहाना, ओढने का वस्त्र, सब कुछ चला गया।"

चोर ने कहा—"सन्यासी झूठ बोल रहा है। मैंने केवल एक कबल ही चुराया है।"

न्यायाधीश असमजस मे पड गया। उसने चोर के आत्मविश्वास को देखते हुए सन्यासी से पूछा—"महाराज! सच-सच बतायें। केवल कबल ही गया या सब-कुछ चला गया?"

सन्यासी ने कहा—"सब कुछ चला गया। कंबल ही मेरा सब कुछ था। मैं कभी कबल बिछा लेता हू, कभी ओढ लेता हूं और कभी सिराहने दे देता हू। यही मेरा बिछौना है, यही मेरा सिरहाना है। सब कुछ यही है।"

एक ही कबल सब कुछ बन गया। एक ही मूर्च्छा सब कुछ बन जाती है। एक ही मूर्च्छा कही आहार की आसक्ति बन जाती है, कही भय की आसक्ति बन जाती है और कही क्रोध की, कही झूठी मान्यताओ की और कही भीड के पीछे चलने की आसक्ति बन जाती है। इस प्रकार एक ही मूर्च्छा, एक ही सज्ञा विभिन्न रूपो मे सामने आती है।

हमे मूर्च्छा को तोडना है। जब तक मूर्च्छा के घने बादलो को हम बिखेर नही देते तब तक चेतना के आकाश मे तेजस्वी सूर्य का उदय नही हो सकता। वह सूर्य तभी प्रकाश दे सकता है जब ये बादल उस पर छाये हुए न रहे।

प्रश्न है कि हम उन बादलो को कैसे हटायें ? मूर्च्छा को कैसे तोडें ? सज्ञाओ को समाप्त कैसे करें ? इसकी प्रक्रिया क्या है ?

सज्ञा को तोडने का, मूर्च्छा के बादलो को विरल करने का एकमात्र उपाय है—शुद्ध चेतना का अनुभव करना, आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना। यह उपाय समूची साधना को अपने मे समेटे हुए है। इससे यह रहस्य उद्घाटित होता है कि हम क्या करना चाहते हैं ? आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें। इसका अर्थ है—चेतना के द्वारा शुद्ध चेतना को देखें। मन के द्वारा अन्तर्मन को देखें। बहिर्चेतना के द्वारा अन्तश्चेतना को देखे। प्रश्न होता है कि ऐसे देखने का परिणाम क्या होगा ? जो आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता है वह अनासक्त हो जाता है। वह आसक्ति के व्यूह को तोड देता है। अनासक्ति का उपाय सज्ञा-मुक्त होने का उपाय है, मूर्च्छाओ को तोडने का उपाय है। शुद्ध चेतना का अनुभव कर प्राणी अनासक्त हो जाता है। उसकी सारी मूर्च्छाए टूट जाती हैं। शुद्ध चेतना की सप्रेक्षा का अर्थ है—शुद्ध उपयोग मे रहना। शुद्ध उपयोग का अर्थ है—सतत जागरण।

जागरण और मूर्च्छा दो हैं। मूर्च्छा होगी तो जागरण नही होगा और जागरण होगा तो मूर्च्छा नहीं होगी।

जागरण का अर्थ है—आत्मा की सप्रेक्षा, शुद्ध चेतना का अनुभव। इसे हम सरल शब्दो मे समझें। राग-द्वेष-शून्य क्षणो का अनुभव जागरण है। जागरण ऐसे क्षण का अनुभव है जिसमे न प्रियता का भाव है, न अप्रियता का भाव है, केवल जो है उसका साक्षात्कार है, और कुछ भी नही है।

हम श्वास का या अन्तर्दर्शन का आलबन लेते हैं। श्वास के साथ हमारा कोई लगाव नही है। उसके साथ न राग है, न द्वेष है। केवल एक आलबन के रूप मे उसे हमने स्वीकार किया है। श्वास का आलबन शुद्ध चेतना के अनुभव का एक उपाय है। जहां केवल देखना है, जहा केवल जानना है, जहा केवल साक्षात्कार है, उसके साथ हमारा कोई लगाव नही है, राग-द्वेष नही है। ऐसे अनेक आलबन हो सकते हैं जो शुद्ध चेतना के अनुभव के निमित्त बन सकते हैं। सज्ञा से मुक्त होने का सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय है—शुद्ध चेतना, शुद्ध उपयोग या नो-सज्ञोपयुक्त चेतना का अनुभव। सज्ञामुक्त चेतना—जहा केवल चेतना है, सज्ञा नहीं है। सूर्य चमक रहा है। कोई बादल उसको घेरे हुए नही है। कोरा प्रकाश आ रहा है, और कुछ भी नहीं।

मूर्च्छाओ और सज्ञाओ से मुक्त होने का यह पहला उपाय है। इनमें धैर्य की

अपेक्षा तो है ही। ऐसा नही होता कि अभ्यास के प्रारभ मे ही सज्ञा का घना वलय, चक्रव्यूह टूट जाये। लबा अभ्यास अपेक्षित है और वह धैर्य के विना असभव है।

सज्ञा-मुक्त होने का दूसरा उपाय है—आत्म-सम्मोहन। दूसरे के द्वारा सम्मोहित होने की बात नही, किन्तु स्वय का सम्मोहन। शास्त्रीय भाषा मे इसे 'भावना' कह सकते हैं। यदि हम सज्ञा से मुक्त होना चाहते हैं तो हमे सज्ञा-मुक्त होने की भावना को इतनी तन्मयता के साथ करना होगा कि उस विषय मे हम स्वय सम्मोहित जैसे हो जाए, तदात्म हो जाए। इतना तादात्म्य स्थापित हो कि हम भावितात्मा बन जाए। उस तादात्म्य या सम्मोहित अवस्था मे वह जो भी सोचता है, वह हो जाता है, जैसा सोचता है वैसा हो जाता है। सम्मोहन और भावना की यह प्रक्रिया लाभप्रद है तो हानिप्रद भी है।

सम्मोहन मे दो बातें होती हैं। पहली बात है—तादात्म्य की। सम्मोहन सफल तब होगा जब तादात्म्य होगा। मनोविज्ञान की भाषा मे तादात्म्य का अर्थ है—स्थूल या चेतन मन को भुलाकर अवचेतन मन को जगा देना। अवचेतन मन को जगाये विना तादात्म्य की बात नही हो सकती। तब तक हम अपने ध्येय के साथ एकरस नही हो सकते जब तक अवचेतन मन जागृत नहीं हो जाता। अवचेतन मन को जगाने का सबसे अच्छा अभ्यास है—कठ से श्वास लेना और चिद् आकाश को देखना, उस पर ध्यान केन्द्रित करना।

सबसे पहले हम कायोत्सर्ग की मुद्रा मे बैठें। कठ से श्वास लें। पाच-सात मिनिट तक श्वास लेने की क्रिया चलती रहे। स्थूल मन सो जायेगा, अवचेतन मन जाग जायेगा। जब वह जाग जाये तब उसे सुझाव दें, निर्देशन दें। यहा हमे सतर्कता रखने की आवश्यकता है। अवचेतन मन के जाग जाने पर यदि गलत सुझाव चला गया तो वह भी क्रियान्वित हो जायेगा। खतरा पैदा हो जायेगा। लाभ के वदले हानि हो जायेगी। इसलिए पूरी सावधानी बरती जाये कि उस समय मन मे गलत सुझाव या गलत विकल्प न आये। एक धारा जो बह रही है, उस धारा के प्रतिकूल, उसका प्रतिरोधी कोई भी विकल्प मन मे आ गया तो वह क्रियान्वित होगा और बहुत बडा खतरा पैदा कर देगा।

एक पौराणिक कथा है। एक बार देवता और दानवो मे युद्ध हुआ। दानवो ने विजय के लिए अनुष्ठान किया। उन्होने मत्र-साधना प्रारभ की। मत्र था—'इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व'। मत्र की साधना चली। युद्ध हुआ और दानवो की हार हो गयी। देवता जीत गये। दानवो को आश्चर्य हुआ कि मत्र-साधना के वावजूद हार कैसे हुई। विमर्श करने पर यह तथ्य सामने आया कि 'इन्द्र' शब्द के आगे विसर्ग का उच्चारण होना चाहिए था। वह नहीं हुआ। मत्र या सकल्प का एक हिस्सा ही है सुझाव। सुझाव गलत हो गया।

सुझाव देने मे कोई भूल हो जाती है तो उसका बुरा परिणाम भोगना पडता है। इसलिए यह आवश्यक है कि सुझाव सुनिश्चित भाषा मे हो और वह पहले से ही सुस्थिर हो। तत्काल कोई सुझाव नही देना चाहिए। सुझाव की भाषा विधायक हो और पहले ही यह जाच कर ली जाए कि उस भाषा मे कोई त्रुटि तो नही है। ऐसे ही आत्म-सम्मोहन का कार्य शुरू कर दिया और जो मन मे आया वह सुझाव देने लगे तो सभव है जो होने का है वह नही होगा और जो नही होने का है वह हो जायेगा।

साधना के क्षेत्र मे आत्म-सम्मोहन या भावना का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका उपयोग वृत्तियो को खडित करने के लिए करें।

सज्ञा-मुक्त होने का तीसरा उपाय है—केवल कुभक। इसका अर्थ है—श्वास-सयम। पूरक और रेचक के साथ होने वाला कुभक इतना उपयोगी नही होता जितना केवल कुभक उपयोगी होता है। इसका प्रयोग जब चाहें तब किया जा सकता है। इससे कोई खतरा नही होता। पढते हुए, बात करते हुए, देखते हुए या सुनते हुए जब कभी ध्यान गया तो एक क्षणभर के लिए श्वास को रोक लें, श्वास का सयम करें, कुभक करें। दस-बीस बार उसे दोहरा दें। कभी क्रोध का आवेश आये, कभी वासना का आवेश आये, कभी भयकर कल्पना आये, कभी लुभाने वाली बात आये तो तत्काल कुभक कर लें। आवेश टल जायेगा। एक बार आवेश को टाल देते हैं तो उसका वेग समाप्त हो जाता है। वेग शून्यता मे चलता है। जब नदी के पानी को अनेक स्थानो पर बाध दिया जाता है, फिर उसमे बाढ नही आ सकती। जिन नदियो मे पहले बाढ आती थी, उन पर बाध बाध देने से अब उन नदियो के पानी का अधिक उपयोग होने लगा है, क्योकि उसके वेग को रोक दिया गया है। एक बार हम आवेग के वेग को रोक देते हैं तो उसकी गति स्खलित हो जाती है। स्खलित हो जाने पर उसका वेग समाप्त हो जाता है और वह नष्ट हो जाता है। श्वास-सयम की यह प्रक्रिया वृत्ति-चक्र के प्रतिरोध की उत्तम प्रणाली है। यह अखड चेतना के अनुभव का मार्ग है।

शुद्ध चेतना का अनुभव, आत्म-सम्मोहन और कुभक—इन तीन उपायो की हमने चर्चा की। अब हम कुछ शारीरिक क्रियाओ पर भी विचार करें।

हमारे शरीर मे ऐसे कुछ स्थान हैं जो हमारे इस कार्य मे सहयोगी बनते हैं। वृत्तियों के उभार मे भी शरीर सहयोगी बनता है। जैसे दूध की अपनी कोई प्रकृति नही है, वैसे शरीर की भी अपनी कोई प्रकृति नहीं है। जैसे कफ प्रकृति वाला आदमी दूध पीता है तो वह दूध कफ करता है, पित्त प्रकृति वाले को पित्त और वात प्रकृति वाले को वात, इसी प्रकार कोई सज्ञा या मूर्च्छा शरीर मे उभरती है तो शरीर उसमे सहयोगी बन जाता है। यदि सज्ञा या मूर्च्छा को मिटाने का प्रयत्न होता है तो शरीर उसमे सहयोगी बन जाता है। शरीर की अपनी कोई

प्रकृति नही है।

हमारा यह शरीर साधना मे सहयोग करता है। इसके ज्ञानततुओ, ज्ञानचक्रो तथा नाडी-सस्थान के विभिन्न नाडी वलयो को हम समझें और साधना के क्षेत्र मे उनका उपयोग करना सीखें। इसके लिए अनेक उपाय खोजे गये है। इतनी खोजें हुई हैं कि आज हमे वे ज्ञात भी नही हैं।

हृदय, कठ और मस्तिष्क—ये तीन स्थान साधना मे उपयोगी हैं। हृदय 'आनन्द-केन्द्र' है, कठ 'विशुद्धि-केन्द्र' है और मस्तिष्क 'ज्ञान-केन्द्र' है। ये ज्ञान-ततुओ के बडे-बडे गुच्छक हैं। हृदय भावपक्ष का स्थान माना जाता है। क्रिया का स्थान है सुषुम्ना—शीर्ष और भाव का स्थान है—हृदय। अच्छी-बुरी भावना को हृदय के साथ जोडा जाता है। आनन्द-केन्द्र, विशुद्धि-केन्द्र और ज्ञान-केन्द्र पर जितना स्थिरीकरण होगा उतना ही वृत्तियो का क्षय होगा। वृत्तियो को क्षीण करने का, शारीरिक प्रक्रिया मे, सबसे बडा स्थान है सहस्रारचक्र। यह ज्ञान-केन्द्र है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने पर वृत्तियो का क्षय होता है, सज्ञाए शात होती हैं। कुछ अभ्यास-काल के पश्चात् यह स्वय अनुभव होने लगता है कि कुछ हो रहा है, कुछ घटित हो रहा है। शारीरिक क्रिया की दृष्टि से सज्ञा-मुक्ति का चौथा उपाय है—आनन्द-केन्द्र, विशुद्धि-केन्द्र और ज्ञान-केन्द्र पर चित्त का स्थिरीकरण। इस स्थिरीकरण का परिणाम है—वृत्तियो का क्षय, मूर्च्छाओ का विनाश, संज्ञाओ की समाप्ति।

सज्ञा-मुक्ति का पाचवां उपाय है—सूक्ष्म प्राणायाम।

निश्चय-दृष्टि से नो-सज्ञोपयुक्त होता है वीतराग और व्यवहारदृष्टि से प्रत्येक मुनि 'नो-सज्ञोपयुक्त' होता है। वह व्यवहार से वीतराग होना है। शुद्ध चेतना का अर्थ है—वीतरागता। शुद्ध चेतना का अनुभव करना, सज्ञा-मुक्त होना—इसका तात्पर्य है कि वीतराग होना। यह हमारा आदर्श है। हमे यह बनना है। यह हमारे सामने निरतर रहना चाहिए। जब यह आदर्श बना रहेगा तभी हम वैसा बन पायेंगे। हम वीतराग की भावना करे। वीतराग सत्त्व गुण वाला होता है। सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण होते है। सत्त्व का वर्ण है सफेद, रजस् का लाल और तमस् का काला। वीतराग के साथ श्वेत वर्ण की भावना करें। वीतराग के गुणो का स्पष्ट चित्र हमारे सामने आ जाये। वीतराग के स्वरूप की स्पष्ट धारणा हो। पहले हमने स्पष्ट धारणा बना ली। फिर उसका चित्र बनाया। चित्र की स्पष्टता के बाद हम कायोत्सर्ग की मुद्रा मे बैठ जाए और बाएं स्वर से श्वास लें। पूरक करें। उस पूरक के साथ-साथ हमारी यह दृढ भावना और दृढ सकल्प बना रहे कि वीतराग हमारे अन्त करण मे उतर रहा है। विधायक कल्पना रेचन के साथ नही की जा सकती, वह पूरक के साथ ही की जा सकती है। जब श्वास को हम बाहर निकालते हैं, रेचन करते हैं, तब उसके साथ कोई अच्छी

कल्पना नही जोडनी चाहिए। उस समय तो ऐसी कल्पना की जा सकती है कि पेट की खरावी वाहर निकल रही है। पेट का रोग दूर हो रहा है। किंतु जब विशिष्ट भावना का प्रवेश कराना हो, जिस भावना को मन मे स्थिर करना हो, उसे रेचन के साथ नही जोडना चाहिए। उसे पूरक के साथ जोडना चाहिए। चन्द्रस्वर से पूरक करते समय यह दृढ संकल्प और भावना करे कि हृदय मे वीतराग का अवतरण हो रहा है। पूरक के वाद कुभक करें। जितने समय तक सुगमता से, सरलता से, विना कष्ट पाये श्वास को रोक सकें, उतने समय तक श्वास को रोककर अन्तर्मन मे वीतराग का ध्यान करें। यह एक उपाय है। 'देवो भूत्वा देवं भजेत्'— देवता होकर देवता की पूजा करनी चाहिए। हम स्वय उस वीतरागता की स्थिति मे होकर वीतराग का ध्यान करें। ऐसा करने पर ही हमारे चित्त की सारी वृत्तिया, चित्त की सारी ऊर्जा अपने परिणमन मे लग जाती है। परिणमन होता रहता है, परिणति होती रहती है और हम उसी रूप मे वदलते रहते हैं। जैसी हमारी बुद्धि होती है, जैसा हमारा चित्त होता है, जैसी हमारी धारणा होती है, वैसे ही हम वदलते रहते हैं।

जैन दर्शन मे पाच भाव प्रतिपादित हैं—

१ औदयिकभाव
२ औपशमिकभाव
३. क्षायिकभाव
४ क्षायोपशमिकभाव
५ पारिणामिकभाव

प्रथम चार भावो मे कर्म का योग होता है, कर्म का धागा जुडा हुआ होता है। पारिणामिक भाव मे कर्म का योग नही होता। वह हमारी पूरी स्वतत्रता है। यदि हमारा पारिणामिक भाव पुष्ट होता है तो वहुत वार हम कर्म के विविध परिणामो को टाल सकते हैं। यह हमारी वहुत वडी स्वतत्रता है कि हम कर्मो को वदल सकते हैं, उनमे परिवर्तन ला सकते हैं।

एक ज्योतिषी ने सुकरात मे कहा— मैं तुम्हारे ग्रहो के आधार पर तुम्हारे जीवन के वारे मे भविष्यवाणी करूगा।' सुकरात ने हमते हुए कहा—'क्या भविष्यवाणी करोगे ? कुडली किसी ने लिखी है, पर मेरी कुडली मेरे हाथ मे है। मैंने स्वय के पुरुषार्थ से न जाने कितनी कुडलिया वना दी। मैंने न जाने कितनी रेखाए वदल दी ! तुम क्या भविष्यवाणी करोगे ?'

यह सचाई है परिणमन की। यदि हम परिणमन के प्रति जागरूक है तो हम वहुत मारी वातो को वदल सकते है और नयी-नयी परिणतियों को उत्पन्न कर सकते हैं। हम परिणामीभाव के द्वारा अकल्पित परिणामो को ला मकते है। ज्योतिषी कुडली के आधार पर जिन तथ्यो की अभिव्यक्ति नही दे मकता उन तथ्यो को हम घटित कर सकते है।

जव हमारा चित्त वीतरागता की ओर होता है तव वीतराग के मारे घटक तत्त्व हमारे जीवन मे आते हैं और वीतरागता की परिणति प्रारंभ हो जाती है।

यदि हमारे चित्त मे वासना का विचार अधिक रहा तो परिणमन का एक चक्र वन जायेगा, क्रोध का विचार अधिक रहा तो क्रोध के परिणमन का एक चक्र वन जायेगा, वलय वन जायेगा। हमारे शरीर मे ऐसे वडे वलय हैं जो वास्तव मे हमारी चित्तवृत्तियो को सचालित करते हैं। यदि वीतरागता की भावना रही तो वीतरागता का वलय वन जायेगा, चक्र वन जायेगा। यह है वीतरागता को अपने भीतर उतारना, स्थापित करना और वीतरागता का आना।

सज्ञा-मुक्ति के ये कुछेक उपाय हैं। इनके साथ-साथ हमे विस्तार मे और कुछ जान लेना होता है। वृत्तियो के केन्द्र मस्तिष्क मे कहा हैं उन्हे खोजना, उभरती हुई वृत्तियो को देखना, उनका साक्षात् करना, उनके प्रति जागरूक रहना और उन वृत्तियो को किस प्रकार से विफल किया जा सकता है—इन सारी वातो को यदि हम जान लेते हैं तो असभव नहीं कि वृत्तिया न टूटें। आदमी वदलता है, सज्ञाओ को तोडता है और उन्हे परास्त कर देता है। यदि यह नही होता तो साधना की वात व्यर्थ हो जाती। धर्म का कोई अर्थ ही नही होता। हमारे पुरुषार्थ की कोई सफलता नही होती। हम सज्ञाओ को तोड सकते हैं, वृत्तियो को वदल सकते हैं, इसीलिए हमारी साधना है, इसीलिए हम धर्म की आराधना करते है और इसीलिए हम ध्यान का प्रयोग करते हैं।

चेतना और कर्म

८

आचरण के स्रोत

- मनोविज्ञान आचरण के स्रोत—
  - सहजात
  - अर्जित
- जैन दर्शन . आचरण के स्रोत—दस सज्ञाए
  - दस संज्ञाओ के तीन वर्ग—
    1. आहार सज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन सज्ञा, परिग्रह सज्ञा।
    2. क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ सज्ञा।
    3. लोक संज्ञा, ओघ सज्ञा।
- आचरणो का मूल स्रोत है—कर्म।



ज्ञान और अध्यात्म दो है। दोनो जरूरी है। ज्ञान के विना अध्यात्म का ग्रहण नही किया जा सकता और अध्यात्म मे उतरे विना ज्ञान की शुद्धता नही हो सकती। ज्ञान का प्रस्फुटन नही हो मकता। ज्ञान अध्यात्म को वढाता है और अध्यात्म ज्ञान को नये-नये उन्मेप देता है। पश्चिम के दार्शनिको ने मन का काफी गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होने मन के विषय मे अनेक खोजे की है, मन का पूरा विश्लेषण किया है। मनोविज्ञान की एक पूरी शाखा विकसित हो गयी। प्रश्न होता है कि भारत के सत्यवेत्ताओ ने क्या मानसशास्त्र का अध्ययन नही किया था ? इस प्रश्न के उत्तर मे हम दो शाखाओं पर ध्यान दे। एक है योगशास्त्र और दूसरी है कर्मशास्त्र।

योगशास्त्र साधना की व्यवस्थित पद्धति है। इसके अन्तर्गत मन का पूरा

विश्लेषण, मन की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं का अध्ययन और उनके व्यवहार का बोध आता है।

कर्मशास्त्र मन की गहनतम अवस्थाओं के अध्ययन का शास्त्र है। कर्मशास्त्र को छोडकर हम मानसशास्त्र को ठीक व्याख्यायित नहीं कर सकते, मानसशास्त्र मे जो आज अबूझ-गूढ पहेलिया हैं उन्हे समाहित नही कर सकते और न अध्यात्म की गहराइयो मे जा सकते हैं। कर्मशास्त्र के गभीर अध्ययन का मतलब है—अध्यात्म की गहराइयो में जाने का एक गहरा प्रयत्न। जो केवल अध्यात्म का अनुशीलन करना चाहते है किंतु कर्मशास्त्र पर ध्यान देना नही चाहते, वे न अध्यात्म की गहराइयो को ही समझ सकते है और न वहा तक पहुच ही सकते हैं। इसलिए कर्मशास्त्र और योगशास्त्र तथा वर्तमान मानसशास्त्र—तीनो का समन्वित अध्ययन होने पर ही हम अध्यात्म के सही रूप को समझ सकते हैं और उसका उचित मूल्याकन कर सकते हैं।

अध्यात्म को समझने के लिए कर्मशास्त्र को समझना आवश्यक है। यह इसलिए आवश्यक है कि कर्मशास्त्र मे हमारे आचरणो की कार्य-कारणात्मक मीमासा है। हम जो भी आचरण करते हैं उसके दो कारण होते है। एक है बाहरी कारण और दूसरा है भीतरी कारण। बाहरी कारण बहुत स्पष्ट होते हैं।

एक आदमी चला जा रहा है। रास्ते मे आग जल रही है। आग के निकट आते ही वह अपना पैर खीच लेता है। उसने अपना पैर क्यो खींचा, इसे हम स्पष्टता से समझ सकते हैं। कारण स्पष्ट है। रास्ते मे आग थी। पैर नही खीचता तो पैर जल जाता। यह बाहरी कारण है। हमारी समझ में आ सकता है। कोई कठिनाई नही है।

एक आदमी बीमार है। दवा ले रहा है। बीमार होने के कारण अस्वाभाविक प्रवृत्ति भी कर रहा है। उदास है, खिन्न है। और भी दूसरे-दूसरे आचरण कर रहा है। बीमारी के पीछे जो कारण है वह बाहरी कारण नहीं है। वह आखो से दिखायी देने वाला कारण नही है। वह भीतरी कारण है। उस कारण की खोज करनी होगी।

एक बीमार आदमी अस्वाभाविक आचरण कर रहा है, उसके पीछे कारण क्या है? रोग है। रोग का कारण क्या है? वह भीतरी कारण है। उस आन्तरिक कारण को खोजने की जरूरत है। जहा आन्तरिक कारण होता है वहा खोज का प्रश्न आता है और साथ-साथ विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत होते हैं।

बीमार चिकित्सक के पास जाता है। बीमार को देखकर विभिन्न चिकित्सक भिन्न-भिन्न बातें कहते हैं—

वैद्या वदन्ति कफपित्तमरुद्विकारा',
ज्योतिर्विदो ग्रहगतिं परिवर्तयन्ति।
भूताभिषग इति भूतविदो वदन्ति,
प्राचीनकर्म वलवद् मुनयो वदन्ति ।।

वैद्य कहता है—तुम्हारे रोग का कारण यह है कि शरीर के कफ, पित्त और वात विकृत हो गये हैं।

ज्योतिपी कहता है—तुम्हारे ग्रहो की गति विपरीत हो गयी है, इसलिए यह रोग है।

भूतवादी कहता है—तुम्हारे पर भूत की छाया पड गयी है, इसलिए यह रोग उभरा है।

मुनि कहता है—रोग का कारण है अपने किये हुये कर्मों का विपाक।

डॉक्टर कुछ और ही कहेगा। वह कहेगा—कीटाणुओ के कारण रोग हुआ है। वहा वात, पित्त और कफ की वात नही होगी। रोग कीटाणुज होगा। किसी ओस्ट्रियोपैथी (हड्डियो के विशेषज्ञ) के पास आप जायेंगे तो वह कहेगा—हड्डियो का संतुलन ठीक नही है। पृष्ठरज्जु और अन्यान्य हड्डियो का सतुलन ठीक नही है, इसलिए यह रोग उत्पन्न हुआ है। एक ही वीमारी, एक ही रोग, उसके कारणो के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण मिलेंगे।

चिकित्सा की एक शाखा है—एक्यूपक्चर। उसके विशेपज्ञ कहेगे कि शरीर मे विद्युत् का सतुलन ठीक नही रहा इसलिए वीमारी हुई है।

अभी-अभी रूस के शरीरशास्त्रीय वैज्ञानिको ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—मनुष्य के शरीर मे जव विद्युत् का सतुलन ठीक नही होता तव वीमारिया पैदा होती हैं। वे विद्युत् की धारा के सतुलन द्वारा, वोल्टेज की कमी और अधिकता के सतुलन के द्वारा, चिकित्सा का प्रतिपादन करते हैं।

रोग एक है। पर उसके कारण की खोज मे जाते है तो दसो प्रकार के विचार सामने आते हैं। इतना निश्चित है कि मनुष्य कार्य की पृष्ठभूमि को खोजता रहा है और कारण को समझने का प्रयत्न करता रहा है।

जो आन्तरिक आचरण है, आन्तरिक घटना है, उसके कारण की खोज आन्तरिकता मे जाकर कर सकते हैं। हमारे जितने भी आचरण है, हम जो भी प्रवृत्ति करते हैं, एक अंगुली हिलाने से लेकर वडी से वडी प्रवृत्ति या आचरण करते हैं, उस आचरण का मूल स्रोत क्या है ? कारण क्या है ? हेतु क्या है ? हम अगुली क्यो हिलाते हैं ? हम क्यो वोलते हैं ? हम दूसरो के साथ अच्छा या वुरा व्यवहार क्यो करते हैं ? हम गुस्सा क्यो करते हैं ? प्रेम क्यो करते है ? जो भी आचरण हैं उनका मूल स्रोत क्या है ? मूल कारण क्या है ? इस प्रश्न की खोज मे कर्मशास्त्र

की दिशा का अनावरण हुआ। संसार मे विभिन्नता है। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो के विभिन्न आचरण और व्यवहार हैं। सबमे विभिन्नता है, पार्थक्य है। सबमे समता का तारतम्य, शक्ति का तारतम्य, आकृति और प्रकृति का तारतम्य, आचरण और व्यवहार का तारतम्य है। यह विभिन्नता, यह तारतम्य सहज ही यह प्रश्न उपस्थित करता है कि यह क्यो ? ऐसा क्यो ? यह विभेद क्यो ? यह पार्थक्य क्यो ? एकरूपता क्यो नही ? इस विभिन्नता का कोई-न-कोई हेतु होना चाहिए। यदि कोई हेतु नही है, अहेतुक है तो सब समान ही होगा। जो भेद दिखायी देता है, जो अन्तर दिखायी देता है, उसका निश्चित ही कोई न कोई हेतु होना ही चाहिए। बिना कारण या हेतु के यह विभिन्नता हो नही सकती। चाहे प्रकृति की विभिन्नता हो, चाहे चेतन जगत् की विभिन्नता हो, चाहे जड जगत् की विभिन्नता हो, सबके पीछे कोई न कोई कारण अवश्य है।

मानसशास्त्रियो ने इस विभिन्नता के हेतुओ को खोजने का प्रयत्न किया। यह आज के युग की बात है। किन्तु हज़ारो-हज़ारो वर्ष पूर्व भी इस विभिन्नता को खोजने का प्रयत्न हुआ था।

महावीर ने धर्मध्यान के चार प्रकार बतलाये—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय। हम इनमे से दो—अपायविचय और विपाक-विचय की चर्चा करेंगे।

धर्मध्यान कारणो को खोजने की एक प्रक्रिया है। कोई विपाक हो रहा है, कोई चीज़ पक रही है। निष्पत्ति सामने आ रही हैं। विपाक है तो उसका हेतु भी होना चाहिए। परिणाम है तो उसका कारण भी होना चाहिए। यह कारण है—अपाय। अपायविचय है उस कारण की खोज। कोई भी फलित हुआ है तो उसके पीछे कोई-न-कोई उपाय है ही। कोई दोष हो या कोई गुण हो—कुछ-न-कुछ अवश्य है। हम केवल विपाक को ही सब कुछ नही मान सकते, पर्याप्त नही मान सकते। हम विपाक को वर्तमान क्षण का पाक, वर्तमान क्षण की बात मान सकते हैं, किन्तु उस विपाक के पीछे रहा हुआ जो हेतु है, अपाय है, जो लबा अतीत है, उसे भी हमे समझना चाहिए। दोनो की खोज साथ-साथ चलती है—अपायविचय और विपाकविचय।

एक व्यक्ति का व्यवहार बहुत रूखा है, कठोर है, अशिष्ट है। यह एक घटना है। यह विपाक है, परिणति है। इसके पीछे अपाय क्या है ? कारण क्या है ? इसे समझे बिना विपाक का निदान नही किया जा सकता। यदि कोई सोचे कि विपाक का निदान कर दू तो वह गलत होगा। निदान नही होगा, भ्रान्ति होगी। निदान होता है पहले। विपाक हो ही नहीं। विपाक मे आये ही नही। बीज उग गया है। अकुर फूट पडा है। वृक्ष का रूप सामने आ गया है। अब उसका प्रतिकार क्या होगा ? अब प्रतिकार नही हो सकता। चिकित्सा नही हो सकती। फिर तो छेदन

ही हो सकता है। फोडा पक गया, अब तो वह फूटेगा ही।

आज विकास का युग है। आज चिकित्सा की ऐसी शाखा उद्‌घाटित हो गयी है जो सूक्ष्म फोटोग्राफी के आधार पर, भविष्य मे होने वाली बीमारी का पहले ही चित्राकन कर लेती है। छह महीने बाद, वर्ष या दो वर्ष बाद कौन-सी बीमारी होने वाली है, यह पता चल जाता है। पहले से ही उसकी चिकित्सा कर ली जायेगी, जिससे कि वह शरीर मे हो ही नही। बहुत अद्‌भुत बात है।

प्राचीनकाल मे भी यह विद्या ज्ञात थी। पहले से ही बीमारी जान ली जाती और उसके न होने की स्थिति पैदा कर दी जाती। यह पद्धति थी कर्मशास्त्र की। कर्म के विपाक को जान लिया जाता और वह न हो, इसकी व्यवस्था पहले से ही कर ली जाती।

हमे केवल वर्तमान को ही नही देखना है। ध्यान के लिए यह बताया जाता है कि वर्तमान को देखो, वर्तमान के क्षण को देखो, यह भी एक बात है, किन्तु पूरी बात नही। वर्तमान को देखना—यह अच्छा है। मन को शात करने के लिए बहुत ज़रूरी है वर्तमान को देखना। किन्तु तथ्यो की समग्र जानकारी के लिए केवल वर्तमान ही पर्याप्त नही होता, अतीत को भी देखना ज़रूरी होता है। जिस अतीत का परिणाम वर्तमान बनता है, जिस अतीत का विपाक वर्तमान बनता है, उस अतीत को समझना भी आवश्यक है। अतीत को समझे बिना वर्तमान के विपाक को, वर्तमान की प्रवृत्ति को, वर्तमान की रचना को नही समझा जा सकता। उसको समझने का कोई लाभ भी नही है। जो वर्तमान का क्षण है, उसकी पहले की सपत्ति को समझना, यह है कर्मशास्त्र को समझ लेना। कुछ तथ्य ऐसे होते हैं जो अनादि और अनन्त हैं। उनका न आदि है और न अन्त। हमारा अस्तित्व जो है, उसका आदि भी नहीं है और अन्त भी नही है। कुछ तथ्य ऐसे होते हैं जो अनादि हैं और सान्त हैं। उनका आदि नही है, किन्तु उनका अन्त अवश्य है। उनके प्रारभ का, आदि का हमे पता नही है किन्तु वे एक दिन समाप्त अवश्य होगे।

अधकार कब से है, इसका कोई पता नही। जब भी दीया जलाया, बिजली जलायी, वह समाप्त हो गया। अधकार समाप्त होता रहता है। ऐसा भी क्षेत्र मिल जाये जहा आज तक भी सूर्य की रश्मिया नही पहुची है, कोई आदमी नही पहुचा है, वहा सदा अधकार ही रहा है। वहा भी कोई आदमी जाये, दीया जलाये, बिजली जलाये, तो अधकार समाप्त हो जाता है। अधकार अनादि है किन्तु वह सान्त है, उसका अन्त होता है, वह समाप्त होता है।

जिस व्यक्ति को कभी सम्यग्‌दृष्टि प्राप्त नही हुई, जिस व्यक्ति ने कभी सबोधि का अनुभव नही किया, जिसकी अविद्या का आवरण कभी समाप्त नही हुआ, आज तक नही हुआ, किन्तु ऐसा कोई योग मिला कि मिथ्यादृष्टि विलीन हो गयी, मिथ्यादर्शन समाप्त हो गया, अबोधि मिट गयी, अविद्या का आवरण टूट

गया। मिथ्यादर्शन का आदि नहीं है किन्तु उसका अन्त अवश्य है।

एक वार जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन हो जाता है, वह रहता ही है, समाप्त नहीं होता। एक वार जिस व्यक्ति की अविद्या का आवरण टूट गया, फिर वह आवरण कभी नही आ पायेगा। वह व्यक्ति विद्या के क्षेत्र मे चला जायेगा। एक वार भी जिसके मानस की प्राची मे सवोधि का सूर्य उग गया, वह कभी अस्त नही होगा। आदि तो है, किन्तु अन्त नही है।

सादि है और सान्त है—ऐसी घटनाए हैं जिनका आदि भी है और अन्त भी है। आदमी कितनी वार गुस्सा करता है, कितनी वार क्षमाशील वनता है। हमारे वहुत सारे दैनिक व्यवहार सादि-सान्त होते हैं। उनका आदि भी है और अन्त भी है। दोनो साथ-साथ चलते है।

हम उस प्रवाह को सोचें जिसके आदि का हमे कोई पता नही है। जो अनादि से चला आ रहा है, उसका अनादि-हेतु है। हमारे प्रत्येक आचरण का, प्रत्येक व्यवहार का अनादि-हेतु है, अनादि-कारण है, जो अनादि काल से चला आ रहा है, जिसका आदि-विन्दु खोजना हमारे लिए सभव नही है, किंतु उसका अत किया जा सकता है। साधना का क्षेत्र इसीलिए तो है। अध्यात्म की साधना किसलिए? वह इसीलिए की जाती है कि अनादि-हेतु को खोजा जाये, उसका अन्त किया जाये। जो हेतु है, कारण है, आचरण के पीछे और आचरण की विसगतियो के पीछे, उसको खोज निकालना अध्यात्म साधना का प्रयोजन है। जो कारण हमारे आचरण मे विभिन्न प्रकार की विसगतिया पैदा करता है और व्यवहार मे सतुलन नही रहने देता, समरसता नही रहने देता, एकरूपता नही रहने देता और विभिन्नता उत्पन्न करता रहता है वह कारण और हेतु अनादि है। उसका अत किया जा सकता है। उस विन्दु को खोजना कर्मशास्त्र का प्रयोजन है।

आधुनिक मानसशास्त्रियो ने आचरण के मूल स्रोतो की खोज की और वताया कि हमारे दो प्रकार के आचरण होते हैं—सहजात और अर्जित। आचरण के पीछे कोई-न-कोई प्रवृत्ति होती है। कोई आदत होती है। कोई स्वभाव होता है। एक होता है सहजात स्वभाव और एक होता है अर्जित स्वभाव। सहजात वह है जो मनुष्य जन्म से लेकर आता है। अर्जित वह है जो विभिन्न वातावरण मे, विभिन्न प्रकार की परिस्थिति मे अर्जित होता है। सहजात स्वभाव या सहजात प्रवृत्ति, अर्जित स्वभाव या अर्जित प्रवृत्ति—ये आचरण के दो मूल स्रोत हैं। विभिन्न मानसशास्त्रियो ने इन स्रोतो की भिन्न-भिन्न सख्या गिनाई है। किसी ने तेरह, किसी ने चौदह और किसी ने एक। ये मौलिक मनोवृत्तिया हैं। काम (सेक्स) मनुष्य की एक मौलिक मनोवृत्ति है। लडाई, युद्ध, सघर्ष—यह भी मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। भूख, समूह मे रहना—यह भी मौलिक मनोवृत्ति है। जिजीविषा—जीने की इच्छा—यह भी मौलिक मनोवृत्ति है। आदमी जीना

चाहता है, मरना नही चाहता। भगवान् महावीर ने कहा—सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता। यह सत्य का प्रतिपादन है।

महर्षि पतजलि ने पाच क्लेश माने हैं। उनमे एक है अभिनिवेश। इसका अर्थ है—सभी जीव जीना चाहते हैं। हम वैदिक ऋषियो से सुनते हैं—'जीवेम शरद. शतम्'—हम सौ वर्ष तक जीते रहे। मनुष्य समझदार प्राणी है, चितनशील प्राणी है। वह सोच सकता है, विचार सकता है, अभिव्यक्ति कर सकता है। इसीलिए इसने—'जीवेम शरद शतम्'—सौ वर्ष तक जीने की कामना प्रकट की। जो सामान्य प्राणी हैं, जिनमे चिन्तन का विशेष विकास नही है, अभिव्यक्ति की शक्ति नही है, जिनकी भाषा स्पष्ट नही है, वे 'जीवेम शरद शतम्' जैसी भावना व्यक्त नही कर सकते। किन्तु उनके अन्त करण मे भी यह भावना है कि वे जीते रहे, मरें नही। यह जिजीविषा प्राणीमात्र की मौलिक मनोवृत्ति है। महत्त्वाकाक्षा, बडा बनने की इच्छा—यह भी मौलिक मनोवृत्ति है।

एक गाय जगल मे इधर-उधर घूम रही है। वह दो-चार घटो तक घूमती रहती है। उसके इस आचरण के कारण की खोज करना कठिन नही है। उसके घूमने के पीछे भूख की वृत्ति काम कर रही है। यदि उसमें भूख की वृत्ति नही होती तो वह घटो तक जगल में चक्कर नहीं लगाती।

हम जान सकते है आचरणो के मूल कारणो को, मूल स्रोतो को और उनके द्वारा प्रत्येक आचरण और व्यवहार की व्याख्या कर सकते हैं।

भगवान् महावीर ने दस सज्ञाओ का प्रतिपादन किया—आहार सज्ञा, भय सज्ञा, मैथुन सज्ञा, परिग्रह सज्ञा, क्रोध सज्ञा, मान सज्ञा, माया सज्ञा, लोभ सज्ञा, ओघ सज्ञा और लोक सज्ञा। ये सज्ञाए आचरणो के मूल स्रोतो को खोजने मे बहुत सहायक हैं।

हमारे जितने आचरण हैं, जितनी प्रवृत्तिया हैं, उनके पीछे हमारी दस प्रकार की चेतना काम करती है, दस प्रकार की चित्तवृत्तिया काम करती हैं। सज्ञा का अर्थ है—एक प्रकार की चित्तवृत्ति। जिसमें चेतन और अचेतन—दोनों मनो का योग होता है, कॉन्शस माइण्ड और सब-कॉन्शस माइण्ड—दोनो का योग होता है, उसे कहते हैं—सज्ञा या सज्ञान।

दस प्रकार की सज्ञाओ (चित्तवृत्तियो) को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते है—

पहला वर्ग—आहार सज्ञा, भय सज्ञा, मैथुन सज्ञा, परिग्रह सज्ञा।

दूसरा वर्ग—क्रोध सज्ञा, मान सज्ञा, माया सज्ञा, लोभ सज्ञा।

तीसरा वर्ग—लोक सज्ञा, ओघ संज्ञा।

पहले वर्ग की मनोवृत्तिया प्राणीमात्र मे प्राप्त होती है। मानसशास्त्री जिसे भूख की मनोवृत्ति कहते हैं, उसे जैन आचार्य आहारसज्ञा कहते हैं। सबमे आहार-

संज्ञा होती है। इस संज्ञा के कारण प्रत्येक प्राणी आचरण करता है। हमारे आचरण का वहुत वडा भाग आहारसज्ञा से प्रेरित है।

भय की सज्ञा। हमारे वहुत सारे व्यवहार भय के कारण होते हैं। गाय कभी-कभी मनुष्य को देखते ही रौद्र रूप धारण कर लेती है। आदमी ने उसका कुछ भी नही विगाडा, गाय का काम भी किसी को चोट पहुचाना या मारना नही है, फिर वह रौद्र रूप क्यो ? इसका कारण है कि उसमे अनायास ही भय जाग गया। भय है आत्मरक्षा का। आत्मरक्षा मे सवसे पहला आवेश भय जागृत होता है। डर लगता है कि मुझ पर कोई प्रहार न कर दे। भय जागते ही सारे शरीर मे कपन पैदा हो जाता है, तनाव पैदा हो जाता है। उसके पीछे भय की वृत्ति काम कर रही है।

तीसरी है—मैथुन सज्ञा। मनोविज्ञान की भाषा मे यह सेक्स की वृत्ति है। यह वृत्ति प्रत्येक प्राणी मे होती है।

चौथी है—परिग्रह सज्ञा। यह सग्रह करने की मनोवृत्ति है। आप यह न मानें कि केवल मनुष्य ही सग्रह करता है। पशु भी सग्रह करते हैं। पक्षी भी सग्रह करते हैं। मधु-मक्खिया सग्रह करती ही हैं। छोटे-मोटे सभी प्राणी सग्रह करते हैं। जैन तत्त्वविदो ने यहा तक खोज की कि वनस्पति भी सग्रह करती है। वनस्पति मे सग्रह की सज्ञा होती है। यह परिग्रह की मनोवृत्ति, यह छिपाने की मनोवृत्ति, यह सग्रह की मनोवृति—प्रत्येक प्राणी मे होती है। यह एक वर्ग है चार सज्ञाओ का।

दूसरा वर्ग है चार सज्ञाओ का, चार चित्तवृत्तियो का। वह भी प्रत्येक प्राणी मे प्राप्त है। कोई भी प्राणी ऐसा नही है जिसमे वह प्राप्त न हो। किन्तु थोडा-सा अन्तर है। मनुष्य मे ये वृत्तियां जितनी विकसित होती हैं उतनी वनस्पति या छोटे प्राणियो मे विकसित नही होती। किन्तु इनका अस्तित्व अवश्य है। वनस्पति मे क्रोध की सज्ञा होती है, मान की सज्ञा होती है, माया की सज्ञा होती है और लोभ की सज्ञा होती है। वनस्पति मे चारो सज्ञाए होती हैं। किन्तु वे मनुष्य मे जितनी स्पष्ट होती हैं, उतनी स्पष्ट नही होती। यह दूसरा वर्ग है चार वृत्तियो का।

प्रथम वर्ग की चार वृत्तियो के कारण दूसरे वर्ग की ये चार वृत्तिया विकसित होती हैं, उभरती हैं। क्रोध पैदा होता है, रोटी के कारण। रोटी और पैसे के सवाल पर लडाइया होती हैं, झगडे होते हैं। आहार क्रोध का कारण वन जाता है। कुत्ते को रोटी डाली। दूसरे कुत्ते आ गये। आपस मे झगडने लगे। रोटी गुस्से का, झगडे का कारण वन गयी।

एक आदमी को अच्छी आजीविका प्राप्त है। अच्छे स्थान पर है। दूसरा उस स्थान पर आने का प्रयत्न करता है। पहले वाले की नौकरी छुडवाने का प्रयत्न करता है। क्रोध प्रारभ होता है। मनमुटाव होता है। कलह होने लगता है। यह आजीविका या आहार के कारण होता है।

एक व्यक्ति की आवश्यकताएं अच्छे ढग से पूरी होती है। दूसरा उसे देखता है। उसकी आवश्यकताए पूरी नही होती। पहले व्यक्ति के मन मे अहभाव आ जाता है। अहंकार सदा दूसरे को देखकर ही आता है। अपने से हीन व्यक्ति को देखकर दूसरे को अहकार करने का अवसर मिलता है। यदि सामने हीनता न हो तो अहकार को प्रकट होने का अवसर ही नही मिल पाता। कर्म के उदय से भी अहकार का भाव अचानक जाग जाता है। यह आकस्मिक होता है। उन परमाणुओ का वेदन करना होता है। परन्तु सामान्यत अहकार जागता है हीनता को सामने देखकर। दूसरे की हीनता पर अहकार जागता है।

एक आदमी को झाड़ू लगाना है, दूसरे को नही। अहकार जाग जायेगा। यह मेरे सामने झाड़ू लगाने वाला है—यह अहकार का निमित्त बनता है। आजीविका की वृत्ति पर भी अहकार जागता है।

आजीविका माया को भी जगाती है। रोटी और आजीविका के लिए, न जाने कितने लोग, किस प्रकार की माया का आचरण कर लेते हैं। माया जागती है। लोभ भी जागता है। धनार्जन के लिए कितने लोग किस प्रकार के लोभ का आचरण करने हैं। आहार की वृत्ति के कारण क्रोध आदि चार वृत्तियो की अभिव्यक्ति होती है।

भय के कारण भी चारो वृत्तिया पनपती है। इसी प्रकार मैथुन और परिग्रह की वृत्ति के कारण भी ये चारो वृत्तिया पनपती है, व्यक्त होती है।

परिग्रह से क्रोध की वृत्ति जागती है। अहकार तो उसके साथ है ही। जिसके पास अधिक संग्रह है, परिग्रह है, वह निश्चित ही अहकारी बना रहेगा। माया की वृत्ति परिग्रह के कारण जागती है। लोभ परिग्रह से जुडा हुआ है।

प्रथम वर्ग की चित्तवृत्तियो मे दूसरे वर्ग की चित्तवृत्तियो को जगाने की क्षमता है, उन्हें उभारने की क्षमता है।

तीसरा वर्ग है—ओघ सज्ञा और लोक सज्ञा। ओघ सज्ञा का अर्थ है सामुदायिकता की सज्ञा। मनुष्य मे समूह की सज्ञा होती है, समूह की चेतना होती है, समूह मे रहने की मनोवृत्ति होती है। मानसशास्त्री मेक्समूलर ने मनुष्य की एक वृत्ति का उल्लेख किया है। वह है—यूथचारिता। इसका अर्थ है समूह मे रहने की मनोवृत्ति। इससे ओघ सज्ञा की तुलना की जा सकती है। यह है ओघ चेतना, समष्टि की चेतना, सामुदायिक चेतना। पशुओ मे भी यह चेतना है, मनुष्य मे भी यह चेतना है। इसीलिए गाव बसा, नगर बसा, समाज बना। समाज मे रहने की मनोवृत्ति और समाज का अनुकरण करने की मनोवृत्ति को सामुदायिक चेतना कहते हैं। हम कई बार लोगो को ऐसा कहते हुए सुनते है कि 'जो सबको होगा वह हमे भी हो जायेगा। क्या अतर पडेगा। जब सब ऐसा काम करते हैं, तो मैं क्यो नही करू! जो परिणाम सबको होगा, वह मुझे भी हो

जायेगा। मैं अकेला इससे वचित क्यों रहू ?' यह सामुदायिक चेतना की बात है। यह ओघ सज्ञा है। इसे यूथचारिता कहा जा सकता है।

एक है लोक सज्ञा। यह वैयक्तिक चेतना है। प्रत्येक प्राणी मे कुछ विशिष्टताए होती है। इन विशिष्टताओ के कारण कुछ आचरण होते हैं। जो आचरण सामुदायिक चेतना के कारण नही होते किंतु अपनी विशिष्टताओ के कारण होते हैं, वे वैयक्तिक चेतना के कार्य हैं। व्यापारी का लडका व्यापारी, सुनार का लडका सुनार, खाती का लडका खाती और किसान का लडका किसान होता है। प्राय यह स्थिति बनती है कि पिता का व्यवसाय पुत्र सभाल लेता है। इसके पीछे एक वैयक्तिक विशिष्टता काम करती है। यह समूचे समाज मे, समुदाय मे नही मिलती। यह विशेषता व्यक्तिगत विशेषता होती है और वह उस ओर चला जाता है। यह व्यक्तिगत चेतना है। यह एक विशेष प्रकार की रुचि है।

ये दस प्रकार की सज्ञाए है। ये व्यवहार और आचरण को प्रभावित करती हैं। इन्हे आचरणो का स्रोत कहा जा सकता है।

प्रश्न होता है क्या ये मूल स्रोत है ? प्रश्न और आगे बढ गया। उत्तर होगा कि ये स्रोत हैं, किंतु मूल स्रोत नही हैं। गगा बह रही है। प्रवाह को रोककर बांध बना दिया। बाध के फाटक खोल दिये गये। वहा से पानी का प्रवाह आगे चलता है। वह बाध इस प्रवाह का स्रोत बन जाता है, किंतु वह मूल स्रोत नही है। मूल स्रोत को खोजने के लिए गगोत्री तक पहुचना होगा। गगा का मूल स्रोत है गगोत्री। यहा से गगा का प्रवाह प्रारभ होता है।

ये दस वृत्तिया बीच के बने हुए बाध हैं। इनके फाटक खुले हैं। इनमे से छनकर निकलने वाली चेतना आगे प्रवाहित होती है और हमारे आचरणो को प्रभावित करती है। किंतु ये मूल स्रोत नही हैं। मूल स्रोत की खोज मे बहुत आगे जाने की जरूरत है। आज के शरीरशास्त्रियो ने बहुत सूक्ष्म खोजें की हैं। पहले पाच मूल तत्त्व या पाच भौतिक तत्त्व ही मूल कारण माने जाते थे। आज के वैज्ञानिक वैसा नही मानते। उन्होंने इतने सूक्ष्म तत्त्व खोज लिये हैं कि ये पाच तत्त्व—पृथ्वी, अप्, तेजस, वायु और आकाश तो उनके ही सरक्षक बन जाते हैं। ये मूल कारण नही है। मूल कारण कुछ और हैं।

प्राचीन शरीर-विशेषज्ञ हृदय, स्नायु-संस्थान, गुर्दा—इनको शरीर के सचालक मानते थे। किंतु वर्तमान शरीरशास्त्र की खोजो ने यह प्रमाणित कर दिया कि मूल कारण इनसे भी बहुत आगे है। वे हैं हमारे हार्मोन (Hormone) ग्रथियो के स्राव। हमारे शरीर की विभिन्न ग्रथिया जो स्राव करती हैं, वे हारमोन जो निकलते हैं, वे मूल हैं, वे आधार हैं। वे शरीर और मन को जितना प्रभावित करते हैं, उतना प्रभावित हृदय, यकृत, स्नायु-सस्थान आदि नही करते। हार्मोन

की खोज ने, ग्रथियो के स्राव की खोज ने चिकित्सा जगत् मे सचमुच एक क्राति ला दी, कायाकल्प-सा कर दिया। इस खोज ने मानस-विश्लेषण की और शारीरिक विकास की विधा को दूर तक पहुचा दिया।

ग्रथिया हमारे शारीरिक और मानसिक विकास को प्रभावित करती है। कठमणि (थायरायड) शरीर की वृद्धि, शरीर के समूचे विकास को प्रभावित करती है। यदि इसका स्राव ठीक नही है तो आदमी बौना का बौना रह जाता है। थायरायड से उत्पादित रस का नाम थायरेक्सिन (Thyrexin) है। यह शरीर की पुष्टि, वृद्धि और मन के विकास का घटक रस है। यदि यह रस समुचित रूप से उत्पन्न नही होता है तो शरीर कमज़ोर रह जाता है और बुद्धि का विकास नही हो पाता, मन का विकास नही होता। भय और क्रोध की अवस्था मे कठमणि का स्राव समुचित नही होता। इसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारिया उत्पन्न होती हैं।

पिनीयल (Pineal) ठीक काम नही करती है तो प्रतिभा का विकास नही होता। इस ग्रथि के स्राव के बिना कोई भी व्यक्ति प्रतिभाशाली नही हो सकता। यदि समुचित परिमाण मे यह रस प्राप्त नही होता है तो शरीर का सतुलन, मन और शरीर तथा प्राणो का नियत्रण ठीक नही रह सकता।

एड्रेनल (Adrenals) ग्रथि का स्राव समुचित नही होता है तो भय, चिंता, क्रोध उत्पन्न होता है, सारी अस्त-व्यस्तताए होती हैं। इसका रस बिना निमित्त के भी बन जाता है। उसके प्रभाव से आदमी अकारण ही चिंतित रहने लग जाता है।

इस ग्रथि से निकलने वाला रस एड्रेनलिन (Adrenalin) कहलाता है। शारीरिक स्फूर्ति का यह निमित्त बनता है। जब कभी प्राणी खतरे के छोर पर होता है तब यह ग्रथि अधिक स्राव करती है और वह रस अधिक मात्रा मे रक्त मे मिलकर प्राणी को खतरे से मुकाबला करने की शक्ति प्रदान करता है। कभी-कभी होने वाले असाधारण कार्य भी इसी के फलस्वरूप होते है।

गोनैड (Gonads) ग्रथि से यौन-उत्तेजना तथा शारीरिक यौन-चिह्न उत्पन्न होते हैं। कर्म-शास्त्र की भाषा मे जिसे हम 'वेद' कहते हैं, उससे इस ग्रंथि का सबध है। लिंग-परिवर्तन—स्त्री से पुरुष हो जाना या पुरुष से स्त्री हो जाना—यह सारा इसी ग्रथियो के स्राव पर निर्भर होता है।

ग्रथियो के स्राव से सबधित ये खोजें बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। शारीरिक ग्रथियो के स्रावो के परिवर्तन के आधार पर अनेक प्रकार की विभिन्नताए उत्पन्न होती हैं। किंतु ये ग्रथिया या इनके स्राव भी मूल कारण नही हैं। इनके पीछे भी कुछ सूक्ष्म कारण हैं। ये जो रस स्राव हमारी वृत्तियो को, हमारे व्यवहार और आचरणो को प्रभावित करते हैं उनके पीछे भी कोई दूसरा सूक्ष्म कारण और है।

मूलस्रोत या महास्रोत कोई दूसरा ही है। उस मूलस्रोत की खोज करने के लिए ही हमारी यह यात्रा है। इस यात्रा मे चलते-चलते हम एक बिंदु पर पहुचे हैं। उस बिंदु का, उस मूल स्रोत का, उस गगोत्री का नाम होगा 'कर्म'। यह हमारे आचरणो का, व्यवहारो का, वृत्तियो का मूलस्रोत है, महास्रोत है।

आज केवल कर्म की पृष्ठभूमि की चर्चा की। अव मूलस्रोत का स्वरूप क्या है—इस पर आगे चर्चा करेंगे।

९

कर्म : चौथा आयाम

- विज्ञान के चार आयाम—लवाई, चौडाई, ऊचाई, काल ।
- कर्मशास्त्र के पाच आयाम—लवाई, चौड़ाई, ऊचाई, अदृश्य, अमूर्त्त ।
- ग्रथियो का सवध स्थूल शरीर से ।
- कर्म का सवध सूक्ष्म शरीर से ।
- कुछ आकस्मिक-सा लगता है किंतु वह भी आकस्मिक नही है ।
- प्रवृत्ति और परिणाम को अलग नही किया जा सकता ।
- आज की प्रवृत्ति . अतीत का परिणाम । आज का परिणाम : अतीत की प्रवृत्ति ।
- कार्य-कारण की मीमासा मे तीनो अपेक्षित—वर्तमान, अतीत और भविष्य ।



कुछ समय पहले तक विज्ञान तीन आयामो से परिचित था—लवाई, चौडाई और ऊचाई । ये हमारे जगत् के तीन आयाम हैं । प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलवर्ट आइस्टीन के पश्चात् चौथे आयाम की स्थापना हुई । आज का वैज्ञानिक जगत् चार आयामो से परिचित है । चौथा आयाम है—काल, काल की अवधारणा । इससे वहुत क्रातिकारी परिवर्तन हुआ, अतीत की यात्रा का उद्घाटन हो गया । इससे पीछे की ओर लौटना सभव हो गया ।

कर्म-शास्त्र के क्षेत्र मे चौथे आयाम की वात पहले से ही स्वीकृत थी और

पाचवें आयाम की वात भी वहुत स्पष्ट थी। उसमे चौथा आयाम है—अदृश्य और पांचवा आयाम है—अमूर्त।

एक तत्त्व ऐसा भी है जिसकी कोई लम्बाई नही, चौडाई नही और ऊचाई भी नहीं। वह किसी भी उपकरण के द्वारा दृश्य नही है। सूक्ष्मतम उपकरण भी उसे नही पकड पाते, देख नही पाते। उसे हम अदृश्य इसलिए कहते हैं कि वह हमारे चर्म-चक्षुओ द्वारा दृश्य नही है। वह दृश्य है अतीन्द्रिय शक्तियो के द्वारा।

पाचवा आयाम है—अमूर्त। वह वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से अतीत है। इस अमूर्त के साथ कर्म का सबंध है, इसलिए हमे पाचवें आयाम तक यात्रा करनी पडेगी।

पहले चौथे आयाम की यात्रा पर चलें। हमारे शरीर मे जो ग्रंथियो के स्राव हैं, उनका कार्य हमारे स्थूल शरीर मे ही होता है। उनका पूरा सबंध स्थूल शरीर से ही है। ये ग्रंथिया स्थूल शरीर के अवयव हैं। इनसे स्थूल शरीर और मन प्रभावित होता है।

कर्म का सबध स्थूल-शरीर से नही है। उसका सबध है सूक्ष्म शरीर से। कर्म के पुद्गल वहुत सूक्ष्म हैं। ये ग्रथियो के स्राव अष्टस्पर्शी—आठ स्पर्श वाले हैं। वे आठ स्पर्श हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु और कठोर। कर्म के पुद्गल सूक्ष्म है। वे चार स्पर्श वाले हैं। वे चार स्पर्श है—शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। प्रत्येक परमाणु कर्म नही वन सकता। वे ही परमाणु कर्म वन सकते हैं जो सूक्ष्म होते हैं, जिनमे केवल चार ही स्पर्श होते हैं, जो केवल चतुस्पर्शी होते हैं। स्थूल परमाणु कर्म नहीं वन सकते। स्थूल परमाणुओ मे कर्म वनने की और उस अमूर्त की शक्तियो को आवृत करने की क्षमता नहीं है। किंतु उन सूक्ष्म परमाणुओ मे वह शक्ति है, जिनमे केवल चार स्पर्श ही होते हैं। हमारी ग्रंथियो के जितने स्राव हैं, उनमे आठो स्पर्श हैं। किंतु जो कर्म के पुद्गल हैं, वे चार स्पर्श वाले ही होंगे। इस प्रकार पुद्गलो के दो वर्ग हो गये—एक चतुस्पर्शी पुद्गलो का वर्ग और दूसरा अष्टस्पर्शी पुद्गलो का वर्ग। चतुस्पर्शी पुद्गल सूक्ष्म हैं। वे किसी भी सूक्ष्मतम उपकरण के द्वारा अदृश्य हैं। आज अनेक ऐसे सूक्ष्म उपकरण आविष्कृत हुए हैं, जिनके द्वारा चर्म चक्षुओ से नही दीखने वाले पदार्थ भी देखे जा सकते हैं। किंतु कर्म पुद्गल, कर्म के परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि वे किसी भी उपकरण के द्वारा नही देखे जा सकते। वे किसी भी उपकरण के द्वारा ग्राह्य नही हो सकते। इस भाषा मे उन्हे अदृश्य भी कहा जा सकता है।

यह सारी अदृश्य जगत् की चर्चा है। यह उस जगत् की चर्चा है, जो हमारी इद्रियो का विषय नहीं है, जो हमारे द्वारा आविष्कृत उपकरणो का विषय नही है। उसे जानने के लिए विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान चाहिए।

वैज्ञानिको ने आज ऐसे उपकरण वनाये हैं जिनके माध्यम से मृत्यु के समय

स्थूल-शरीर से निकलने वाली आत्मा का फोटो लिया जा सकता है। उस समय आत्मा अकेली नही होती। उसके साथ सूक्ष्म-शरीर होते हैं।

वैज्ञानिक मानते है कि वह आत्मा का फोटो है। आत्मा का फोटो नही लिया जा सकता। वह अमूर्त है। अमूर्त को कोई भी उपकरण ग्रहण नही कर सकता। किंतु आत्मा जब एक स्थूल शरीर को छोडकर बाहर निकलती है, तब उसके साथ सूक्ष्म शरीर अवश्य ही रहते हैं। वे सूक्ष्म शरीर दो है—तैजस और कार्मण। तैजस शरीर है तेजोमय पुद्‌गलो का और कार्मण शरीर है कर्म पुद्‌गलो का। कर्म का शरीर निश्चित ही उसके साथ रहता है। कर्म-शरीर के बिना नया जन्म नही होता, नया शरीर प्राप्त नही होता। तैजस शरीर का फोटो लिया जा सकता है, केवल आत्मा का फोटो नही लिया जा सकता।

कर्म की चर्चा का अर्थ है—अतीत की चर्चा। हमारी वर्तमान की यात्रा से कर्म का कोई सबध नही है। उसका संबध है अतीत की यात्रा से। अतीत मे जो हमारी प्रवृत्ति हुई है, अतीत मे जो कुछ हमने किया है, उसका सबध हमारी आत्मा से स्थापित हो जाता है। यह है वर्तमान के माध्यम से अतीत को समझने का प्रयत्न।

कर्म पौद्‌गलिक है। महावीर की यह एक महत्त्वपूर्ण स्थापना है कि कर्म पौद्‌गलिक है। महावीर ही एक अकेले व्यक्ति हुए हैं जिन्होने यह सिद्धात स्थापित किया कि कर्म पौद्‌गलिक है। अन्यान्य कर्मवादी दार्शनिको ने कर्म को वासना के रूप मे स्वीकार किया है, सस्कार के रूप मे स्वीकार किया है किंतु पौद्‌गलिक रूप मे किसी ने स्वीकार नही किया।

कर्म एक रासायनिक प्रक्रिया है। जैसे हमारी ग्रथियो की रासायनिक प्रक्रिया होती है, वैसे ही कर्म की भी रासायनिक प्रक्रिया होती है। कर्म पौद्‌गलिक पदार्थ है। कर्म न तो कोई वासना है, न कोई सस्कार है। वासना और सस्कार ये हमारे ज्ञान के क्रम मे होने वाली कडिया हैं। हम किसी वस्तु को जानते हैं। सबसे पहले अवग्रह होता है। उस वस्तु का सामान्य ग्रहण होता है। अवग्रह के बाद ईहा होती है। गृहीत वस्तु पर विमर्श होता है कि यह वस्तु क्या है ? कोई भी नयी वस्तु को हमने देखा, जाना, ग्रहण किया। फिर विमर्श प्रारभ होता है कि यह वस्तु क्या है ? क्या होनी चाहिए ? विमर्श करते-करते हम निष्कर्ष पर पहुचते है। अनेक सशयो मे से गुजरते हुए, अनेक तर्क-वितर्क की घाटियो को पार करते हुए, जब कोई निश्चित प्रमाण मिलता है, निश्चित आधार प्राप्त होता है, तब हम निष्कर्ष पर पहुचते है कि यह वस्तु अमुक है, यह अवाय है, निश्चयात्मक ज्ञान है। अब वस्तु के प्रति सशय नही रहता, निश्चय हो जाता है कि यह वही है। यह आदमी ही है, यह खभा ही है, आदि-आदि। निश्चय के पश्चात् धारणा होती है। यह चौथा क्रम है ज्ञान का। जो निश्चय होता है वह हमारी धारणा मे स्थिर हो

जाता है। वह हमारे स्मृति-कोष्ठो मे चला जाता है। धारणा लवे समय तक टिक जाती है। अवग्रह मे थोडा समय लगता है, ईहा मे थोडा समय लगता है, अवाय मे कुछ ज्यादा समय लगता है, किंतु धारणा दीर्घकाल तक चलती है। उसका समय सबसे लवा है। ग्रहण, विमर्श और निश्चय का कालमान अल्प होता है। धारणा का कालमान दीर्घ होता है। वह वैसी-की-वैसी हजारो वर्षों तक वनी रह सकती है। धारणा का ही एक नाम है—वासना। धारणा का ही एक नाम है—सस्कार। धारणा का ही एक नाम है—अविच्युति। वह च्युत नही होती। वह टिकी रहती है। वह वासना वन जाती है। वह मस्कार वन जाती है। वही धारणा, वासना या मस्कार, किसी निमित्त को पाकर जव उद्‌वुद्ध होती है, जागृत होती है, तव स्मृति होती है। स्मृति का हेतु है—वासना। स्मृति का हेतु है—मस्कार। स्मृति का हेतु है—धारणा।

धारणा अच्छी है या वुरी, इसका कोई प्रश्न नहीं है। धारणा अच्छा परिणाम देती है या वुरा परिणाम—इसका भी प्रश्न नही है। वह मात्र स्मृति का कारण वनती है। कोई परिस्थिति, कोई परिवेश, कोई हेतु ऐसा मिला और जो वात स्मृति-कोष्ठ मे थी, धारणा-पटल मे थी, वह जाग गयी और स्मृति के रूप मे उभर आयी। हमे ज्ञान हो गया—यह वह है। जो शब्द सुना था, जो दृश्य देखा था, पूरा-का-पूरा चित्र स्मृति के आधार पर हमारे सामने आ जाता है। मनोविज्ञान इसे 'स्मृति-चित्र' कहता है। स्मृति का प्रतिरूप हमारे सामने आ जाता है। जैसा देखा था, जैसा सुना था, वैसा-का वैसा स्मृति-पटल पर उभर आता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि सगीत के जो मधुर स्वर कभी सुने थे, वे किसी निमित्त को पाकर स्मृति-पटल पर उभरते हैं और तत्काल कानो मे वे स्वर गूजने लग जाते हैं। यह केवल स्मृति है। इसी प्रकार जो दृश्य वर्षों पूर्व देखा था, जो स्मृति-पटल पर अकित था, वह निमित्त के मिलते ही साक्षात्-सा हो जाता है। आकृति दीखने लग जाती है। मार्ग, मकान, वगीचे सव-कुछ दीखने लग जाते हैं। ये सारे स्मृति के रूप हैं। ये सारे वासना और मंस्कार के कार्य हैं। इनके साथ हम अच्छाई या वुराई को नही जोड सकते। यह वासना का कार्य नही है। मस्कार का भी यह कार्य नही है। प्रश्न होता है कि यह कार्य किसका है?

स्मृति के उभरने के वाद, अच्छाई और वुराई को जोडने वाली एक तीसरी सत्ता है। वह है कर्म। कर्म न वासना है, न मस्कार है, न धारणा है और न स्मृति। वह इन सबसे भिन्न है, पृथक् है। यह भिन्न इसलिए है कि ज्ञान के क्रम मे कर्म नही वनता। केवल ज्ञान का जो क्रम है, कोश जानने का जो क्रम है, वहा कर्म की रचना नहीं होती, कर्म का सबध हमारी आत्मा के साथ स्थापित नही होता। यह सबध कव और कैसे स्थापित होता है, इस प्रश्न पर हमे विचार करना है।

महावीर से पूछा गया—"भते! कर्म का सबध कितने स्थानो से होता है?"

महावीर ने कहा—"दो स्थानो से कर्म का संबंध होता है। एक स्थान है राग का और दूसरा स्थान है द्वेष का। इन दो स्थानो से आत्मा के साथ कर्म का संबंध होता है। यह राग और द्वेष से स्थापित होने वाला संबंध है। कोरे ज्ञान से कोई संबंध नही होता, वासना से कोई संबंध नही होता, संस्कार से कोई संबंध नही होता, स्मृति से कोई संबंध नही होता। जब इनकी पृष्ठभूमि मे राग नही होता, द्वेष नही होता तो कर्म का संबंध स्थापित नही होता। हम कितना ही जानें, कर्म का संबंध नही होगा। जैसे-जैसे चेतना का विकास होता चला जायेगा, जानने की हमारी क्षमता बढ़ती चली जायेगी, तब भी कर्म का कोई संबंध स्थापित नही होगा। कर्म का संबंध होगा राग से। कर्म का संबंध होगा द्वेष से।

दो प्रकार की अनुभूतिया हैं। एक है प्रीत्यात्मक अनुभूति और दूसरी है अप्रीत्यात्मक अनुभूति। प्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को राग कहते हैं और अप्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को द्वेष कहते हैं। प्रीति और अप्रीति—इनके अतिरिक्त तीसरी कोई संवेदना नही होती। सारी अनुभूतिया, सारी संवेदनाए—इन दो अनुभूतियो, इन दो संवेदनाओ मे समा जाती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ—यह इन्ही का विस्तार है। भय, शोक, घृणा, हास्य, वासना (काम-वासना) ये सारे इन्ही दो अनुभूतियों का विस्तार है, प्रपच है, किंतु स्वतंत्र अनुभूतिया नही है। सारी अनुभूतियां इन दो मे समा जाती हैं।

जैन आचार्यो ने क्रोध और अभिमान को द्वेषात्मक अनुभूति और माया तथा लोभ को रागात्मक अनुभूति माना है। राग और द्वेष—यह सामान्य वर्गीकरण है। जब विभिन्न दृष्टियो से विचार किया गया, नयो की दृष्टियो से विचार किया गया तो इस वर्गीकरण का विस्तार हुआ। संग्रहनय की दृष्टि मे दो ही वृत्तिया हैं, दो ही अनुभूतिया हैं—एक है रागात्मक, एक है द्वेषात्मक। व्यवहार नय और ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से विचार किया गया तो इस वर्गीकरण मे परिवर्तन आ गया। यह फलित हुआ कि अभिमान द्वेषात्मक है क्योकि अभिमान जो है वह दूसरे के गुणो के प्रति असहिष्णुता का प्रतीक है। व्यक्ति दूसरे को सहन नही कर पाता इसलिए अभिमान पैदा होता है। यह द्वेष है, अप्रीत्यात्मक संवेदना है। परंतु एक प्रश्न होता है, क्या मान प्रीत्यात्मक नही होता ? मान प्रीत्यात्मक भी हो सकता है। दूसरे के प्रति हीनता का भाव है असहिष्णुता का भाव है, इसलिए तो मान अप्रीत्यात्मक है। किंतु जब अपने उत्कर्ष की अनुभूति होती है, उस समय वह प्रीत्यात्मक बन जाता है। उत्कर्ष कितना अच्छा लगता है! मानवीय चेतना जब अपने उत्कर्ष का अनुभव करती है तब वह अनुभूति अप्रीत्यात्मक नहीं होती, वह प्रीत्यात्मक होती है। इसलिए मान प्रीत्यात्मक भी है और अप्रीत्यात्मक भी है। दूसरे की हीनता के प्रदर्शन मे वह अप्रीत्यात्मक होता है और अपने उत्कर्ष की अनुभूति मे वह प्रीत्यात्मक होता है।

माया को रागात्मक माना गया है। माया-काल मे चेतना की जो अनुभूति होती है वह प्रिय लगती है कि मैंने बहुत समझदारी से काम किया कि वह परास्त हो गया, प्रताडित हो गया। उस समय सुखद अनुभव होता है, प्रीति का अनुभव होता है। माया प्रीत्यात्मक होती है। यह एक बात है।

माया वचनात्मक चेतना है। यह दूसरे को ठगने का काम करती है। यह परोपघात है। जो परोपघात होगा वह निश्चित ही अप्रीत्यात्मक होगा, द्वेषात्मक होगा। इस प्रकार माया की अनुभूति केवल प्रीत्यात्मक या रागात्मक ही नही है, वह अप्रीत्यात्मक या द्वेषात्मक भी है।

इसी प्रकार लोभ प्रीत्यात्मक तो है ही, क्योकि वह एक आसक्ति है, कुछ लेने की भावना है, अपने लिए अर्जित करने की भावना है। बडी प्रियता है उसमे। किंतु जब दूसरे के स्व को हड़पने के लिए चेतना काम करती है, दूसरे के अधिकारो को छीनने की भावना होती है, दूसरे के अधिकार मे आये हुए पदार्थ को छीनने की इच्छा होती है, तब लोभ अप्रीत्यात्मक बन जाता है। परोपघातक बन जाता है।

माया, मान और लोभ—ये तीनो प्रीत्यात्मक भी होते हैं और अप्रीत्यात्मक भी होते हैं। क्रोध ही एक ऐसा है जो कोरा अप्रीत्यात्मक ही होता है। उसका सबध है द्वेष से, अप्रीति से। प्रीति से उसका सबध नही जुडता। राग से उसका सबध नही जुडता।

इस प्रकार हमारी सारी अनुभूतिया, हमारी सारी सवेदनाए प्रीत्यात्मक या अप्रीत्यात्मक—इन दो चेतनाओ मे समाहित हो जाती हैं।

इन सारी अनुभूतियो या सवेदनाओ का कारण है—रागात्मक चेतना और द्वेषात्मक चेतना। दो ही कारण हैं। ये ही उन कर्म पुद्‌गलो को आकृष्ट करते हैं। इनके अतिरिक्त कोई ऐसी शक्ति नही है जो उन कर्म-पुद्‌गलो को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। केवल इन दो अनुभूतियो मे वह शक्ति निहित है जो उन कर्म-पुद्‌गलो को खीचती है और आत्मा के साथ उनका सबध स्थापित करती है।

ऐसा क्यो होता है ? क्या यह आत्मा के लिए इष्ट है ? प्रश्न इष्ट और अनिष्ट का नही है। यह एक उलझन है, एक चक्र है जिसका मुह नही निकाला जा सकता। यह एक वलय है। पता नही लगाया जा सकता कि इसका आदि कहा है और अत कहा है ? मुह कहा है और छोर कहा है ? यह उलझन है कि क्या आत्मा मे राग-द्वेष है, इसलिए कर्म-पुद्‌गल आ रहे है या कर्म आ रहे हैं, इसलिए राग-द्वेष चल रहा है। राग-द्वेष के आधार पर कर्म का प्रवेश और कर्म के आधार पर राग-द्वेष का जीवित रहना, चिरजीवी होना—यह एक वलय है। राग-द्वेष के चिर-जीवन का कारण है कर्म और कर्म के प्रवेश का कारण है—राग-द्वेष। यह एक पूरा चक्र है। यह निरतर गतिमान् है, कही टूटता नही। राग-द्वेष से कर्म और कर्म से राग-द्वेष चलता रहता है।

यह एक वृत्त है। इसमे सारी स्थितिया पलती जा रही हैं। यही वृत्त हमारे सभी आचरणो का आधार वनता है। यह स्थिति तव तक चलती रहती है जव तक हम संज्ञातीत चेतना तक नही चले जाते, जव तक हमारी चेतना वीतराग नही वन जाती। जव तक वीतराग चेतना प्राप्त नही होती, सज्ञातीत चेतना उपलब्ध नही होती तव तक संज्ञा की चेतना, राग-द्वेष की चेतना चलती रहती है, यह चक्र निरतर गतिशील रहता है। हमारे सारे आचरण उससे प्रभावित रहते हैं।

हम किसी भी घटना का या मानवीय आचरण की केवल परिस्थिति, हेतु या निमित्त के आधार पर व्याख्या नही कर सकते। केवल शारीरिक या रासायनिक परिवर्तनो के आधार पर व्याख्या नही कर सकते। उनकी व्याख्या के लिए हमे अतीत को देखना होता है। दूसरे शब्दो मे, कर्म के विपाक की व्याख्या करने के लिए, हमे कर्म के वीज को देखना होगा। हमे देखना होगा कि इस विपाक या परिणाम का वीज कहा है और क्या है? उसके बिना उसकी पूरी व्याख्या नही की जा सकती। कभी-कभी हमे लगता है कि यह आकस्मिक हो गया। किंतु कुछ भी आकस्मिक नही होता। उसके पीछे एक हेतु होता है, एक कारण होता है। छिपा हुआ जो वीज है, वह कारण है। कारण को हम जव तक ठीक नही समझ लेते तव तक उस आचरण का ठीक चित्र प्रस्तुत नही कर सकते। एक आदमी सामान्य जीवन जीते-जीते एक असामान्य आचरण कर लेता है। हम आश्चर्य मे पड जाते हैं—अरे, वह वहुत वडा आदमी था। ऐसा काम वह कर नही सकता। उससे ऐसा काम हो नही सकता। हम एक आश्चर्य के द्वारा उस व्यक्ति के साथ उस आचरण का सवध जोडना नही चाहते, किंतु तोडना चाहते हैं। यह कोई आश्चर्य नही है। आप पचास वर्ष के जीवन को देखकर, वर्तमान और आखो के सामने गुज़रने वाले जीवन को देखकर इतना आश्चर्य नही कर सकते। यदि हमारा जीवन केवल पचास वर्ष का ही जीवन होता तो सहज ही हमे यह आश्चर्य हो सकता था कि 'ऐसा नही होना चाहिए था।' किंतु यह आश्चर्य ही एक विंदु है और उस विंदु पर हम पहुचकर कुछ रुक सकते हैं तथा अतीत की ओर लौटने को वाध्य हो सकते हैं। तव हमे ज्ञात होता है कि इस व्यक्ति का जीवन पचास वर्ष का ही नही है, और पीछे का है। इसका तात्पर्य यह है कि इस व्यक्ति का आचरण, पचास वर्ष मे होने वाले जो व्यवहार हैं, उनका प्रतिफलन ही नही है किंतु यह और किसी तत्त्व का प्रतिफलन है, जहा से कि यह फलित हो रहा है।

अतीत का दर्शन वहुत विचित्र होता है। आप यह न माने कि वर्तमान का क्षण समाप्त होते ही सव कुछ समाप्त हो जाता है। ससार मे दो प्रकार के पदार्थ है—विनाशी और अविनाशी, नश्वर और अनश्वर, नित्य और अनित्य। हम केवल नित्य को ही मानकर न चलें, केवल अनित्य को ही मानकर न चलें। नित्य और अनित्य, नश्वर और अनश्वर, शाश्वत और अशाश्वत—दोनो की सगति के

आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालें तो हमारे निष्कर्ष सही होंगे। अन्यथा वे निष्कर्ष गलत सावित होंगे। यह नित्य और अनित्य की जो युति है, यह क्षणिक और अक्षणिक की जो युति है, उस युति के आधार पर हम निष्कर्ष निकालें तो वह यह होगा कि जिसका अस्तित्व है, वह कुछ भी नष्ट नही होता। विज्ञान की भाषा मे कहा जाता है कि ऊर्जा कभी नष्ट नही होती। पदार्थ भी कभी नष्ट नही होता। जो जितना है, वह उतना ही था और उतना ही रहेगा। भगवान् महावीर ने यही कहा—द्रव्य कभी नष्ट नही होता। पर्याय वदलती रहती है। वह परिवर्तनशील है। उसमे रूपातरण होता रहता है। मूल कभी नष्ट नही होता। सत्ता कभी नष्ट नही होती। जिसका अस्तित्व स्थापित है, वह कभी नष्ट नही होता। पर्याय भी चिरकालिक होते हैं। वे भी तत्काल नष्ट नही होते।

हमारे शरीर से तदाकार प्रतिकृतिया निकलती हैं। प्रत्येक प्राणी के शरीर से ही नही, किन्तु प्रत्येक पदार्थ से उसी आकार की प्रतिकृतिया निकलती हैं और वे आकाश मे फैल जाती हैं। हमारे चिन्तन की प्रतिकृतिया निकलती हैं, उनके चित्र निकलते हैं और वे सब आकाश मे फैल जाते हैं। हम वोलते हैं। भाषा के पुद्गल आकाश मे फैल जाते हैं और वे हजारो-हजारो वर्षो तक उसी रूप मे वने रहते हैं। यही तो आधार वनता है अतीत की यात्रा का। यही चौथे आयाम का आधार वनता है।

आज हम अपनी चेतना को विकसित करें, हम अवधिज्ञान और मन पर्यव ज्ञान का विकास करें, जिसमे कि हजारो वर्ष पहले के शरीर की आकृतियो को देख सकें, उसे साक्षात् कर सकें। हजारो-हजारो वर्ष पहले की जो चिंतन की प्रतिकृतिया है, उनको देखकर हम उन विचारो को जान सके। हजारो-हजारो वर्ष पहले वोली गयी भाषा की जो वर्गणाए हैं, भाषा के जो पुद्गल हैं, उन पुद्गलो को हम सुन सकें। हम देख सकें, सुन सकें और पढ सकें कि ये भाषा की प्रतिकृतिया हैं, ये मन की प्रतिकृतिया हैं और ये शरीर की प्रतिकृतिया है। चेतना के विकास के द्वारा यह सभाव्य है। ऐसा भी सभव है कि कोई वैज्ञानिक सूक्ष्मतम यन्त्रो का आविष्कार कर, उनके माध्यम से यह सभव वना सके।

वैज्ञानिक जगत् मे यह प्रयत्न चल रहा है कि राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि-आदि महापुरुषो की वाणी के पुद्गलो को पकडकर हम उन्हे साक्षात् सुनें। प्रयत्न चल रहा है। सफल कव होंगे—यह कहा नही जा सकता। पर ऐसा होना सम्भव है। यह असभव वात नही है। सभव है, क्योकि आधार निश्चित है। जव भाषा मौजूद है तो प्रश्न भाषा का नही रहा, प्रश्न उसे पकडने का रहा। यदि हमे पकडने का अच्छा माध्यम मिल जाये तो हम शब्दो को सुन सकते हैं, आकृतियो को साक्षात् देख सकते हैं। आत्मा को नहीं देख सकते, किन्तु उन महापुरुषो के

शरीर की आकृतियो को देख सकते हैं। उनके द्वारा जो सोचा गया था, जो कहा गया था, उसे जान सकते हैं, पढ सकते है।

इसी प्रकार कर्म के जो परमाणु हैं, जो आत्मा के साथ सबध स्थापित करते हैं और विपाक के बाद वापस चले जाते है, वे भी आकाश मे भरे हुए है। उनके आधार पर भी यह निर्णय लिया जा सकता है कि इस व्यक्ति का यह विपाक है तो इसने अतीत मे क्या किया था और किस प्रकार कितनी मात्रा के राग-द्वेष के द्वारा इन पुद्‌गलो के द्वारा, आत्मा के साथ सबध स्थापित किया था। इनका किस प्रकार का विपाक हुआ—यह भी जाना जा सकता है।

हमने सुना है, पढा है कि एक व्यक्ति अतीन्द्रियज्ञानी ऋषि-मुनि के पास जाता है, तीर्थंकर के पास जाता है, केवलज्ञानी के पास जाता है और पूछता है—'भते ! अभी मैं यह विपाक भोग रहा हू। आप मुझे बताए कि मैंने क्या किया था, जिसका यह विपाक मुझे भोगना पड रहा है ? यह किसका परिणाम है ?' तब वे अतीन्द्रियज्ञानी कहते हैं—तुमने अमुक जीवन मे अमुक प्रवृत्ति की थी, उसी का यह परिणाम है, विपाक है।

भगवान् महावीर के पास सम्राट् श्रेणिक का पुत्र—मेघकुमार दीक्षित हुआ। वह मुनि बना। जीवन के प्रति कुछ अधीरता हो गयी। वह भगवान् के पास आया और बोला—'भते ! आपका साधुत्व आप सभाले। मैं घर जा रहा हू।' महावीर ने कहा—मेघकुमार ! बहुत आश्चर्य की बात है। आज तुम मनुष्य हो, एक सम्राट् के पुत्र हो, मेरे शिष्य हो। मुनि बन गये, फिर भी थोडे से कष्ट से घबरा गये ? इतने अधीर हो गये ? तुम्हे याद नही है, हाथी के जन्म मे तुमने कितने भयकर कष्ट सहे थे ? भूल गये ?' भूला कौन था ! कोई भूला नही था। बस, जो छिपा पडा था उसकी स्मृति दिलाने की जरूरत थी। मेघकुमार को पुनर्जन्म की स्मृति हो गयी। हाथी के जन्म मे सहे सारे कष्ट चित्रवत प्रत्यक्ष हो गये। अब सब कुछ ठीक हो गया।

हम अतीत से विच्छिन्न होकर केवल वर्तमान की व्याख्या नहीं कर सकते। प्रवृत्ति और परिणाम—इन दोनो को तोडा नही जा सकता, काटा नही जा सकता। जो परिणाम आज दृश्य है, उसके पीछे एक प्रवृत्ति है। परिणाम और प्रवृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम। आज की प्रवृत्ति अतीत का परिणाम, आज का परिणाम अतीत की प्रवृत्ति। जो वर्तमान क्षण की प्रवृत्ति है, उसके पीछे अतीत का सबध जुडा हुआ है, हेतु जुडा है, इसलिए वह परिणाम भी है और भावी परिणाम का वह हेतु भी है, इसलिए वह प्रवृत्ति भी है। वह परिणाम भी है और प्रवृत्ति भी है। वह कार्य भी है और कारण भी है। अतीत का कारण उसके पीछे है इसलिए वह कार्य है और भविष्य के कार्य का वह हेतु है, इसलिए वह कारण भी है।

हम वर्तमान, अतीत और भविष्य—इन तीनो की सघटना मे जी सकते हैं

और सत्य को पकड सकते है। केवल वर्तमान के द्वारा नही पकड सकते।

साधना का एक सूत्र है—वर्तमान मे रहो, वर्तमान मे रहो। वर्तमान मे रहना सीखो। बहुत सुन्दर बात है साधना की दृष्टि से। साधना की दृष्टि से वर्तमान मे रहना यानी भावक्रिया करना, जिस समय जो काम कर रहे हैं, उसी मे रहना, न अतीत मे जाना, न स्मृति मे जाना और न भविष्य मे जाना, न कल्पना मे जाना। कल्पना की उडान भी नही करना है और स्मृति के समुद्र मे गोते भी नही लगाना है। किन्तु वर्तमान के बिन्दु पर खडे रहना है, स्थित रहना है। साधना की दृष्टि से बहुत अच्छा है वर्तमान मे रहना। हम अतीत के पख को भी तोड डालें और भविष्य के पख को भी तोड डालें। दोनो पखो को तोड डालें। केवल वर्तमान मे रहे।

किन्तु जहा कार्य-कारण की मीमासा है, जहा सचाई को उद्घाटित करने का प्रश्न है वहा केवल वर्तमान से काम नही चल सकता। वहा अतीत का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि वर्तमान का है। वहा भविष्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना वर्तमान महत्त्वपूर्ण है। काल की अखडता को लेकर ही हम कार्य, कारण, प्रवृत्ति और परिणाम को जान सकते हैं। काल की अखडता के द्वारा ही हम उन्हे ठीक से समझ सकते हैं, पकड सकते हैं।

कर्म का सबध अतीत मे इसलिए है कि वह दीर्घकाल तक आत्मा के साथ जुडा रहता है। वह सबध स्थापित करता है और सबध स्थापित करने के बाद लबे समय तक जुडा रहता है। कर्म का सबध वर्तमान से इसलिए है कि वह लबे समय तक साथ रहने के बाद एक दिन विसर्जित हो जाता है, सदा साथ नही रहता। जो आगन्तुक होता है, वह सदा साथ नही रहता। सदा वही रह सकता है जो स्थायी है। स्थायी वही रह सकता है जो सहज होता है। जो आया हुआ है, वह सहज नही होता। कर्म सहज नही होता, वह स्वभाव नही है। सहज है चेतना। सहज है आनन्द। सहज है शक्ति। आत्मा का जो स्वाभाविक गुण है, वह है चैतन्य। कर्म आया हुआ है, सहज नही है। वह एक दिन आता है। सबध स्थापित करता है और जब तक अपना प्रभाव पूरा नहीं डाल देता तब तक बना रहता है। जिस दिन अपना प्रभाव डाल दिया, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वह चला जाता है, विसर्जित हो जाता है। विसर्जित होने का क्षण वर्तमान का क्षण है और आने का क्षण अतीत का क्षण है। विनाश का क्षण वर्तमान का क्षण है और सबध-स्थापना का क्षण अतीत का क्षण है। इन दोनो क्षणो की हम ठीक व्याख्या करें तो कर्म का पूरा सिद्धात हमारी समझ मे आ सकेगा। इन दोनो की लबाई मे हमे कर्म की यात्रा करनी है।

१०

कर्म की रासायनिक प्रक्रिया (१)

- अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सबध कैसे ?
- दो प्रकार के चित्त—भाव चित्त और पौद्गलिक चित्त। भाव चित्त का सवादी है—पौद्गलिक चित्त और पौद्गालिक चित्त का सवादी है—स्थूल शरीर।
- भावकर्म—जैविक रासायनिक प्रक्रिया।
- द्रव्यकर्म—सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया।
- वन्ध क्या है ?

  भावकर्म के द्वारा पुद्गलो का व्यक्ति के प्रभाव-क्षेत्र मे आना।



आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त। अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सवध कैसे स्थापित होता है, सहज ही यह प्रश्न उभरता है। किन्तु अमूर्त और मूर्त मे ऐसा विरोध नही है कि अमूर्त का मूर्त के साथ और मूर्त का अमूर्त के साथ मवध न हो। सवध हो सकता है। आकाश अमूर्त है, किन्तु आकाश का योग प्रत्येक पदार्थ को मिलता है। पदार्थों के आधार पर आकाश का विभाजन होता है। तर्कशास्त्र का एक प्रसिद्ध वाक्य है—घटाकाश, पटाकाश। आकाश असीम है। फिर भी एक है घड़े का आकाश, एक है कपडे का आकाश, एक है मकान का आकाश—न जाने आकाश की किनती सीमाए वन जाती हैं पदार्थों के आधार पर। आकाश का अवगाह, आकाश का आधार प्रत्येक पदार्थ को मिलता है। आकाश से सव द्रव्य

उपकृत है। यदि आकाश नही होता, यह शून्य नही होता तो कही भी रहने का स्थान नही होता। अमूर्त का मूर्त के प्रति उपकार है और मूर्त के द्वारा अमूर्त का परिणमन भी होता है, इसलिए यह बात मान्य नही हो सकती कि अमूर्त का मूर्त मे कोई सबध स्थापित नहीं हो सकता। अचेतन और चेतन मे भी संबध स्थापित होता है। चेतन का अचेतन के प्रति कुछ उपकार है तो अचेतन का चेतन के प्रति भी कुछ उपकार है। दोनो एक-दूसरे मे उपकृत होते हैं। उपकार की बात को शायद आप स्वीकार कर लें, यह सभव है। किन्तु प्रश्न है—एकात्मकता का। यह एकात्मकता कैसे स्थापित होती है ? आत्मा और कर्म मे, चेतना और पुद्गल मे एकात्मकता कैसे स्थापित हो सकती है ? ये एक कैसे बन सकते हैं ? एकात्मकता दो विरोधी द्रव्यो मे कभी नही होती। एकात्मकता नही होती, सबध हो सकता है। तादात्म्य नहीं हो सकता, सबध हो सकता है। कर्म के पुद्गल कभी चेतन नही बन सकते और चेतन कभी कर्म-पुद्गल नही बन सकता। उनमे एकात्म्य-भाव नही हो सकता। पुद्गल पुद्गल ही रहेंगे, कर्म कर्म ही रहेंगे। चेतना चेतना ही रहेगी। कर्म पुद्गलो के द्वारा चेतना के स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही होगा। और चेतना के द्वारा कर्म-पुद्गलो के स्वरूप मे भी कोई परिवर्तन नही होगा। दोनो का सयोग हो सकता है। दोनो का सबध हो सकता है। सयोगकृत या सबधकृत परिवर्तन दोनो मे होगा। चेतना कर्म-पुद्गलो की निमित्त बनेगी। और कर्म-पुद्गल चेतना के निमित्त बनेंगे।

परिवर्तन स्वभावगत होता है। कर्तृत्व उपादानगत होता है। चेतना का अपना उपादान है और कर्म-पुद्गलो का अपना उपादान है। उपादान मे कोई परिवर्तन नही ला सकता। चेतना के उपादान मे कर्म परिवर्तन नही ला सकते और कर्म के उपादान मे, पौद्गलिक तत्त्व के उपादान मे चेतना कोई परिवर्तन नही ला सकती। उपादान अपना-अपना रहेगा। केवल निमित्तो का परिवर्तन होगा। चेतना के उपादान जो हैं, उनको कुछ बदलने मे कर्म निमित्त बन सकते हैं और कर्म-पुद्गलो के जो उपादान हैं, उनके कुछ परिवर्तन मे चेतना निमित्त बन सकती है।

आत्मा के उपादान हैं—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। आत्मा का मौलिक स्वरूप है—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। ये ही आत्मा के मौलिक उपादान हैं। ये कभी नही बदलते। कितने ही कर्म-परमाणु लग जाए, इनमे परिवर्तन नही ला सकते। इनके अस्तित्व मे कोई परिवर्तन नही हो सकता।

पुद्गल के उपादान चार हैं—वर्ण, गध, रस और स्पर्श। आत्मा का कितना ही निमित्त मिले, पुद्गल का वर्ण कभी समाप्त नही होगा, गध समाप्त नही होगी, रस समाप्त नही होगा, स्पर्श समाप्त नही होगा। आत्मा इनमे परिवर्तन नही ला सकती। आत्मा के निमित्त से इन उपादानो की तनिक भी क्षति नही हो सकती।

तो यह प्रश्न होता है कि आत्मा और कर्म में क्या संबध है ? एक-दूसरे पर क्या उपकार है ? एक-दूसरे पर क्या प्रभाव है ? यह सत्तागत कुछ भी नही, उपादानगत कुछ भी नही। निमित्त की सीमा मे जितना हो सकता है, उतना ही होगा। उसकी भी एक सीमा है। ससार मे असीम कुछ भी नही है। हर शक्ति की एक सीमा है। हम उसे अनन्त भी कह सकते है। अपनी सीमा मे आकाश अनन्त है, असीम है। किन्तु जहा आत्मा का अस्तित्व है, वहा आकाश नही है। जहा धर्मास्तिकाय का, अधर्मास्तिकाय का और पुद्‌गलास्तिकाय का अस्तित्व है, वहा आकाश का अस्तित्व नही है। वह अपने क्षेत्र मे है, अपने अस्तित्व मे है। आकाश अपने अस्तित्व मे है। किन्तु जहा दूसरे द्रव्यो का अस्तित्व है, वहा आकाश नही है। यह अस्तित्व की भी एक सीमा है। पदार्थ की अस्तित्वगत एक सीमा होती है। अस्तित्वगत सीमा मे सब है। अस्तित्व कुछ भी नही वदलता। केवल परिधि मे सारे के सारे परिवर्तन होते हैं। परिवर्तन परिधिगत होते हैं। परिधिया वदलती रहती हैं, केन्द्र नही वदलता। कर्म का निमित्त मिलता है तो अमूर्त मूर्त रूप मे व्यवहृत होने लग जाता है। कर्म का निमित्त मिलता है तो चेतन अचेतन रूप मे व्यवहृत होने लग जाता है। इसीलिए आत्मा को पुद्‌गल भी कहा जाता है, मूर्त भी कहा जाता है।

आत्मा अमूर्त है, चेतनामय है, अखण्ड चेतनावान् है—यह हमारी भविष्य की अवधारणा है। यह वह धारणा है जिस दिन सब कर्मों का वियोग हो जायेगा, कर्म परमाणुओ के साथ जो सबध स्थापित है, वे सब टूट जाएगे, भावकर्म (आस्रव) समाप्त हो जाएगे और साथ-साथ द्रव्यकर्म (कर्म पुद्‌गल) भी समाप्त हो जाएगे, उस स्थिति मे आत्मा अखड ज्योतिर्मय, अखड चैतन्यमय और पूर्ण सूर्य के रूप मे प्रकट होगा। जहां कोई आवरण नही होता, अचेतन का कोई सबध नही होता, केवल चेतना और चेतना, उस दिन आत्मा अमूर्त होगा। पूर्ण अमूर्त जहा कि किसी भी मूर्त का कोई अश नही है। मूर्त ही तो अमूर्त को मूत वनाता है। जिस दिन वह मूर्त सर्वथा टूट जायेगा, दूर हो जायेगा, तव शेष रहेगा अमूर्त, केवल अमूर्त। तव न कोई आकार होगा, न कोई प्रकार होगा, न कोई मूर्त होगी, कुछ भी नही, केवल अमूर्त।

जिस स्थिति मे ससारी आत्माए हैं, वे अमूर्त नही हैं। वे ससार मे कव से है, यह हम नहीं जानते। उसका हमे कोई पता ही नही है। उस स्थिति मे शुद्ध नय की दृष्टि से हम यह नही कह सकते कि आत्मा अमूर्त है और हम यह भी नही कह सकते कि आत्मा अखण्ड चैतन्य वाला है। वह दो का मिला-जुला रूप है। अमूर्त है तो साथ मे मूर्त भी जुडा हुआ है। वह चेतनावान् है तो साथ मे उस पर अचेतन द्रव्य का आवरण भी है। इसलिए चेतना की पूर्ण सत्ता नही है। वहां अचेतन का भी कुछ अस्तित्व है। आत्मा के साथ भावकर्म का योग है। भावकर्म

अर्थात् कर्म का चित्त। एक है भावकर्म और दूसरा है द्रव्यकर्म। यह द्रव्यकर्म यानी भावकर्म का एक शारीरिक आकार जो कि भावकर्म का संवादि कार्य करता है, इसे हम द्रव्यकर्म या पौद्गलिक कर्म कह सकते हैं। भावकर्म या द्रव्यकर्म, भावचित्त या पौद्गलिक चित्त—इनमे पूरी सवादिता है, विसवादिता नही। द्रव्यकर्म भाव-कर्म का प्रतिविम्व है। चित्त का जैसा निर्माण होता है, वैसा ही पुद्गल का निर्माण होता है।

चेतना पर कर्म का इतना घना आवरण है कि ज्ञान की शक्ति आवृत हो गयी। वहुत आवृत हो गयी, केवल जीव का एक अश वचा उस आवरण से जिससे कि जीव का अस्तित्व सुरक्षित रह सके। वैसे ही कर्म का आकार वना, ठीक उसका सवादी स्थूल शरीर वना और वह एक इन्द्रिय वाला जीव वन गया। एकेन्द्रिय जीव होने का मतलव क्या है? न्यूनतम चेतना का विकास। प्रश्न होता है कि न्यूनतम चेतना का विकास एकेन्द्रिय जीव मे ही क्यो होता है? कोई वैज्ञानिक यही मानेगा कि जीव के जिस प्रकार के गुणसूत्र थे, उसी प्रकार के जीव की सरचना हो गयी। वैज्ञानिक व्याख्या तो यहा तक पहुची है। किन्तु कर्मशास्त्रीय व्याख्या वहुत दूर गहराई मे चली जाती है। उसके अनुसार चेतना का निर्माण ऐसा हुआ, चित्त या भावकर्म का निर्माण ऐसा हुआ कि जिसमे राग-द्वेष वहुत प्रवल हो गये। उस राग-द्वेष की प्रवलता ने ऐसे चित्त का निर्माण किया कि चेतना गहरी नींद मे, सघन नीद मे चली गयी। इस नीद का पारिभाषिक नाम है—स्त्यानर्द्धि निद्रा। वैसी नीद जिसमे चेतना स्त्यान हो जाती है, जम जाती है, सघन हो जाती है, ठोस हो जाती है। उस स्थिति मे चेतना इतनी जम गयी, प्रगाढ निद्रा मे चली गयी कि मात्र चेतना का एक छोटा-सा अश अनावृत वचा और वह भी इसलिए कि जीव का अस्तित्व कभी मिटता नही है। यदि वह अश भी आवृत हो जाये, जम जाये तो सभव है जीव अजीव वन जाये। जीव और अजीव के वीच की भेदरेखा भी तो यही है। वह भी समाप्त हो जाये। यह कभी हो नही सकता। इसीलिए चेतना का थोडा-सा प्रकाश वचा रहता है। वह प्रकाश उस भावचित्त मे वचा। उस भावचित्त ने प्रभावित किया पुद्गलो को, तो सूक्ष्म शरीर भी वैसा ही वन गया, पौद्गलिक चित्त भी वैसा ही वन गया, कर्मचित्त भी वैसा ही वन गया। उसने चेतना के अणु-अणु पर, जो ज्ञान के स्रोत थे, अपना आवरण डाल दिया। सव पर आवरण डाल देने पर भावकर्म का संवादी द्रव्यकर्म (पौद्गलिक कर्म) और पौद्गलिक कर्म का (सूक्ष्म शरीर का या कर्म शरीर का) सवादी वना स्थूल शरीर। उसमे एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय का प्रकाश रहा। एक स्पर्शन इन्द्रिय का स्थान मिला, शेष सारी इन्द्रिया समाप्त।

आप यह न मानें कि जिसे हम एकेन्द्रिय कहते हैं, वह एक ही इन्द्रियवाला होता है। उसमे और इन्द्रियो का वोध भी होता है, किन्तु उनका आकार नही वनता।

आकार इसलिए नही बनता कि इन्द्रियो के पूरे विकास की क्षमता उस सूक्ष्म शरीर मे नही है। सूक्ष्म शरीर मे जब इन्द्रिय-विकास की पूरी क्षमता नही है, पूरा विकास नही है, तो स्थूल शरीर उसका सवादी नही होता, उसमे उसके आकार नही बनते। आकार के बिना इन्द्रिय-बोध भी स्पष्ट नही होता। एकेन्द्रिय जीव मे भी पाचो इन्द्रियो का अस्पष्ट बोध होता है। उन्हे स्पष्ट बोध इसलिए नही होता कि उन इन्द्रियो के स्थान विकसित नही होते। शरीर मे इन्द्रियो के जो स्थान है, जो कोशिकाए हैं, वे सक्रिय नही होती, विकसित नही होती। इसीलिए स्पष्ट ज्ञान का अभाव रहता है।

यह एक शृखला है—भावचित्त का सवादी होता है पौद्गलिक चित्त और पौद्गलिक चित्त का सवादी होता है स्थूल शरीर। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और भाव शरीर (कर्मशरीर)—इन तीनो मे परस्पर सवादिता है। एक जैसा होता है, दूसरा भी वैसा ही होता है। और दूसरा जैसा होता है, तीसरा भी वैसा ही होता है। हम इस सचाई को न भूलें कि सूक्ष्म जगत् मे जिस प्रकार के हमारे चित्त का निर्माण होता है, जिस प्रकार का भावकर्म होता है, वैसा ही पौद्गलिक कर्म होता है। आत्मा कभी पुद्गल को आकर्षित नही करती, क्योकि आत्मा के पास पुद्गल को आकर्षित करने की कोई शक्ति नही है। किन्तु एक माध्यम है उसके पास जिसके द्वारा वह पुद्गल को आकर्षित करती है। वह माध्यम है—भावकर्म या आस्रव। भावकर्म या आस्रव पाच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये पाच शक्तिया हैं पुद्गलो को आकर्षित करने वाली। ये हमारे पाच चित्त हैं। एक चित्त है मिथ्यात्व का, एक चित्त है अविरति का, एक चित्त है प्रमाद का, एक चित्त है कषाय का और एक चित्त है योग का। इन पाचो चित्तो का निर्माण होता है और समय-समय पर ये चित्त मद-तीव्र होते रहते हैं। जिस प्रकार के ये चित्त होते है, उसी प्रकार के द्रव्यचित्तो, पौद्गलिक चित्तो का निर्माण होता चला जाता है, और सबध की सरचना होती चली जाती है।

आस्रवो के बिना कर्मों का आकर्षण नही हो सकता और न कर्मों का एक विशेष सरचनात्मक रूप ही बन सकता है। हम पुद्गलो को आकर्षित करते हैं और एक विशेष प्रकार का उन्हे रूप देते हैं, साचे मे ढालते हैं। ये दोनो काम भावचित्त के बिना या भावकर्म के बिना नही हो सकते, इसीलिए हम कर्म पर बहुत चिंतित नही होते, किन्तु भावचित्त पर ज्यादा चिंतित होते है, भावकर्म पर ज्यादा ध्यान देते हैं। राग-द्वेष का प्रत्येक क्षण कर्म-आकर्षण का या कर्म-बध का क्षण है। हम साधना की दृष्टि से जब विचार करते है, तब इस बात से चिंतित न हो कि कर्म का बहुत आकर्षण होता है या हो रहा है। किन्तु जो राग-द्वेष का क्षण कर्म को आकृष्ट करता है, उसके प्रति जागरूक हो। हम बहुत बार कहते हैं—जागरूक रहे, अप्रमत्त रहे। प्रश्न होता है कि किसके प्रति जागरूक रहे? किसके प्रति

अप्रमत्त रहे ? हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहे, जिस क्षण मे राग-द्वेष उत्पन्न होता है। राग-द्वेष का क्षण हिंसा का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही असत्य का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही चौर्य का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही अब्रह्मचर्य का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही परिग्रह का क्षण है। जितने भी दोप हैं, उन सबका क्षण है राग-द्वेष का क्षण। राग-द्वेष का क्षण ही समूची कर्म-वर्गणाओ के आकर्पण का क्षण है। इसलिए साधना के क्षेत्र मे जागरूकता का अर्थ है—उस राग-द्वेप के क्षण के प्रति जागरूक रहना जो कर्मों को आकर्षित करता है और अनेक आचरणो के माध्यम से करता है। उस क्षण के प्रति हम जागरूक रहे, तटस्थ रहे, सामायिक करें, समभाव मे रहे।

जागरूकता का अर्थ इतना ही नही है कि हम नीद न लें। नीद नही लेने का ही नाम जागरूकता हो तो एक मज़दूर जो आठ-दस घटे कठोर श्रम करता है, वह पूर्ण जागरूक है, जागृत है। वह नीद कहा लेता है ? वेचारे को नीद लेने का कोई क्षण ही प्राप्त नही होता। वह पूरा जागृत है, और पूर्ण जागरूकता से अपने काम मे लगा हुआ है। किन्तु साधना की दृष्टि से जागरूक रहने का अर्थ है—किसी भी क्षण मे राग-द्वेप को उत्पन्न न होने देना।

राग और द्वेप का अक्षण ही तटस्थता का क्षण है। राग और द्वेष का अक्षण ही ध्यान का क्षण है। इसके अतिरिक्त कोई ध्यान नही है। हम प्राणायाम करें या प्रेक्षा करें, शरीर को देखें या पदार्थ को देखें, अनिमेष दृष्टि रखें या आख मूद-कर साधना करें—यह ध्यान नही है। यह तो मात्र ध्यान का आलवन है। ध्यान वह है कि जिसमे राग और द्वेष का कोई क्षण ही न आये। राग और द्वेष के क्षण का न आना ही यथार्थ मे ध्यान है। अन्यथा सारी क्रियाए वाह्य क्रियाए हैं, केवल शारीरिक क्रियाए हैं। वे निष्प्राण क्रियाए हैं। उनसे वह अर्थ सिद्ध नही होता जो ध्यान के द्वारा होता है। वे क्रियाए अधिक-से-अधिक आगे वढती है, तो प्रामाणिक क्रियाए वन जाती है, जो प्राण को प्रभावित करने वाली या प्राणशक्ति के कुछ चमत्कार दिखाने वाली सिद्ध हो सकती है। जो चमत्कार प्रचलित हैं, वे सारे के सारे प्राणशक्ति के चमत्कार हैं, प्राणिक चमत्कार हैं। किन्तु जिन क्रियाओ के द्वारा मनुष्य के चरित्र मे परिवर्तन होना चाहिए, आवेगो और सवेगो मे परिवर्तन होना चाहिए, जिनके द्वारा क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, घृणा—इनमे परिवर्तन होना चाहिए। वह उस ध्यान के द्वारा नही हो सकता यदि हम राग-द्वेप के क्षण के प्रति जागरूक नही हैं। यदि हम भावकर्म के प्रति जागरूक नही हैं तो आने वाले उन पौद्गलिक कर्मों को हम रोक नही सकते और उनको रोके विना, वे आने वाले कर्म अपना प्रभाव डाले विना नही रह सकते, निमित्त वने विना नहीं रह सकते। यदि वे निमित्त वनेंगे तो राग-द्वेष का चक्र चलना वद नही होगा।

भावकर्म द्रव्यकर्मों को प्रभावित करते हैं और द्रव्यकर्म (पौद्गलिक कर्म) भावकर्म को प्रभावित करते है। दोनो की एक ऐसी सधि है कि दोनो एक-दूसरे का परस्पर सहयोग करते हैं। दोनो एक-दूसरे को जीवनी-शक्ति दे रहे है। दोनो मे एक समझौता है। भावकर्म द्रव्यकर्मों को जिला रहे हैं और द्रव्यकर्म भावकर्मों को जिला रहे है। साधना मे यही करना है कि 'येनकेन प्रकारेण' हम इन दोनो की सधि को छिन्न-भिन्न कर सकें, तोड सकें। या हम दोनो मे एक ऐसा विभेद पैदा कर दें जिससे कि भावकर्म एक ओर हो जाये और द्रव्यकर्म एक ओर हो जाये। दोनो मे ऐसी भेदवृत्ति जाग जाये, जिससे कि अनादिकाल से चली आ रही उनकी सधि मे दरार पड जाये, छेद हो जाये। हम इस वाध मे ऐसा कोई छेद कर दें, जिससे वाध का पानी वह जाये और वाध पूरा खाली हो जाये।

यदि साधना के हार्द को हम समझ सकें तो हमे इस प्रक्रिया को करना ही होगा। यह वास्तविकता है कि कर्म के मर्म को समझे विना कोई साधना के मर्म को समझ नही सकता। आज मैं कर्म की चर्चा कर रहा हू। वह कुछ साधको को आश्चर्यकारी लग सकता है और उनके मन मे यह प्रश्न भी हो सकता है कि साधना के क्षेत्र मे कर्म की चर्चा का क्या प्रयोजन है? मैं समझता हू कि कर्म के रहस्यो को पकडे बिना साधना के रहस्य को समझा ही नही जा सकता। साधना केवल आकाशीय उडान नही है। यह गहराई मे जाने की प्रवृत्ति है, जहा जाकर हम अपने वास्तविक अस्तित्व को पहचान सकते हैं, पकड सकते है। इसलिए यह वहुत आवश्यक है कि हम मूलस्रोत को पकडें। कर्म मूलस्रोत है किन्तु कर्मों का भी मूल-स्रोत है—भावकर्म। भावकर्म को समझे विना, साधना की कोई वात समझ मे नही आ सकती।

भावकर्म के द्वारा द्रव्य कर्मों का आकर्पण होता है। भावकर्म है—जैविक रासायनिक प्रक्रिया। जीव मे होने वाली रासायनिक प्रक्रिया। भावकर्म जैविक रासायनिक प्रक्रिया है और द्रव्यकर्म सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया है। एक जैविक है और एक पौद्गलिक। दोनो मे सवध स्थापित होता है। दोनो प्रक्रियाएं एक-दूसरे से प्रभावित होती हैं। एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। जैविक रासायनिक प्रक्रिया के साथ सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया का योग है। सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया के साथ जैविक रासायनिक प्रक्रिया का योग है। इसीलिए सबंध स्थापित होता है। यदि दोनो मे सवध न हो तो वे एक-दूसरे को प्रभावित नही कर सकती।

चन्द्रमा मनुष्य को प्रभावित करता है। इसकी वैज्ञानिक खोज मे पता चला कि मनुष्य के शरीर मे अस्सी प्रतिशत जल का भाग है। चन्द्रमा जलीय है, इसीलिए चन्द्रमा का जल के साथ सवध है। चन्द्रमा के कारण जैसे-जैसे तिथिया घटती-बढती हैं, वैसे-वैसे ज्वार-भाटे का क्रम भी चलता है। यह इस वात का

सूचक है कि चन्द्रमा का जल के साथ सबध है। इसीलिए चन्द्रमा मनुष्य के मन को प्रभावित करता है। ज्योतिषियो ने भी ठीक निर्णय किया था कि मन का स्वामी चन्द्रमा है। चन्द्रमा मन को प्रभावित करता है। जिनमे कोई सबध नहीं होता, वे एक-दूसरे को प्रभावित नही कर सकते। आज जो प्रभावों की खोज हुई है, उसमे अनेक नये तथ्य उद्घाटित हुए हैं।

काकेसस रूस का एक भाग है। वहा के एक वैज्ञानिक ने बताया कि काकेसस मे जो भूकप आते हैं, उनका सबध सौर-विकीर्णो से है। जब-जब ठीक समय आता है सौर-विकीर्णो का, तब काकेसस मे भूकप शुरू हो जाते है। जब सूर्य मे विस्फोट होते हैं, तब उसके परिणामस्वरूप भूकप आने शुरू हो जाते हैं। यह सारा ससार सक्रमण का ससार है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे सक्रांत होता है। असक्रांत कोई नही है। अप्रभावित कोई नही है। हम सब इतने सक्रमणो मे से गुजरते है और इतने तत्त्वो से प्रभावित होते है कि जिसकी कोई सीमा नही है। हम सब प्रभाव-क्षेत्र मे हैं। हर बधी हुई आत्मा, हर कर्मयुक्त आत्मा प्रभाव-क्षेत्र मे होती है। वह प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त नही होती। प्रभाव-क्षेत्र मे रहने वाला कोई भी व्यक्ति बाहरी प्रभावो से मुक्त नही हो सकता, सक्रमणो से मुक्त नहीं हो सकता। सौर मण्डल से इतने विकीर्ण आते हैं कि हम उनकी कल्पना भी नही कर सकते। समूचे ज्योतिषशास्त्र का यही आधार है। मगल के विकीर्ण, चन्द्र के विकीर्ण, बुद्ध के विकीर्ण। जितने ग्रह हैं, जितने नक्षत्र हैं, उन सबमे विकीर्ण आते हैं और हम सब उनसे प्रभावित होते हैं। यदि विकीर्णों की बात नही होती तो ज्योतिषशास्त्र का आधार ही समाप्त हो जाता। ज्योतिषशास्त्र अवैज्ञानिक नही है। यह सभव है कि कोई फलित को ठीक न बता सके। यह सब बताने वाले की अपूर्णता है, न कि ज्योतिषशास्त्र की अवैज्ञानिकता। ज्योतिषशास्त्र की वैज्ञानिकता मे कोई सदेह नही होता क्योकि ग्रहो के विकीर्णो का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

एक व्यक्ति था। वह रमण विद्या का ज्ञाता था। एक बार वह राजा की परिषद् मे गया और अपना परिचय देते हुए कहा—मैं रमण विद्या का ज्ञाता हू। मैं भूत, भविष्य—सब कुछ बता सकता हू। राजा ने एक क्षण तक सोचा। अपनी मुट्ठी बद कर राजा ने पूछा—अच्छा बताओ, मेरी मुट्ठी मे क्या है? उसने अपना गणित किया। ध्यान को एकाग्र किया। उसे लगा कि मुट्ठी मे जो है, उसके एक सूड है, चार पैर हैं और उसका रग काला है। उसने कहा—राजन्! आपकी मुट्ठी मे हाथी है। सारी परिषद् स्तब्ध रह गयी। मुट्ठी मे हाथी।

रमणवेत्ता का फलित गलत नही था। मुट्ठी में जो चीज थी, उसके एक सूड थी, चार पैर थे और रग काला था। सब कुछ सही था। किंतु वह इस बात को भूल गया कि मुट्ठी मे हाथी कैसे समा सकता है? वह यह भूल गया

कि कौन-सी चीज़ कहा, कैसे किस स्थिति में होती है। वह व्यावहारिक ज्ञान को भूल गया।

राजा की मुट्ठी में मक्खी थी। मक्खी के सूड भी होती है, चार पैर भी होते हैं, और काला रग भी होता है। किंतु वह मक्खी को भूल गया। उसने हाथी को पकड लिया। सूड आदि की दृष्टि से दोनो समान हैं, किंतु मुट्ठी में समाने की दृष्टि से दोनो में बहुत बडा अतर है। मक्खी मुट्ठी में समा सकती है। हाथी मुट्ठी में नही समा सकता। ऐसी भूलें होती है।

जहा त्रिकीर्णों की वैज्ञानिकता का प्रश्न है, जहा विकीर्णों का मनुष्य पर होने वाले प्रभाव का प्रश्न है, वहा उसकी सचाई को नकारा नही जा सकता।

हम प्रभाव की दुनिया में जीते हैं। हम प्रभावित होते है। द्रव्यकर्म हमे प्रभावित करते हैं, आत्मा को प्रभावित करते हैं और आत्मा भी उनको प्रभावित करती है। दोनो का यह प्रभाव-क्षेत्र बन गया। उस प्रभाव-क्षेत्र मे यह सारा का सारा चलता है। उस प्रभाव-क्षेत्र का नाम है—बध। बध का मतलब है—आत्मा और कर्म का प्रभाव-क्षेत्र। एक रचना हो गयी। अब प्रश्न होता है कि यह कैसे होता है? यह कहा से आता है?

यह सही है कि यह बाहर से आता है। बहुत दूर से नही। समूचे आकाश-मडल मे कर्म की वर्गणाए व्याप्त हैं। एक सूची जितना अश भी रिक्त नही है इन कर्म-वर्गणाओ से। समूचा आकाश खचाखच भरा है। हम यहा बैठे हैं। हमने जिस प्रकार के भावचित्त का निर्माण किया, हमारी जिस प्रकार की रागात्मक-द्वेषात्मक अनुभूतिया हुईं, हम वही बैठे-बैठे अपने आसपास के आकाश-मडल से उन पुद्गलो को टान लेते हैं। टान लेने के बाद वे पुद्गल हमारे प्रभाव-क्षेत्र मे आ जाते हैं। क्षणभर पहले जो आकाश मे व्याप्त थे, वे अब हमारे प्रभाव-क्षेत्र मे आ गये, हमारे सबध-स्थापना की स्थिति मे आ गये। उनका हमारे साथ पहले सबध स्थापित नही था। पुद्गल पुद्गल के स्थान मे थे और हम हमारे स्थान मे, आत्मा आत्मा के स्थान मे थी। किंतु जैसे ही भावचित्त बना, आसपास के पुद्गल आकर्पित हुए या किये गये, वे पुद्गल हमारे आस्रव के द्वारा, भावकर्म के द्वारा, भावचित्त के द्वारा आकर्पित होकर हमारे प्रभाव-क्षेत्र मे आ गये। उनके साथ हमारा सबध स्थापित हो गया। यह है बध।

बध की पूरी रासायनिक सरचना के बारे मे भी हमे समझना है। जैसे ही पुद्गल हमारे प्रभाव-क्षेत्र मे आते है, उनकी एक विशिष्ट सरचना हो जाती है। उसकी चर्चा हम आगे करेगे।

११

कर्म की रासायनिक प्रक्रिया (२)

- कर्म-फल का दाता कौन ?
- क्या कोई नियन्ता है ?
- प्रवृत्ति के चार कोण—शमन, विलयन, मार्गान्तरीकरण और उदात्तीकरण।
- साधना का मार्ग है—उदात्तीकरण या मार्गान्तरीकरण।



हमारे व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। एक है आतरिक चेतना और दूसरा है वाहरी चेतना। एक है सूक्ष्म और दूसरा है स्थूल। एक है अतर्वृत्ति और दूसरा है वहिर्वृत्ति। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व इन दो भागो मे विभक्त है। मनुष्य वाहरी जगत् मे जो कुछ भी करता है, उससे उसका अन्त.करण प्रभावित होता है, सूक्ष्म जगत् प्रभावित होता है। और सूक्ष्म जगत् मे जो घटनाए घटित होती हैं उनसे उनका स्थूल जगत् प्रभावित होता है, वाहरी पर्यावरण प्रभावित होता है।

हम एक अगुली भी हिलाते हैं, यह स्थूल जगत की घटना है, किंतु इससे हमारा सूक्ष्म जगत भी आदोलित होता है। सूक्ष्म जगत मे जो कुछ परिवर्तन होता है, उसका प्रतिविम्व या प्रभाव स्थूल जगत मे पडता है। वह हमारे वाहरी वातावरण मे या शरीर के परिवेश मे आ जाता है। इसीलिए व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए दोनो पहलुओ को समझना वहुत जरूरी है।

प्राणी जिन कर्म परमाणुओ को स्वीकार करता है, ग्रहण करता है और अपने साथ सवद्ध करता है, वे कर्म परमाणु व्यवस्थित हो जाते हैं। स्वीकरण के समय उनकी एक व्यवस्था होती है। पहले उनमे कोई व्यवस्था नही होती। जव तक

किसी प्राणी के द्वारा वे परमाणु स्वीकृत नही होते तव तक वे कर्म-प्रायोग्य पुद्गल कहलाते हैं, उन परमाणुओ मे कर्म के रूप मे वदलने की योग्यता होती है, किंतु वे अभी तक कर्म नही होते हैं। जव आकाश-मडल मे वे परमाणु फैले हुए होते हैं, तव तक वे परमाणु मात्र हैं, कर्म नही हैं। किंतु उनमें कर्म वनने की योग्यता है। एक वात ध्यान में रहे कि हर परमाणु कर्म नही वनता। कर्म वही वनता है जिस परमाणु मे कर्म वनने की योग्यता होती है।

परमाणु के विभिन्न प्रकार हैं। एक हाइड्रोजन का परमाणु है, एक ऑक्सीजन का परमाणु है, एक नाइट्रोजन का परमाणु है। अनेक गैसें हैं। उनके परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। उनकी अपनी-अपनी क्षमता है। जो कर्म-वर्गणा है, जो परमाणु कर्म के रूप में वदल सकते हैं उनकी भी अपनी विशिष्टता है। परमाणुओ के पचासो वर्ग हैं, पचासो वर्गणाए हैं, पचासो समूह हैं। उनकी अपनी-अपनी विशेपताए हैं। किंतु एक पुद्गल वर्गणा ऐसी है जो कर्म के रूप में वदल सकती है। वही वर्गणा हमारी प्रवृत्ति के द्वारा, हमारी चचलता के द्वारा आकृष्ट होती है। आकृष्ट होते ही, आकर्षण के क्षण में ही उसकी व्यवस्था शुरू हो जाती है। पहले कोई व्यवस्था नही होती। उस अवस्था में एक विभाजन होता है। जो परमाणु आते हैं उनका विभाजन प्रारभ होता है और स्वभाव का निर्माण होने लग जाता है कि कौन से परमाणु किस स्वभाव में काम करेंगे। पहले दो व्यवस्थाए होती हैं—एक विभाजन की व्यवस्था और दूसरी स्वभाव-निर्माण की व्यवस्था, प्रकृति की व्यवस्था कि उनकी प्रकृति क्या होगी ? उनका कार्य क्या होगा ? वे क्या करेंगे ? इनके साथ-साथ दो व्यवस्थाए और होती हैं। एक व्यवस्था होती है अनुभाव की, फल देने की क्षमता। उन परमाणुओ मे जो रसाणु हैं, जो रस-शक्ति है, रस का परिपाक होता है कि ये परमाणु किस प्रकार के रस का सवेदन करायेंगे और उनसे किस प्रकार का प्रभाव होगा। यह है अनुभाव, फलदान की शक्ति।

वहुत वार यह प्रश्न होता है कि कर्म का फल मिलता है, पर कौन देता है ? देने वाला कौन है ? इस प्रश्न पर विभिन्न दृष्टियो से विचार किया गया। कुछ चिंतको ने यह प्रतिपादन किया कि फल देने वाली एक सत्ता है। आदमी कर्म करता है, पर वह स्वय उसका फल भोगना नही चाहता। अत कोई न कोई नियामक अवश्य है, नियता अवश्य है, जो कि फल देता है। यह वात स्वाभाविक-सी लगती है कि आदमी स्वय अपने आप फल भोगना क्यो चाहेगा ? वह अच्छे कर्म का फल भोगना तो अवश्य ही चाहेगा, वुरे कर्म का फल भोगना कभी नही चाहेगा। वह कभी उसे इष्ट नही होगा कि जो उसने वुरा किया है उसका वह फल भोगे। उस स्थिति मे यह तर्क वहुत स्वाभाविक लगता है कि कोई फल देने वाला अवश्य ही होना चाहिए। इसका समाधान भी स्थूल व्यवस्था के आधार पर किया गया कि कोई भी अपराधी अपने आप दड भुगतना नहीं चाहता।

न्यायाधीश या प्रशासक उसे दड देता है, उसके दड की व्यवस्था करता है। अपराध के दड के लिए भी कोई तीसरा व्यक्ति होता है तो विश्व की इस विराट् व्यवस्था के लिए कोई नियामक या नियता न हो, कोई प्रशासक न हो तो फल देने की व्यवस्था कैसे चल सकती है ? इस सदर्भ मे यह जो कहा गया कि कोई फल देने वाला होना चाहिए, यह अस्वाभाविक भी नही लगता। किंतु यह तर्क जब मीमासित होता है, इस पर गहराई से विचार करते हैं तो कुछ और नये तर्क खडे हो जाते हैं। कुछ और नये प्रश्न उभर आते है। वे प्रश्न सचमुच उलझाने वाले प्रश्न हैं।

यदि कोई नियता है, नियामक है, प्रशासक है, फल देने वाला है तो फल देने की बात 'द्वयम्' हो जायेगी, उसका नबर दूसरा होगा। उससे पहले कर्तृत्व की बात आ जायेगी कि कोई कराने वाला भी है। कर्तृत्व और उसका फलभोग— दोनो जुडे हुए प्रश्न हैं। यदि कोई कराता है तो फल भोगाने वाला भी है और यदि कोई कराने वाला नहीं है तो फल भुगताने वाला भी नहीं है। यदि कोई कराने वाला है तो बहुत बडी एक पहेली सामने आती है कि वह एक इतनी विराट् सत्ता होगी जो विराट् जगत् मे सब कुछ कराये, करा सके, कराने की क्षमता से सम्पन्न हो। वह फिर ऐसा कोई कार्य करायेगी ही क्यो, जिससे प्राणियो को अशुभ फल भोगना पडे। मनुष्यो द्वारा फिर अप्रिय व्यवहार होगा ही क्यो ? उसे अप्रिय फल भुगतना ही क्यो पडेगा ? यह एक जटिल प्रश्न है। यह दूसरो को उलझा देने वाला प्रश्न है। यदि फल भुगताने वाली बात को हम मान भी लें कि कोई एक ऐसी शक्तिशाली सत्ता है जो फल भुगतने मे माध्यम बनती है, और वहा कोई न्याय न हो तो उसे शक्ति-सपन्न सत्ता कहने को जी नही चाहता, क्योकि इतनी विसगतिया, इतने अभाव और अतिभाव के कारण इतनी कठिनाइया, इतना अन्याय, इतने अत्याचार, इतनी क्रूरताएं, इतने प्रताडन—इन सबको यदि किसी कर्तृत्व की सत्ता के साथ जोडा जाये और उस शक्ति-सपन्न सत्ता के रहते हुए ये सारे घटित हो तो हम उस सत्ता को परम सत्ता कैसे कह सकते हैं ?

प्रत्येक राज्य-व्यवस्था भी यह कामना करती है कि हमारे राज्य मे अच्छी से अच्छी व्यवस्था हो, शोषण न हो, अत्याचार न हो। इसके लिए वह पूरी व्यवस्था करना चाहती है, पर कर नहीं पाती क्योंकि वह सर्वशक्ति-सपन्न होने का दावा नहीं करती। इसलिए यह उसके वश की बात नही है। वह व्यवस्था मात्र करती है कि ऐसी अव्यवस्था न हो। अच्छी सरकार का यह लक्षण होता है कि उसके प्रशासन द्वारा अपराधो मे कमी हो, बुराइयो मे कमी हो और एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति जो अन्यायपूर्ण व्यवहार या क्रूरतापूर्ण व्यवहार होता है वह कम होता चला जाये। वह सर्वशक्ति-सम्पन्न न होते हुए भी इस प्रकार की

व्यवस्था करती है। यदि सर्वशक्ति-सम्पन्न सत्ता हो, सब कुछ करने मे समर्थ हो, फिर भी वह इस प्रकार की व्यवस्था न करे कि उसके शासन-काल मे, उसके साम्राज्य मे, विराट् साम्राज्य मे और विश्वव्यापी साम्राज्य मे जिसका कोई अतिक्रमण नही कर सकता, अपराध भी चले, अन्याय भी चले, क्रूरता भी चले, शोषण भी चले, दमन भी चले और वह सब कुछ चले जो कि मानवीय सत्ता मे चलता है तो फिर यह बहुत चिंतनीय प्रश्न बन जाता है।

बादशाह ने बीरबल से पूछा—"बताओ! मेरे मे और खुदा मे क्या अतर है?" बीरबल ने कहा—"जहापनाह! अतर बहुत बडा है। आप जब मुझसे नाराज़ होते हैं तो अपनी सल्तनत से मुझे निकाल देते है, देश से मुझे निर्वासित कर देते है। किंतु खुदा एक ऐसी हस्ती है जो किसी को अपने देश से नही निकालती।" खुदा यदि देश-निकाला दे तो कौन कहा जाये? जबकि हम यह मान लेते हैं कि ईश्वर की सत्ता सर्वव्यापी है। इस जगत् का एक कण भी ऐसा नही है जहा ईश्वर की सत्ता न हो और यदि वही देश निकाला दे दे तो भला कहा जायें?

कृष्ण ने पाडवो से कहा—"मेरे राज्य से चले जाओ।" युधिष्ठिर आये और बोले—"प्रभो! आप यदि और कुछ आदेश देते तो वह हम सहर्ष मान्य कर लेते, किंतु आपके राज्य से चले जाने की बात कैसे सभव हो सकती है? आपका राज्य सर्वत्र व्याप्त है। आप हमे बताए कि हम जायें कहा? हमे स्थान का निर्देश दे दें।" युधिष्ठिर ने बहुत अनुरोध किया। तब कृष्ण ने कहा—"दक्षिण मे चले जाओ। पाडु मथुरा मे जाकर बस जाओ।" स्थान का निर्देश किया। वे उत्तर से दक्षिण मे आ गये।

यह तो सभव था। किंतु राज्य से चले जाओ, यह कैसे संभव हो सकता था। वासुदेव कृष्ण का राज्य बहुत बडा था, सर्वत्र था। फिर आदमी जाये तो कहा जाये?

ईश्वरीय सत्ता का भी बहुत बडा प्रश्न है। उसकी सत्ता मे वह सब कुछ चलता रहे जो मानवीय सत्ता में चलता है तो सर्व-शक्ति-सम्पन्नता का कथन अयथार्थ हो जाता है। इस प्रश्न का समाधान बहुत जटिल है। मैं यह नही कहता कि इस प्रश्न को समाहित करने का प्रयत्न नही किया गया। प्रयत्न किया गया। समाधान दिया गया। किंतु वह समाधान भी असमाधानकारक बन गया। जो समाधान प्रश्न को समाहित करने चला था, उसने अनेक नये-नये प्रश्न खडे कर दिये। वह वास्तव मे समाधानकारक नही बना। प्रश्न बना का बना रह गया। डॉक्टर रोगी को स्वस्थ बनाने वाला है और वही यदि रोगी को और अधिक बीमार बनाता चला जाये, उस डॉक्टर को हम बहुत सम्मान नही दे सकते। मनुष्य को रोगी बनाने वाला यदि कोई विराट् शक्ति-सपन्न अस्तित्व हो तो यह समझ मे आने वाली बात नही है। जब कर्तृत्व की बात फल देने की बात से

टकराती है तो नये चिंतन के लिए एक आयाम खुलता है। एक नया आयाम उद्घाटित होता है। ऐसा भी हो सकता है कि जहा कर्तृत्व भी दूसरे का न हो और फल देने की शक्ति भी दूसरे मे न हो। दोनो स्वचालित हो।

हम शरीर की व्यवस्था पर ध्यान दें। हमारे शरीर मे दोनो प्रकार की व्यवस्थाए हैं। शरीर के कुछ हिस्से ऐसे हैं जो नाडी-सथान के द्वारा संचालित है। हमारी वहुत सारी क्रियाए उन्ही से सचालित हैं। मैं हाथ हिला रहा हू। यह स्वाभाविक क्रिया नही है। यह स्वत सचालित क्रिया नही है। किंतु यह नाडियो की उत्तेजना से होने वाली क्रिया है। मैं श्वास ले रहा हू। यह किसी के द्वारा नियत्रित क्रिया नही है। यह स्वत्त सचालित क्रिया है। हमारी अनेक क्रियाए स्वत सचालित होती हैं और अनेक क्रियाए प्रेरणा-जनित होती हैं। दोनो प्रकार की क्रियाए हमारे शरीर मे हो रही हैं। हम भोजन करते है। भोजन करने के वाद हम उस क्रिया से निवृत्त हो जाते हैं। आगे की सारी क्रियाए अपने-आप होती हैं, स्वत सचालित होती हैं। हमने खाया। खाने के साथ उसको पचाने वाला रस स्वत उसके साथ मिल जाता है। नीचे उतरा। पाचन हुआ। छना। रस की क्रिया वनी। रस वना। सारे शरीर मे फैला। जो सार-सार था वह फैला। रक्त वना। क्रियाए सचालित हुईं। जो असार था वह वडी आत मे गया। उत्सर्ग की क्रिया सपन्न हुई। ये सारी क्रियाए अपने-आप होती चली गयी। आपको पता ही नही चला। न आपने उसके लिए कोई प्रयत्न किया। फिर भी वे क्रियाए सपन्न हो गयी। क्या आप कभी इस वात पर ध्यान देते हैं कि अव भोजन को पचाना है, रस वनाना है, रक्त वनाना है, मास वनाना है। नही सोचते, कोई प्रयत्न नही करते, फिर भी ये सारे कार्य सपन्न होते हैं। जहा जो होना होता है वह स्वत होता चला जाता है। जो शक्ति मिलनी है वह मिल जाती है। जो ऊर्जा मे वदलना है, वह ऊर्जा मे वदल जाता है।

इसी प्रकार हम क्रिया करते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। उस प्रतिक्रिया-स्वरूप हम पुद्गलो को आकर्षित करते हैं। यह भी एक प्रकार का आहार है, आहरण है। हम आहार के अर्थ को समझें। उसे सीमित अर्थ मे न लें। जो मुह से खाते है वही आहार नही है। हमारे शरीर के किसी भी कण के द्वारा, हमारी शारीरिक चचलता के द्वारा, जो भी पुदगल आकृष्ट होते हैं, वह सव आहार है। कर्म-पुद्गलो का ग्रहण भी आहार है। हम उन्हे खीचते हैं, अपनी ओर आकर्षित करते हैं। वे पुद्गल आकर हमारे साथ मिल जाते हैं, चिपक जाते हैं। चिपकने के वाद उनमे जो व्यवस्था होती है, वह स्वत होती है। वह अपने आप होने वाली व्यवस्था है। उन गृहीत पुदगलो का वर्गीकरण भी हो जाता है। उनका विभाजन भी हो जाता है। उनके स्वभाव का निर्माण भी हो जाता है, जैसे भोजन मे खाये गये वहुत प्रकार के पदार्थों के स्वभाव का निर्णय होता है। शरीर को आवश्यकता

है प्रोटीन की तो भोजन मे जो प्रोटीन का भाग होता है वह प्रोटीन की पूर्ति कर देता है। चिकनाई की ज़रूरत होती है वह स्निग्ध पदार्थों से पूरी हो जाती है। श्वेतक्षार की ज़रूरत है वह श्वेतक्षार वाले द्रव्यो से पूरी हो जाती है। जिन तत्त्वो की, विटामिनो की जरूरत होती है, वे विटामिन भोजन के माध्यम से पहुचते है और अपना काम प्रारभ कर देते है। बहुत बार अजीब-सा लगता है कि बीमारी है शरीर के किसी हिस्से मे, पेट मे दवा लेते है और वह बीमार हिस्सा स्वस्थ हो जाता है। अगूठे मे दर्द है तो वह दवा अगूठे मे ही लाभ करेगी। वहा वह पहुच जायेगी। छोटी-सी गोली दी। सिर मे दर्द है, अगूठे मे दर्द है, पीठ मे दर्द है, तो जहा दर्द है वही उस दवा की क्रिया होगी और वह बीमार अवयव स्वस्थ हो जायेगा। प्रश्न होता है कि वह दवा बीमार अवयव तक ही क्यो पहुचती है ? दूसरे अवयव तक क्यो नही पहुचती ? आख मे दर्द है तो दवा अगूठे तक क्यो नही पहुचती ? समाधान है कि शरीर मे स्वाभाविक व्यवस्था है। जिस अवयव मे जिस तत्त्व की कमी है, पदार्थ उस कमी को पहले पूरी करेगा। जिस तत्त्व की जहां कमी है, वह तत्त्व उसी दिशा मे स्वतः आकृष्ट हो जायेगा। वह वही जायेगा। जिन सेलो मे, शरीर के जिन अवयवो मे प्रोटीन की कमी है, हम प्रोटीन का भोजन लेते है तो वह प्रोटीन उन्ही सेलो, उन्ही अवयवो की ओर आकृष्ट होगा। क्योकि शरीर मे आकर्षण की एक व्यवस्था है। हमारे शरीर मे ही नही, सारे ससार मे आकर्षण और विकर्षण की एक ऐसी व्यवस्था है कि अपनी-अपनी अनुकूलता, अपनी-अपनी सजातीयता के प्रति सब की गति होती है। सजातीय उसे टान लेता है।

हमारे कर्म परमाणुओ की भी यही व्यवस्था है। जो परमाणु गृहीत होते हैं वे अपने-अपने सजातीय परमाणुओ के द्वारा खीच लिये जाते हैं और उसी दिशा मे वे सक्रिय हो जाते हैं। वे अपना काम करने लग जाते हैं। उनमे फल की शक्ति भी हो जाती है। ये परमाणु इस प्रकार का फल देने मे समर्थ हैं, फल देने की व्यवस्था होती है।

आख की ज्योति कम होती है तब डॉक्टर कहता है कि विटामिन 'ए' का अधिक मात्रा मे सेवन करो। यह बात स्पष्ट है कि विटामिन 'ए' मे आख की ज्योति को सहारा देने की क्षमता है। चर्म-रोग होता है तो डॉक्टर विटामिन 'ए' की बात नही कहता। वह कहता है—विटामिन 'डी' का सेवन करो। विटामिन 'डी' मे यह शक्ति है कि वह चर्मरोगो का निवारण कर सकती है। विटामिन 'ए' या 'डी' की परिणति का कोई नियामक या नियता नही है। औषधि के सेवन के पश्चात् मनचाहा परिणाम लाना डॉक्टर के हाथ की बात नही है। वह परिणाम स्वत उद्भूत होता है।

विश्व के प्रत्येक पदार्थ मे, सब परमाणुओ मे अपने-अपने प्रकार की एक

विशेप सत्ता होती है। जो कर्म परमाणु हमारे द्वारा आकृष्ट होते है, उनमे उसी समय एक विशेप प्रकार की क्षमता निर्मित हो जाती है। उस क्षमता का नाम है—रसानुभाव, यानी अनुभाग वन्ध। इसका अर्थ है—फल देने की क्षमता, फलशक्ति। कर्म के सभी परमाणुओ मे फलदान की समान क्षमता निर्मित नही होती। वह विभिन्न प्रकार की होती है। हम जानते है कि विश्व के सभी पदार्थों मे एक ही प्रकार की क्षमता नही होती। होम्योपैथिक दवाए अलग-अलग क्षमताओ वाली होती है। कुछ हाई पोटेन्सी की होती है और कुछ लो पोटेन्सी की। कुछ औपधिया एक लाख पोटेन्सी की होती है और कुछ केवल तीस या उससे भी कम पोटेन्सी की। क्षमता के निर्माण मे कितना अन्तर होता है।

गाय के दूध मे भी चिकनाई है, भैंस के दूध मे भी चिकनाई है, तिल्ली और सरसो के तेल मे भी चिकनाई है, किन्तु चिकनाई की मात्रा मे वहुत अन्तर है। सवमे समान चिकनाई नही है।

यह शक्ति और मात्रा का जो तारतम्य होता है वह पदार्थ की विशेप सरचना के आधार पर होता है। वैसे ही कर्मों की जो फलदान की शक्ति है, उसमे भी तारतम्य होता है और वह तारतम्य उन कर्म-परमाणुओ की संरचना के कारण होता है। यह सरचना हमारी राग-द्वेप की तीव्रता और मदता के आधार पर होती है।

जिस क्षण मे हम कर्म-पुद्गलो को आकर्पित करते हैं, उस क्षण मे यदि राग-द्वेप तीव्र होता है तो उन कर्म-पुद्गलो की फलदान-शक्ति भी तीव्र हो जाती है और यदि राग-द्वेप मद होता है तो फनदान-शक्ति भी मद हो जाती है। यह तीव्रता या मन्दता, यह तारतम्य—यह सव हमारे कपायो, आवेगो और राग-द्वेप के आधार पर होता है। इसलिए साधना का एक वडा सूत्र यह है--जो करो, अनासक्तभाव से करो। आसक्ति को तीव्र मत होने दो। इसका तात्पर्य यह है कि आसक्ति की जितनी तीव्रता होगी, कर्म का फल उतना ही तीव्र होगा। आसक्ति की जितनी मन्दता होगी, कर्म का फल उतना ही मद होगा। अनुभाव की तीव्रता और मंदता आसक्ति की तीव्रता और मंदता पर आधृत है।

यह सच है कि साधना करने वाला भी प्रवृत्ति को सर्वथा रोक नही सकता और साधना करने वाले के समक्ष प्रवृत्ति को रोकने का प्रश्न भी नही है। साधना करने वाले के लिए खाना भी जरूरी है, श्वास लेना भी जरूरी है, वोलना भी जरूरी है, सोचना भी जरूरी है। जीवन-सचालन की जो क्रियाए, जो प्रवृत्तिया है, वे सारी ज़रूरी हैं। उन्हें रोका नही जा सकता। कोई मौन करता है तो वह आधा घटे का, दो घटे का, दस घटे का, एक दिन का, दस दिन का या महीने तक का मौन कर सकता है। वारह वर्प भी मौन रह सकता है। किन्तु आखिर वोलना ही पडेगा। विना वोले काम कैसे चलेगा ? वोलने की एक स्वाभाविक व्यवस्था

है। उसे तोड़ा नही जा सकता। चलने की भी एक व्यवस्था है। वह भी स्वाभाविक है। जीवन भर एक स्थान पर बैठा नही रहा जा सकता। ध्यानकाल मे एक स्थान पर बैठ सकते हैं, किन्तु पूरे दिन तक तो ध्यान नही किया जा सकता। कायोत्सर्ग-काल मे कुछ समय तक स्थिर रहा जा सकता है। किन्तु जीवन से मृत्यु-पर्यन्त ऐसा नही हो सकता। प्रवृत्ति को छोडा नही जा सकता। चिन्तन भी एक प्रवृत्ति है। उसे भी रोका नही जा सकता। यह ठीक है कि ध्यानकाल मे हम निर्विकल्प रह मकते हैं, निर्विचार रह सकते हैं, एक ही विचार पर एकाग्र रह सकते है, दूसरे विचार को रोक सकत हैं, किन्तु यह सदा-सर्वदा के लिए नही हो सकता। क्या चिन्तन के विना काम चल सकता है ? चल नही सकता। चिन्तन ज़रूरी है, गति ज़रूरी है, क्रिया ज़रूरी है। शरीर की, मन की और वाणी की प्रवृत्ति को रोका नही जा सकता।

जव हम कर्म की वात कर रहे हैं तो हमे सूक्ष्म जगत् तक पहुचना है। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनो के पीछे एक तत्त्व है। उस तक पहुचने का हम अभ्यास करें। यही वास्तव मे साधना है, यही उसकी सार्थकता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति आसक्ति और अनासक्ति से जुडी होती है। हम यह अभ्यास करें कि प्रवृत्ति के प्रति आसक्ति न हो या कम हो। प्रवृत्ति हो किन्तु उसके पीछे आसक्ति का, राग-द्वेष का भाव कम हो। प्रवृत्ति के साथ समभाव की धारा जुड जाये। फिर चाहे आप प्रवृत्ति करे किन्तु उस प्रवृत्ति के पीछे एक प्रहरी खडा मिलेगा और वह आपको सतर्क करता रहेगा। जैसे ही आपने प्रवृत्ति मे दोष लाना प्रारम्भ किया, तत्काल कानो मे एक ध्वनि गूज उठेगी—समभाव, तटस्थता, सामायिक, समता। तव आपकी प्रवृत्ति मे आने वाला जो दोष है वह अपने आप नीचे उतर जायेगा, दूर हट जायेगा। प्रवृत्ति के दोषो का प्रक्षालन करने के लिए, उसके दोपो का सशोधन और परिमार्जन करने के लिए हमे जिस वात का अभ्यास करना है वह है समभाव का अभ्यास, समता का अभ्यास, सामायिक का अभ्यास। मनोविज्ञान की भापा मे इसे मार्गान्तरीकरण और उदात्तीकरण कहा गया है।

प्रवृत्ति का शमन होता है, विलयन होता है, मार्गान्तरीकरण होता है, उदात्तीकरण होता है। ये चार वातें हैं। पहली वात है शमन की। जो प्रवृत्ति समाज-सम्मत नही है, व्यक्ति उसे करना चाहता है, किन्तु सामाजिक प्राणी उस प्रवृत्ति को नही करता, उसका शमन करता है। वह अपनी इच्छा को रोक देता है। हर इच्छा की पूर्ति नही होती। कोई भी व्यक्ति अपनी प्रत्येक इच्छा को पूरी नही कर सकता। कुछ पूरी होती हैं, कुछ अधूरी रह जाती है, कुछ को छोड देना होता है। रास्ते चलते सुदर मकान दिखायी दिया। इच्छा हुई कि उस पर कब्ज़ा कर लू। कब्ज़ा कैसे कर सकता है ? नही कर सकता। क्योकि सामाजिक व्यवस्था

उसे वैसा करने नही देती। मन ललचाया कि इस आलीशान मकान मे रहू, इस पर अधिकार कर लू, पर वैसा हो नही सका।

दूसरा है—प्रवृति का विलयन। विलयन भी दवाने की प्रवृत्ति है। कुछ प्रवृत्तिया ऐसी होती हैं, जो मन मे उभरती हैं, किन्तु एक दूसरी प्रवृत्ति की वात सामने आ जाती है, तब वह छूट जाती है। एक प्रवृत्ति दूसरे मे विलीन हो जाती है, उसका विलयन हो जाता है।

तीसरा है—प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण। इसका अर्थ है—प्रवृत्ति का रास्ता वदल देना, दिशा वदल देना। फ्रायड की भाषा मे मूल प्रवृत्ति है—कामशक्ति। फ्रायड के समूचे मनोविज्ञान मे केन्द्रीय शक्ति है—कामशक्ति। उनका प्रतिपादन है कि इसका मार्गान्तरीकरण किया जा सकता है। एक व्यक्ति किसी सुदर स्त्री को देखता है, उसके प्रति आकृष्ट होता है, किन्तु वह प्राप्त नही होती। इच्छा और अधिक तीव्र होती है, फिर भी वह प्राप्त नही होती। तव वह अपने मन की दिशा को वदल देता है। कोई कलाकार वन जाता है, कोई चित्रकार वन जाता है, कोई लेखक वन जाता है, कोई कवि वन जाता है। कोई कुछ और कोई कुछ वन जाता है। मानसिक विश्लेषण के अनुसार एक निष्कर्ष निकाला गया कि वहुत वडे-वडे कलाकार, वडे-वडे कवि जो हुए हैं वे सव मार्गान्तरीकरण के कारण हुए हैं।

चौथा है—प्रवृत्ति का उदात्तीकरण। कर्मशास्त्र की भाषा मे इसे क्षयोपशम कह सकते हैं। यह क्षयोपशम की क्रिया है। जो मोह है, जो आसक्ति है, जो राग-द्वेष है, उनके दोषो का परिशोधन करने की यह प्रक्रिया है, परिमार्जन करने की प्रक्रिया है। इसीलिए जैन आचार्यों ने दो शव्दो का प्रयोग किया—प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग। राग अच्छा नही है, बुरा है। किन्तु धर्म के प्रति राग, गुरु के प्रति राग, इष्टदेव के प्रति राग—यह सव प्रशस्त राग है। जैन आगमो मे एक वहु-व्यवहृत शव्द है—'धम्माणुरागरत्ते'—धर्मानुरागरक्त—धर्म के अनुराग से रक्त। यह सव प्रशस्त राग है। इसका तात्पर्य है कि राग के जो दोष थे, जो तीव्रता थी, उसका परिशोधन कर दिया। आसक्ति की मात्रा को कम कर दिया। मात्रा इतनी कम कर दी कि वह राग-दोषमुक्त नही रहा। राग का उदात्तीकरण हो गया। यह उदात्तीकरण की प्रक्रिया क्षयोपशम की प्रक्रिया है, जिसमे कर्मो के कुछ दोषो को सर्वथा क्षीण कर दिया गया और कुछ दोषो का उपशमन कर दिया गया। इससे एक प्रकार की शुद्धता जैसी स्थिति निर्मित हो गयी। यह उदात्तीकरण है, राग का सशोधन है, आसक्ति का सशोधन है।

दमन की वात साधना की वात नही है। इच्छाओ का दमन ही करना हो तो फिर साधना की वात व्यर्थ है। उसके लिए साधना करने की आवश्यकता नही है। दमन हर किसी व्यक्ति को करना ही पडता है। कोई भी व्यक्ति अपनी सारी

आकाक्षाओ, सारी इच्छाओ को पूरा नही कर सकता। वह नियत्रित है सामाजिक वधनो से। दड का क्षेत्र, व्यवस्था का क्षेत्र और राजनीति का क्षेत्र—यह सव दमन का क्षेत्र है। सर्वत्र बन्धन ही बन्धन है। समाज का वधन, परिवार का बधन, राज्य का वन्धन। सर्वत्र घेरे-ही-घेरे है। दमन करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता ही नही है।

साधना का प्रयोजन है—मार्गान्तरीकरण, उदात्तीकरण। साधना का मार्ग दमन का मार्ग नही है। वह है उदात्तीकरण का मार्ग। या तो हम उदात्तीकरण करें या मार्ग वदल दें।

आख का काम है—देखना। आख रूप को देखती है। रूप के प्रति या तो राग उत्पन्न होगा या द्वेष। दो ही वातें होगी—या तो प्रीत्यात्मक अनुभूति होगी या अप्रीत्यात्मक अनुभूति होगी। तो फिर हम क्या करें—यह प्रश्न होता है। समाधान की भाषा मे कहा जा सकता है कि हम मार्गान्तरीकरण करें, दिशा वदल दें। वाहर को न देखें, भीतर की ओर देखने का प्रयत्न करें। प्रेक्षा करे, प्रकपनो की प्रेक्षा करें। प्रेक्षा मार्गान्तरीकरण का उपाय है। मार्ग इस प्रकार वदलें कि जो आकर्षण वाहर की ओर होता था वह आकर्षण भीतर की ओर हो जाये। उत्सुकता वदल जाये। उत्सुकता रहती है वाहर को देखने की। घटना घटित होती है, व्यक्ति उत्सुक हो जाता है। साधना की सवसे वडी वात है—आकर्षण की धारा को वदल देना। जव वाहर मे अनुत्सुकता होती है तव भीतर का आकर्षण वढता है, उत्सुकता वढती है। पतजलि ने इसे 'प्रत्याहार' कहा है। प्रत्याहार मार्गान्तरीकरण का उपाय है। इन्द्रियो की दिशाओ को वदलो। मन की दिशाओ को वदलो। वे वहिर्गामी न रहे, अन्तर्मुखी वन जाए।

साधना का मुख्य सूत्र है—मार्गान्तरीकरण।

गौतम ने पूछा—भगवन्! धर्म-श्रद्धा से क्या प्राप्त होता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! धर्म-श्रद्धा से अनुत्सुकता पैदा होती है। जव धर्म के प्रति श्रद्धा घनीभूत होती है, आकर्षण होता है, उत्सुकता होती है तव अनुत्सुकता पैदा होती है। जो उत्सुकता वाहर की ओर दौडती थी, वाहर को सुनने, वाहर को देखने, वाहर को चखने, सारी-की-सारी प्रवृत्ति वहिर्गामी हो रही थी, जैसे ही साधना का विकास हुआ, साधना के मार्ग मे आये, दिशा वदल जाती है, उत्सुकता समाप्त हो जाती है। यह अनुत्सुकता भीतर की उत्सुकता वन जाती है। जव भीतर उत्सुकता जागती है तव वाहर की उत्सुकता समाप्त हो जाती है।

यह मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया साधना के विकास की प्रक्रिया है।

उदात्तीकरण क्षयोपशम की प्रक्रिया है। हम कर्मों का शोधन करें। शोधन कर प्रवृत्ति के साथ होने वाले दोष को मिटा दें। प्रवृत्ति के साथ राग और द्वेष की जो धारा जुड रही है, और वह राग-द्वेष जो निरतर हमारे कर्मो मे फल देने

की क्षमता पैदा कर रहा है, जो हमारे विचारो को प्रभावित कर रहा है, उसे हम क्षीण कर दे। उस धारा को मोड दे। उसे उपशात कर दें। इस उदात्तीकरण की प्रक्रिया के द्वारा हम उस विन्दु पर पहुच जाए जहा प्रवृत्ति तो है किन्तु उसके सारे दोप समाप्त है। जो दोप उसके साथ जुडते थे, वह धारा समाप्त है। यह है साधना की सार्थकता। कर्मों मे जो फलदान की शक्ति है उसे कम करने के लिए साधना की जाती है। उसके अभ्यास से एक मार्ग मिल जाता है। वह साधना की समाप्ति नही है, प्रारभ है। इस यात्रा का प्रारभ करने वाला जो भी प्रवृत्ति करता है वह पहले जैसी प्रवृत्ति नही रहती। अव उस प्रवृत्ति के साथ आसक्ति का, राग-द्वेप का वह प्रवाह नही जुडता जो पहले जुडता था। या तो उसका मार्ग वदल जायेगा या वह सर्वथा निरुद्ध हो जायेगा। यदि हम इस तथ्य को ठीक समझ लें तो कर्म के फलदान की शक्ति को भी समझ लेंगे। साधना की सार्थकता को भी समझ लेंगे।

कर्म मे जो फलदान की शक्ति है, वह स्वाभाविक है, स्वय की व्यवस्थागत है। इसमे किसी दूसरे का हस्तक्षेप नही है। किसी व्यवस्थापक की अपेक्षा नही है। यह स्वत सचालित व्यवस्था है। इसमे कोई विचार की आवश्यकता नही है कि फल कैसे देना है।

एक आदमी घृणा करता है, ईर्ष्या करता है, असहिष्णुता का वर्ताव करता है। उसको क्या फल देना है, किसी को सोचने की जरूरत नही है। आज का मनोविज्ञान कहता है कि कोई वुरी वात सोचता है तो उसके अल्सर हो जाता है। ईर्ष्या, घृणा आदि से अनेक वीमारिया होती हैं। कैंसर भी हो जाता है। जो मानसिक वीमारिया हैं, उनका सवध हमारे स्नायु-सस्थान से हैं, वे पैदा हो जाती हैं। उनका सवध हमारी मानसिक क्रिया से है। कोई व्यवस्थापक नही है, व्यवस्था करने वाला नही है। जैसे ही एक हुआ, दूसरा हो जायेगा। दोनो का सवध है। फल देने के लिए किसी नियता की आवश्यकता नही। उसमे अपने आप मे क्षमता है। हम उस क्षमता को समझें। हम आसक्ति के द्वारा, राग-द्वेप के द्वारा, कपायो के द्वारा उन कर्म-परमाणुओ मे ऐसी सरचना न होने दें, ऐसी फलशक्ति उत्पन्न न होने दें जिसका परिणाम वुरा हो, जो हमे ही भोगना पडे।

१२

कर्म का बन्ध

- कर्मों का आकर्षण होता है—चंचलता के द्वारा।
- कर्मों का टिकाव होता है—कषाय के द्वारा।
- साधना के दो आधार-बिंदु है—चचलता को रोकना, कषाय को क्षीण करना।
- मनोविज्ञान के अनुसार मन के तीन विभाग
    - अदस् (Id) मन।
    - अहं (Ego) मन।
    - अधिशास्ता (Super Ego) मन।
- प्रतिपक्ष-भावना द्वारा सस्कार-विशोधन।



मन दो प्रकार का है—चेतन मन और अवचेतन मन। चेतन मन जो कुछ करता है वह सब वर्तमान का ही नही होता किंतु उसमे अवचेतन मन का हिस्सा होता है। उसका प्रभाव होता है। यह स्वीकृति उपलब्ध तथ्यो की स्वीकृति है। यदि सूक्ष्म मे जाए तो कर्मशास्त्र की वह स्वीकृति भी प्राप्त हो सकती है कि मनुष्य जो काम करता है वह केवल वर्तमान परिवेश, वर्तमान परिस्थिति से प्रभावित होकर ही नही करता, प्रभाव का जो हेतु है वह बहुत सूक्ष्म मे और बहुत दूर तक चला जाता है। वह हेतु है कर्म-शरीर या पूर्व-अर्जित कर्म-समूह। उससे प्रभावित होकर ही मनुष्य काम करता है। दबी हुई इच्छाए, दबी हुई आकाक्षाए अवचेतन मन मे चली जाती हैं और जब वे जागृत होती है तो चेतन मन प्रभावित होकर काम करने लग जाता है। इस मनोविज्ञान की भाषा को हम कर्म-शास्त्रीय भाषा मे इस

प्रकार बदल दें कि पूर्व-अर्जित कर्म जब उदय मे आते हैं, अपना फल देना शुरू करते हैं तब स्थूल मन उनसे प्रभावित होता है और वह उनके अनुसार ही व्यवहार और आचरण करने लग जाता है।

दो काल हैं। एक क्रिया का काल, प्रवृत्ति का काल और दूसरा कर्म-बध का काल। जब कोई प्रवृत्ति होती है, उसी क्षण कर्म का बध हो जाता है। प्रवृत्ति का फल मिल जाता है। प्रवृत्ति का फल है कर्मों का अर्जन। वह तत्काल प्राप्त हो जाता है। क्रिया के साथ-साथ फल होना है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया परिणाम को साथ लिये चलती है। परिणाम पीछे नही होता, तत्काल होता है। क्रिया और परिणाम मे इतना अतराल नही हो सकता कि आज हम क्रिया करें और उसका परिणाम सौ वर्ष बाद या हजार वर्ष बाद हो। एक आदमी धन कमाने की प्रवृत्ति करता है। उसका परिणाम—धन की प्राप्ति या अप्राप्ति—तत्काल हो जाता है। धन का अर्जन हो गया, किंतु इसका यह अर्थ नही है कि उसका पूरा उपभोग भी तत्काल हो जाता है। परिणाम तत्काल मिल जाता है किंतु परिणाम का उपभोग लबे समय तक होता रहता है। अर्जन उसी क्षण होता है, उपभोग होता रहता है।

कर्म का बध, कर्म परमाणुओ का अर्जन क्रिया का परिणाम है। वह अर्जन तत्काल हो जाता है। यह कभी नही होता कि क्रिया अभी हो रही है और कर्म का बध कभी बाद मे होगा। ऐसा कभी नही हो सकता। कर्म का बध तत्काल हो जाता है। उसी क्षण मे हो जाता है। किंतु जो अर्जित हो गया, जो सगृहीत हो गया, वह कब तक साथ रहेगा—इसका एक स्वतत्र नियम है। यह नही होता कि जिस क्षण मे किया, उसी क्षण मे वह आया और अपना फल देकर चला गया। ऐसा नही होता। अर्जन का काल क्षणभर का है और उपभोग का काल बहुत लबा है। प्राणी दीर्घकाल तक अर्जित कर्मों का उपभोग करता रहता है। प्राणी ने जो अर्जित किया, जिन कर्म-परमाणुओ का सचय किया, वे कर्म-परमाणु जिस क्षण मे सचित होते हैं उसी क्षण मे फल देने मे समर्थ नही होते। प्रवृत्ति या आस्रव का मुख्य फल होता है कर्मों का अर्जन। वह प्रवृत्ति-काल मे ही हो जाता है। किंतु जो अर्जित कर्म-पुद्गल हैं वे कब सक्रिय होगे, कब तक सक्रिय रहेगे, इसका नियम अर्जन के नियम से भिन्न होता है। तत्काल सक्रियता नही होती। आज बच्चा जन्मा। वह कानून की दृष्टि से सपत्ति का अधिकारी तो हो गया किंतु उसे पूरा अधिकार तब प्राप्त होगा जब वह नाबालिग अवस्था को पार कर जायेगा, सवयस्क बन जायेगा। जब तक वह सवयस्क नही हो जाता तब तक उस सपत्ति का सरक्षण कोई गार्जियन करेगा। बच्चे को कार्यकारी स्वामित्व प्राप्त नही होगा। उसे जन्मजात स्वामित्व प्राप्त है, किंतु कार्यकारी स्वामित्व वयस्क होने पर ही मिलेगा।

ठीक यही नियम कर्म-जगत् मे लागू होता है। कर्म का जो बध हुआ है, कर्म-

परमाणुओं का जो अर्जन हुआ है वह आज ही कार्यकारी नही होगा। कुछ काल तक वे कर्म-परमाणु सत्ता मे रहेगे, उदय मे नही आयेंगे। वह सत्ताकाल अबाधा-काल कहलाता है। इसका तात्पर्य है कि वे कर्म-परमाणु अस्तित्व मे है किंतु अभी कार्यकारी नही हैं। वे कुछ भी करने मे समर्थ नही हैं। अपना परिणाम प्रदर्शित करने की क्षमता उनमे प्रकट नही हुई है। वे अस्तित्व मे हैं, किंतु वे अव्यक्त रूप मे पडे हुए है। वीज बोया गया। वह अस्तित्व मे है किंतु वह अभिव्यक्त नही हुआ, अकुर के रूप मे प्रकट नही हुआ। अकुर के फूटने मे थोडा समय लगेगा। अकुर फूटेगा तब वह पौधा वनेगा, आगे वढेगा, ऊपर आयेगा। वीज भूमि मे बोया गया, यह वध का काल है। वध के वाद होता है—सत्ता का काल। जब तक कर्म सत्ताकाल मे रहेगा, तब तक वह कार्यकारी नही होगा। वह अपना परिणाम नही दे सकेगा। सव कर्मों का अपना-अपना अस्तित्व-काल होता है। जब यह अस्तित्व-काल या सत्ता-काल या अवाधा-काल पूरा होता है तब कर्म विपाक की स्थिति मे आता है और अपना फल देने लगता है। फल-दान कब तक होता है, इसकी भी एक मर्यादा है, सीमा है। उस मर्यादा को कर्मशास्त्र की भाषा मे कहा जाता है—स्थितिकाल। यह कर्म वध की चौथी अवस्था या व्यवस्था है।

पहली अवस्था है कर्म-परमाणुओ के आने की, उनके सग्रह की। इसे 'प्रदेश वध' कहा जाता है।

दूसरी अवस्था है कर्म-परमाणुओ के स्वभाव-निर्माण की। कौन-सा कर्म किस स्वभाव का होगा, इस अवस्था को 'प्रकृति बध' कहा जाता है।

तीसरी अवस्था है—कर्म-परमाणुओ से रस-शक्ति के निर्माण की। कौन-से कर्म मे कितनी रस-शक्ति है, इस अवस्था को 'अनुभाग वध' कहा जाता है।

चौथी अवस्था है—कर्म-परमाणुओ के स्थिति-काल की। कौन-सा कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक रह पायेगा, इस अवस्था को 'स्थिति वध' कहा जाता है।

ये चारो अवस्थाए कर्म-बध के साथ ही निष्पन्न हो जाती है। कर्म के स्थिति-काल के अनुसार उसका सत्ता-काल होता है। जब वह पूरा हो जाता है तब एक-एक निषेक का, परमाणुपुज का प्रकटीकरण होने लगता है और प्राणी फल भोगने लगता है। जब सारे परमाणुपुज समाप्त हो जायेंगे, कर्म-स्थिति समाप्त हो जायेगी तब कर्म अपना फल प्रदर्शित कर शेष हो जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे, आत्मा से विलग हो जायेंगे। इसे कर्म-क्षय कहा जाता है।

ये चार अवस्थाए है। इनके घटक है—राग और द्वेष। हमारी रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ये घटित होती है। हम अपनी चचलता के द्वारा कर्म-परमाणुओ का आकर्षण करते हैं। कषाय के द्वारा उन कर्म-परमाणुओ को टिकाकर रखते है। आकृष्ट करना और टिकाकर रखना—ये दो बातें है।

आकर्षण होता है मन, वचन और शरीर की चंचलता के द्वारा और उनका टिकाव होता है कषाय के द्वारा। वे कषाय के द्वारा बाधकर रखे जाते हैं। कषाय जितना तीव्र होगा उतने ही दीर्घकाल तक कर्म-परमाणु आत्मा के साथ चिपके रहेंगे। कर्म-परमाणुओ को चिपकाये रखना कषाय का काम है और उन्हे आकृष्ट करना चचलता का काम है।

क्या यह हमारा साधना का सूत्र नही बन सकता ? क्या यह साधना का आधार नही बन सकता ? यह साधना का सूत्र बन सकता है, आधार बन सकता है।

हमारी साधना के दो आधार-बिंदु है—चचलता को रोकना और कषाय को कम करना, राग-द्वेष को कम करना। तटस्थ होना, समभाव मे रहना, स्थिर रहना—ये ही साधना के दो सूत्र हैं। समूचे कर्मशास्त्र को साधना के सदर्भ मे समझें तो दो बातें बहुत ही स्पष्ट हो जाती हैं कि चचलता के द्वारा कर्म-परमाणु खीचे जाते हैं और कषाय के द्वारा वे टिके रहते हैं और अपना फल देते है। फल की तीव्रता और मदता कषाय के आधार पर होती है। दीर्घकाल की स्थिति और अल्पकाल की स्थिति कषाय के आधार पर होती है। स्थिति और फलदान की शक्ति—ये दोनो कषाय पर निर्भर हैं। कषाय ही कर्म-स्थिति को बढाता-घटाता है और कषाय ही फलदान की शक्ति मे तीव्रता या मदता लाता है। कर्म का आकर्षण केवल चचलता के आधार पर होता है।

कर्म को रोकना है तो हमे उसी क्रम से चलना पडेगा कि पहले चचलता कम होती चली जाये, स्थिरता की मात्रा बढती चली जाये। कायोत्सर्ग इसीलिए किया जाता है कि शरीर की चचलता कम हो, समाप्त हो। हम श्वास की प्रेक्षा करते हैं, श्वास को मद करते हैं, श्वास को सूक्ष्म करते हैं, इसीलिए कि चचलता कम हो जाये। काया की चंचलता कम हो। श्वास काया का ही एक हिस्सा है। वह शरीर से भिन्न नही है। शरीर की चचलता को कम करने के लिए श्वास का सयम करते है। मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं, निर्विचार और निर्विकल्पना की साधना करते हैं कि चचलता कम हो। मौन करते हैं ताकि वाणी की चंचलता कम हो। जब वाणी की चचलता कम होती है, मन की चचलता कम होती है और शरीर की चचलता कम होती है तो कर्म-परमाणुओ का आना कम हो जाता है।

दूसरी बात है—काया की जो थोडी बहुत प्रवृत्ति शेष रहती है, वचन की अल्पमात्रा मे प्रवृत्ति शेष रहती है और मन की भी यत्किंचित् प्रवृत्ति रहती है, उनके साथ भी आसक्ति न जुडे, राग-द्वेष का भाव न जुडे। तटस्थता का विकास हो, समता का विकास हो ताकि अवशिष्ट चचलता या प्रवृत्ति के द्वारा जो भी कर्म-परमाणु आकृष्ट हो वे लबे समय तक हमारे साथ न टिक सकें और अपना

तीव्र अनुभव, तीव्र प्रभाव हमारे ऊपर न डाल सकें। इससे साधना का कोई भी आयाम शेष नही रहता। समूची साधना इसमे समा जाती है। साधना का सार यही है—चचलता को रोकना और समभाव मे रहना। साधना की समूची धारा इन दो तटो के बीच वहती है। ये दो ही तट है साधना के। कोई भी साधना की ऐसी धारा नही है जो इन दो तटो को तोडकर, इन दो तटो का अतिक्रमण कर प्रवाहित होती हो। यदि कोई ऐसी धारा है तो वह मोक्ष की, मुक्ति की, स्वतत्रता की साधना नही है। और कुछ साधना हो सकती है। वह वीतरागता की साधना नही है, और कुछ हो सकती है। वैसे तो प्रत्येक प्रवृत्ति साधना है। कोई भी प्रवृत्ति साधना के विना नही होती। प्रत्येक प्रवृत्ति को निष्पन्न करने के लिए साधना अपेक्षित होती है। कोई भी कार्य साधना के विना नही होता। कोई भी कार्य साध्य के विना नही होता। प्रत्येक प्रवृत्ति मे साध्य, साधन और साधना—तीनो होते हैं। आप कोई भी प्रवृत्ति करे, उसका साध्य होगा कि आप उसको क्यो करना चाहते हैं ? उसका साधन होगा कि आप किन-किन साधनो से उसे निष्पन्न करना चाहते हैं। उसकी साधना भी होगी कि आपको उसकी निष्पत्ति मे कैसे तपना-खपना होगा।

हम जिस सदर्भ मे साधना की चर्चा कर रहे हैं, वह अन्यान्य साधनो से कुछ भिन्न है। हमारी समूची साधना की धारा दो तटो के बीच मे ही बहे। एक तट है—स्थिरता का और दूसरा तट है—समता का, वीतरागता का, अकपायभाव का, राग-द्वेष की न्यूनता का। इन दो तटो के बीच साधना की धारा बहे, यही काम्य है। फिर चाहे हम कोई भी प्रवृत्ति करें या निवृत्ति करें, काम करें या न करें, बोलें या न बोलें, सोचें या न सोचें, खाए या न खाए। हम कुछ भी करे, उन दोनो तटबधो को इतना मजबूत बनाये रखें कि उनमे कही दरार न होने पाये, छेद न होने पाये और पानी इधर-उधर छितरे विना तटबधो के बीच मे बहता रहे।

प्रश्न होता है कि कर्म के आकर्षण की प्रक्रिया और सश्लेप की प्रक्रिया के पीछे हेतु क्या है ? ये दोनो प्रवृत्तिया दो आस्रवो के द्वारा होती है। एक आस्रव का नाम है—योग और दूसरे आस्रव का नाम है—कपाय। योग आस्रव और कषाय आस्रव—ये दो आस्रव हैं, जिनके द्वारा कर्मों का आकर्षण और कर्मों का सश्लेप होता है। चचलता स्पष्ट है, कपाय उतना स्पष्ट नही है। चचलता स्पष्ट दीखती है, कपाय भीतर छिपा रहता है। वह दिखायी नही देता। हमे गूढ मे जाना होगा, रहस्य मे जाना होगा। हमे कही-कही रहस्यवादी भी बनना होगा और जो छिपा हुआ है, उसके तल तक पहुचना होगा।

मनोविज्ञान ने मन के तीन विभाग किये हैं—

१. अदस् (Id) मन।

२. अह (Ego) मन।

सांकल को खोल दो वह पंगु की तरह बैठ जायेगा। कितनी उल्टी वात है ? एक साकल वह है जिससे वधा आदमी चल नही सकता, साकल से मुक्त होते ही वह दौडने लग जाता है। एक साकल वह है जिससे वंधा आदमी दौडने लगता है और मुक्त होने पर एक पैर भी नही चल पाता। कितनी अद्भुत वात है।

चचलता पैदा करने वाला, सक्रियता पैदा करने वाला, भटकाने वाला जो तत्त्व है, वह है अविरति। यह एक ऐसी प्यास है जिसे हम अभी तक बुझा नही पाये। इतना भोग कर भी बुझा नही पाये। चचलता का यही वडा स्रोत है। एक प्रश्न आता है कि जव हम इतना जान गये कि चचलता का स्रोत है आकाक्षा, इच्छा, अतृप्ति, फिर भी उसे बुझा नही पाते। यह क्यो ? आदमी जान ले, फिर क्यो नही बुझा पाये ? इसका भी एक कारण है। यह भ्रम है कि आदमी ने जान लिया। वह अभी तक जान नही पाया है। इसका कारण है—मिथ्यादृष्टिकोण। हमारा दृष्टिकोण ही कुछ ऐसा वना हुआ है कि जिससे प्यास बुझती है उससे दूर भागते हैं और जिससे प्यास भभकती है उसे इसलिए पी रहे हैं कि प्यास बुझ जाये। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—

मूढात्मा यत्र विश्वस्त , ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मन ॥

—'मूढ आत्मा जिसमे विश्वास करता है उससे अधिक कोई भयानक वस्तु ससार मे नही है। मूढ आत्मा जिससे डरता है, जिससे दूर भागता है, उससे वढकर शरण देने वाली वस्तु ससार मे नही है।'

खतरनाक वस्तु मे विश्वास करना और खतरा मिटाने वाली वस्तु से दूर भागना, यह कव होता है ? यह तव होता है जव आत्मा मूढ हो, दृष्टिकोण मिथ्या हो, मोह प्रवल हो। जव राग-द्वेष की प्रवलता होती है, कषाय की प्रवलता होती है, तव ऐसा होता है। जव तक मिथ्यादृष्टि दूर नही होगी, तव तक हम यह समझ नही पायेंगे।

कर्म-बन्ध की प्रक्रिया मे महावीर से पूछा गया—भते ! कर्म का वध कैसे होता है ? उसकी प्रक्रिया क्या है ?

भगवान् ने कहा—जव ज्ञानावरण कर्म विशिष्ट उदयावस्था मे होता है, तव दर्शनावरण कर्म का उदय होता है। जव जानने पर आवरण आता है, तव देखने पर भी आवरण आ जाता है। जव दर्शन का आवरण होता है, तव दर्शन मोह कर्म का उदय होता है। जव दर्शन मोह का उदय होता है, तव मिथ्यात्व आता है। उसके अस्तित्व मे नित्य को अनित्य, सुख को दु ख, अनित्य को नित्य और दु ख को सुख मानने की वात घटित होती है। तव व्यक्ति जो दु ख के साधन हैं, उन्हे सुख के साधन तथा जो सुख के सावन हैं, उन्हें दु ख के साधन मानने लग जाता है।

तव वह प्यास को बुझाने वाले साधनो को प्यास लगाने वाले तथा प्यास लगाने वाले साधनो को प्यास बुझाने वाले साधन मानने लग जाता है। सारी बात उलट जाती है। जव तक यह मिथ्यात्व का वधन नही टूटता, तव तक कर्म का चक्र टूट नही सकता। इसे तोडा नही जा सकता।

मिथ्यादृष्टि के अस्तित्व-काल मे, यह जानते हुए भी कि प्यास है और प्यास वुझाने के साधन भी हैं, हम उन्ही साधनो को ढूढते है, जिनसे प्यास और अधिक वढ जाती है। यह इसलिए होता है कि उसकी तह मे मिथ्यात्व अवस्थित है। मिथ्या दृष्टिकोण, मति का विपर्यय. वुद्धि का विपर्यास—सत्य को विपरीत ग्रहण करने के लिए वाध्य करता है।

जव तक मिथ्यात्व रहेगा तव तक आकाक्षाए रहेगी, प्यास बनी-की-बनी रहेगी। जव तक प्यास वनी रहेगी, तव तक प्रमाद भी होता रहेगा, भ्रान्ति होती रहेगी, विस्मृति होती रहेगी। विस्मृति, जैसे—हमने एक वार जान लिया कि धन सुख का साधन नही है। यह तथ्य स्मृतिपटल पर अकित है, किन्तु जसे हम कार्यक्षेत्र मे उतरेंगे, कर्मक्षेत्र मे प्रवेश करेंगे, तव इस वात को भूल जाएगे, कि धन, संपत्ति, ऐश्वर्य सुख के साधन नही हैं। हम यह मानने लग जाएगे या हमे ऐसा लगने लगेगा कि ससार मे कोई सारभूत वस्तु है तो वह धन है, सपत्ति है, ऐश्वर्य है। शेष सव कुछ असार-ही-असार है, व्यर्थ है, मिथ्या है। धन है तो सव कुछ है, धन नही है तो कुछ भी नही, धन ही सार है, यही सारभूत है, पदार्थ है। अव प्रश्न होता है कि ऐसा क्यो होता है ? इसका समाधान यह है कि हम भूल जाते हैं, विस्मृति हो जाती है, प्रमाद उभर जाता है, इसलिए ऐसा होता है।

जव तक ये चार तत्त्व—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय—अस्तित्व मे रहते हैं, तव तक चचलताओ को रोका नही जा सकता। चचलता के चक्र को धीमा नही किया जा सकता। वह चक्र इतना तेजी से घूमने लगता है कि उसका अनुमान करना भी कठिन हो जाता है। व्यक्ति ध्यान करने के लिए वैठता है तो कभी आकांक्षाओ का ज्वार आता है, कभी प्रमाद का अधकार छा जाता है, कभी कषाय की आग भभक उठती है और वह ध्यान से भटक जाता है। ध्यान छूट जाता है और वह सकल्प-विकल्प के जाल मे फस जाता है। उस जाल मे ऐसी समाधि लगेगी कि वास्तविक समाधि का छोर छूट जायेगा। यह इसलिए होता है कि हम शोधन करते हुए नही आ रहे हैं। हमारी वृत्तियो का शोधन नही हो पाया है।

साधना की सफलता के लिए हमे इन कर्मशास्त्रीय रहस्यो को समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। हम मिथ्या दृष्टिकोण को छोडें, सम्यक् दृष्टिकोण को अपनाए, अविरति को छोड़ें और विरति को ग्रहण करें, प्रमाद को छोडकर अप्रमाद मे आए और कषाय की आग को शान्त कर चलते जाए। इतना होने पर

३ अधिशास्ता (Super Ego) मन।

पहला विभाग है 'अदम्' मन। इस विभाग मे आकाक्षाए पैदा होती हैं। जितनी प्रवृत्त्यात्मक आकाक्षाए और इच्छाए हैं, वे सब इस मन में पैदा होती है। इसमे अचेतन का भाग अधिक है, चेतन का भाग कम।

दूसरा विभाग है 'अह' मन। समाज-व्यवस्था से जो नियत्रण प्राप्त होता है, उससे आकाक्षाए यहा नियन्त्रित हो जाती हैं, और वे कुछ परिमार्जित हो जाती हैं। उन पर अकुश जैसा लग जाता है। मन मे जो आकाक्षा या इच्छा पैदा हुई, 'अह मन' उसे क्रियान्वित नही करता।

तीसरा विभाग है 'अधिशास्ता' मन। यह अह पर भी अकुश रखता है और उसे नियन्त्रित करता है।

चचलता अपने आप नही होती। चचलता के पीछे कोई-न-कोई आकाक्षा होती है। हम अपने आप नही बोलते। बोलने की ज़रूरत होती है, आकाक्षा उत्पन्न होती है, कोई विकल्प पैदा होता है, तब हम बोलते हैं। मैं कई बार मौन करने के विषय मे सोचता हू। यह देखकर मुझे अजीब-सा लगता है कि आदमी मौन करता है और प्रवृत्ति इतनी करता है कि शायद बोलने वाला भी नही करता या बोलते हुए भी नही करता। बडा विचित्र लगता है। वाणी का मौन है, किन्तु सकेतो से इतनी प्रवृत्ति कर देना कि शायद बोलने वाला भी न करे। यह मौन नही है। मौन का मतलब केवल नही बोलना ही नही है। उसका मतलब है कि बोलने की अपेक्षा कम हो जाये। जिससे हमे बोलने की प्रेरणा मिलती है, हम बोलने के लिए बाध्य होते हैं, उन अपेक्षाओ का कम हो जाना मौन है, न कि वाणी का प्रयोग बद कर समूचे शरीर को हिला देना, सकेतो से प्रवृत्ति करना, मौन है।

कुछ लोग मौन भी कर लेते है और 'ऊ ऊ' आदि अव्यक्त ध्वनि से अपना काम भी निकाल लेते है। यह कैसा मौन ?

आकाक्षा का कम होना, प्रयोजन का कम होना, इच्छाओ का कम होना, अपेक्षाओं का कम होना चचलता का अपने आप कम होना है। चचलता अपने आप नही होती। घूमने वाली चीज़ अपने आप नही घूमती। उसे घुमाने वाला दूसरा कोई-न-कोई होता है। चक्का घूमता है, चाहे हवा से, चाहे बिजली से और चाहे और किसी साधन से। वह अपने आप नही घूमता। किसी प्रेरणा से घूमता है। चचलता अपने आप नही होती। चचलता की तह मे कुछ और होता है।

पारिभाषिक शब्दावली मे चचलता को योग कहा जाता है। यह योग आस्रव है। योग आस्रव अपने आप प्रवृत्त नही होता, उसके पीछे कोई अपेक्षा होती है। वह अपेक्षा है—अविरति। अविरति अर्थात् छिपी हुई चाह। वह छिपी हुई ज्वाला है, आग है। आग भभक रही है। चाह है। सुख को पाने की चाह और दु ख को मिटाने की चाह। प्रिय को पाने की चाह और अप्रिय को मिटाने की चाह।

अनुकूल को प्राप्त करने की चाह और प्रतिकूल को समाप्त करने की चाह। सुख-सुविधा को पाने की चाह और कष्ट को मिटाने की चाह। यह जो विभिन्न प्रकार की आन्तरिक चाह है, आकाक्षा है, इसे मनोविज्ञान की भाषा मे 'अदस् मन' कहा गया है। कर्मशास्त्र की भाषा मे यह अविरति आस्रव है। अविरति का अर्थ है—विरति का अभाव। अभी तक चाह मिटी नही है। प्यास बुझी नही है। अतृप्ति है, अतृप्ति है। कठ अभी तक सूखा ही सूखा है। कितना ही पानी पी लिया, पर अभी तक कठ सूखे है। प्यास बुझी नही। सारे ससार का पानी पी लिया, पर प्यास बुझी नही। यह अमिट चाह! अमिट चाह का जो स्रोत है, उसे अविरति आस्रव कहा गया है। इसकी मात्रा जितनी अधिक होगी, चचलता अधिक वढेगी। चचलता यदि स्वाभाविक होती तो सव प्राणियो मे समान होती।

कुछ लोग वरामदे मे वैठे है। सडक पर वाजे वजते है। कुछ खडे होकर सडक पर देखने लग जाएगे, कुछ शात वैठे रहेगे। यह अन्तर क्यो? जिनमे अविरति प्रवल है, चाह प्रवल है, उत्सुकता प्रवल है, वे देखने को दौडेंगे, भागेंगे, प्रयत्न करेंगे, सुनना चाहेगे। जिनमे अविरति कम है, चाह कम है, उत्सुकता कम है, वे अपने आप मे शात वैठे रहेगे। अन्तर्वृत्ति होकर वैठे रहेगे। वे वहिर्वृत्ति नही रहेगे। वे वाहर नही भागेंगे। यह आकर्पण का कम होना सहजभाव से अन्तर्वृत्ति होना है।

मानसशास्त्र मे दो प्रकार की वृत्तियो का उल्लेख है—अन्तर्वृत्ति और वहिर्वृत्ति। कामशक्ति जव आगे की ओर वढती है, व्यक्ति वहिर्वृत्ति हो जाता है, वाहर की ओर दौडने लग जाता है। जव कामशक्ति की प्रत्यावृत्ति होती है, डिप्रेशन होता है तो व्यक्ति भीतर मे सिमट जाता है। उसकी वाहरी वृत्तिया समाप्त हो जाती हैं। ठीक हम इसी कर्मशास्त्रीय भाषा का प्रयोग करे कि अविरति जव तीव्र होती है तव पुरुप वाहर की ओर भागता है। उसकी आकाक्षा इतनी वढ जाती है कि वह सारे ससार को अपनी मुट्ठी मे वद करने का प्रयत्न करता है और सव कुछ वाहर ही वाहर देखता है। उसे सब कुछ वाहर ही वाहर दीखता है। जव यह अविरति कम होती है, व्यक्ति अपने भीतर सिमटना शुरू हो जाता है। जव भीतर सिमटना शुरू होता है तो आकाक्षाए कम होती हैं, चचलता अपने आप कम हो जाती है। एक सस्कृत कवि ने कहा है—

आशा नाम मनुष्याणा, काचिदाश्चर्यशृखला।
यया वद्धा प्रधावन्ति, मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत्॥

आशा नाम की एक साकल है। यह अद्भुत साकल है। लोहे की साकल से आदमी को वाध दो, वह चल नही पायेगा। साकल को खोल दो, वह चलने लग जायेगा। किन्तु आशारूपी साकल से आदमी को वाध दो, वह दौडने लग जायेगा।

चचलता अपने आप कम होती रहेगी।

लोग पूछते है—पहले ही क्षण मे मन चचल है। उसे शान्त कैसे करें, ऐसा कोई जादू नही है कि पहले ही क्षण मे मन शान्त हो जाये। मन को शान्त करने की एक प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया मे से गुजरे, मन शान्त हो जायेगा। वह प्रक्रिया है—मिथ्या दृष्टिकोण, अविरति, प्रमाद और कषाय को उपशान्त करते जाए, मन शान्त हो जायेगा। इन चारो को आप क्षीण करते जायें, क्षीण करने की साधना करें, एक दिन ऐसा आयेगा कि मन शान्त हो रहा है, हो गया है, वाणी शान्त हो रही है, हो गयी है, शरीर शान्त हो रहा है, हो गया है। हम इस प्रक्रिया को दृढता से पकडें और उसको करते चले जाए। उसमे से गुज़रें, क्रमश हम अपने लक्ष्य मे सफल होते जायेंगे। हम तात्कालिक लाभ पाने के लिए यह न सोचें कि अभी सब कुछ हो जाये, साधना के पहले क्षण मे ही सिद्धि मिल जाये। यह न कभी हुआ है, न होता है और न होगा। हम प्रक्रिया करते चले जायें। निराश न बनें।

हम श्वास प्रेक्षा या शरीर प्रेक्षा कर रहे हैं, उसका पूरा अर्थ सबके समझ मे आये या न आये, किन्तु यह निश्चित है कि हम एक प्रक्रिया मे से गुजर रहे हैं। और उसके द्वारा उन चारो के चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयास करे हैं। प्रश्न होता है कि हम अनुप्रेक्षा के अभ्यासकाल मे चिंतन करते हैं, चिंतन करना प्रेक्षा मे मन को इधर से उधर घुमाना चंचलता को मिटाने का उपाय कैसे हो सकता है? प्रश्न सही है। हम अनुप्रेक्षा के समय चचलता को नही मिटा रहे है, उसके लिए प्रयत्न भी नही कर रहे हैं। हम एक प्रकार की चचलता के सामने दूसरे प्रकार की चचलता खडी कर रहे हैं।

महर्षि पतजलि ने कहा है—'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।'—एक पक्ष को तोडना है तो दूसरे प्रतिपक्ष को पैदा करो। अशुभ को तोडना है तो शुभ को पैदा करो। छोडना दोनो को है—शुभ को भी छोडना है और अशुभ को भी छोडना है। पाप को भी छोडना है और पुण्य को भी छोडना है। किन्तु अशुभ को छोडने के लिए शुभ का सकल्प करें। बुरे को छोडने के लिए अच्छे का सकल्प करें। बुरी आदत को छोडने के लिए अच्छी आदत डालें। अन्यथा बुरी आदत छूटेगी नही। एक बार छूट भी जायेगी तो वह पुन पकड लेगी। हमने देखा, एक आदमी को तम्बाकू सूघने की आदत थी। दिन मे सौ-पचास बार वह तम्बाकू सूघता था। न उसे उस तम्बाकू मे दुर्गन्ध ही आती और न उसे उस आदत के प्रति घृणा ही थी। एक दिन उसे वह बात समझ मे आ गयी और उसने उस आदत को छोडने का संकल्प कर लिया। अब वह तम्बाकू को सूघना छोड, इत्र को सूघने लगा। इत्र सूघना उसकी आदत बन गयी और वह तम्बाकू की आदत छूट गयी।

बुरी आदत को बदलने के लिए अच्छी आदत डाली जाती है। एक प्रकार की चचलता को मिटाने के लिए हम दूसरे प्रकार की चचलता का सहारा ले रहे हैं। पुरानी चचलता को मिटाने के लिए नई चचलता को अपना रहे हैं। ऐसा करते-करते एक दिन ऐसा भी आयेगा कि सारी चचलता मिट जायेगी, समाप्त हो जायेगी।

१३

समस्या का मूल बीज

- योग्यतात्मक क्षमता—लब्धिवीर्य ।
- क्रियात्मक क्षमता—करणवीर्य ।
- शरीर मन को प्रभावित करता है और मन शरीर को प्रभावित करता है । दोनो का मूल है—कर्म ।
- काल का प्रभाव । काललब्धि से विकास ।
- व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि ।



कुछ व्यक्ति नही जानते कि उन्हे क्या करना है ? कुछ व्यक्ति जानते हैं पर करने मे समर्थ नही होते । कुछ व्यक्ति जानते हैं किन्तु सही-सही नही जानते । कुछ करते हैं, पर सही ढग से नही करते । इस प्रकार अनेक समस्याए हैं और प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी समस्या का सामना करना पडता है । ये समस्याए क्यो हैं ? इनका हेतु क्या है ? कर्मशास्त्र मे इन प्रश्नो पर विमर्श किया गया और इनका समाधान भी दिया गया ।

ज्ञान की दूसरी शाखाए, जो स्नायविक उत्तेजना तथा परिस्थिति के कारण मानवीय आचरण की व्याख्या करती हैं, वे शरीर से आगे नही जातीं । यह उनका विषय भी नहीं है । उनका विषय शरीर से प्रतिबद्ध है ।

मानसशास्त्र ने मनोविश्लेषण किया और मानसिक समस्याओ के बारे में विचार भी किया, उनका समाधान भी दिया । किन्तु वह समाधान परिस्थिति और परिस्थिति-जनित स्नायविक उत्तेना—इन दो मे समाहित हो जाता है । वह इन दो से आगे नही जाता । वह अवचेतन मन तक जाता है । किन्तु अवचेतन मन मे

भी ऐसा क्यो होता है, इसका कोई सही समाधान प्राप्त नही होता।

कर्मशास्त्र ने इनके मूल कारणो पर भी विचार किया है, परिस्थितियो पर भी विचार किया है। उसने परिस्थितियो को अस्वीकार नही किया है, क्योकि परिस्थितिया निमित्त बनती है। निमित्त को अस्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु जो घटना घटित होती है, उसका मूल हेतु क्या है, इसके विमर्श मे जब हम जायें तो पता चलेगा कि प्रत्येक समस्या के पीछे किसी न किसी कर्म की कोई प्रेरणा है।

हम अज्ञान को ले। आदमी नही जानता। किसी कर्मशास्त्री से पूछो तो वह कहेगा—यह आदमी नही जानता। इसका मूल कारण है ज्ञानावरण—कर्म का उदय। इस व्यक्ति की चेतना को ज्ञान का आवरण प्रभावित कर रहा है, इसलिए इसके ज्ञान का विकास नहीं हो पा रहा है।

मानसशास्त्री का उत्तर दूसरा होगा। वह कहेगा—इस व्यक्ति का मस्तिष्क विकसित नही है, इसलिए इसमे ज्ञान का विकास कम है। मानसशास्त्री शरीर के आधार पर कारण ढूढेगा और उन कारणो का विश्लेषण करेगा।

एक प्रश्न होता है कि मस्तिष्क विकसित क्यो नही हुआ ? इसका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। कारण अवश्य है। वह कारण छिपा हुआ है सूक्ष्म शरीर मे। वह स्थूल शरीर मे प्रकट नही है। उस व्यक्ति के ज्ञान के आवरण का इतना प्रबल उदय है कि ज्ञान का सवाहक अवयव बना ही नही या बना है तो अधूरा है। ज्ञानावरण के कारण ही मस्तिष्क विकसित नही हुआ है। अमनस्क जीवो (Non Vergetta) मे पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क नही होते। समनस्क जीवो (Vergetta) के पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क होते हैं। फिर भी उनका विकास समान नही होता। ज्ञानावरण-विलय के तारतम्य के आधार पर वह तरतमता-युक्त होता है।

एक व्यक्ति जानता है। उसमे ज्ञान है। पर वह करने मे समर्थ नही है। अपने आपको अकर्मण्य पाता है। कर्मशास्त्र कहेगा—इसका भी कारण है। वह कारण है—अन्तराय कर्म का उदय। वह कर्म उस व्यक्ति की शक्ति को बाधित कर रहा है, उसे स्खलित कर रहा है। वह कर्म शक्ति का प्रतिघात कर रहा है। उसमे अवरोध उत्पन्न कर रहा है। वह उसकी कर्मजा शक्ति मे सहयोग नही दे रहा है, बाधा पहुचा रहा है।

दो प्रकार की क्षमता है—योग्यात्मक क्षमता और क्रियात्मक क्षमता। योग्यात्मक क्षमता आत्मा का गुण है। क्रियात्मक क्षमता आत्मा और शरीर के योग से निष्पन्न होती है। कर्मशास्त्र की भाषा मे योग्यात्मक क्षमता को 'लब्धि-वीर्य' और क्रियात्मक क्षमता को 'करणवीर्य' कहा जाता है। जिस व्यक्ति मे 'लब्धिवीर्य' नही होता, शक्ति का मूलत विकास ही नही होता, वह कुछ कर ही

नही पाता। वह कितना ही चाहे, कर नही सकता। जिस व्यक्ति मे लब्धिवीर्य है, किन्तु करणवीर्य नही है, क्रियात्मक क्षमता नहीं है तो शक्ति की उपलब्धि होने पर भी वह कुछ नही कर पाता। जिसमे दोनो हैं, वही व्यक्ति कुछ कर पाता है।

कर्मशास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण विन्दु को समझने के लिए हमे आत्मा और शरीर, मन और शरीर—दोनो के योग को ठीक से समझना होगा। मन का शरीर पर प्रभाव होता है और शरीर का मन पर प्रभाव होता है। आत्मा का शरीर पर प्रभाव होता है और शरीर का आत्मा पर प्रभाव होता है। केवल आत्मा या केवल शरीर से वे सारे कार्य नही हो सकते जो हमारे व्यक्तित्व की व्याख्या करने वाले होते है। केवल आत्मा से वे ही कार्य निष्पन्न होते है जो आत्मा के मूलभूत कार्य हैं। वे हैं—चैतन्य का पूर्ण विकास, आनन्द का पूर्ण विकास, शक्ति का पूर्ण विकास अर्थात् अनन्त चैतन्य, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति की प्राप्ति। वह चैतन्य जिसका एक कण भी आवृत नही होता, वह आनन्द जिसमे कभी विकार नही आता, जिसमे कभी शोक की लहर नही आती, वह अखण्ड आनन्द, अव्यावाध्य आनन्द, वह शक्ति जिसमे कोई बाधा नही होती, कोई स्खलना नही होती, कोई रुकावट नही होती। यह केवल आत्मा मे ही हो सकता हैं। किन्तु जहा शरीर है और शरीर के द्वारा जो चैतन्य प्रकट हो रहा है। वह अखड नही होगा। शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाला आनन्द भी अव्यावाध नही होगा। शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाली शक्ति भी अव्याहत नही होगी। माध्यम के द्वारा जो भी प्रकट होता है, वह कभी पूर्ण नही होता। माध्यम का अर्थ होता है—वैसाखी। अपने पैरो से चलने वाला व्यक्ति जिस शक्ति का अनुभव करता है, वैसाखी के सहारे चलने वाला व्यक्ति वैसी शक्ति का कभी अनुभव नही कर सकता। वैसाखी का सहारा तभी लेना पडता है, जब पैरो मे शक्ति की कमी होती है। यदि पैरो मे शक्ति पूरी हो तो वैसाखी निरर्थक है। मनुष्य माध्यम का सहारा तव लेता है जवकि पूरक की जरूरत होती है। आखो की शक्ति न्यून होती है, तव चश्मा लगाना पडता है। वह शक्ति का पूरक होता है। देखने की शक्ति न्यून न हो तो चश्मा आवश्यक नही होता, माध्यम की आवश्यकता नही होती।

आत्मा की अभिव्यक्ति का माध्यम है शरीर। शरीर के माध्यम से ही आत्मा की शक्तिया अभिव्यक्त होती हैं। चैतन्य की अभिव्यक्ति, आनन्द की अभिव्यक्ति, शक्ति की अभिव्यक्ति—ये सारी अभिव्यक्तिया शरीर के माध्यम से होती हैं।

चैतन्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं—इन्द्रिया, मन और बुद्धि। आनन्द की अभिव्यक्ति का माध्यम है—अनुभूति। शक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम है—शरीर। हाथ, पैर आदि सारे अवयव शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम है। इन्द्रिया भी शक्ति की अभिव्यक्ति के मार्ग हैं। शक्ति के विना कुछ भी नही होता। चैतन्य की अभिव्यक्ति भी शक्ति के विना नही हो सकती। आनन्द की

अभिव्यक्ति भी शक्ति के विना नही हो सकती। शक्ति का माध्यम सबके साथ जुडा हुआ है। सभी अभिव्यक्तियो का माध्यम है शरीर। इसीलिए मन से शरीर प्रभावित होता है और शरीर से मन प्रभावित होता है। चैतन्य का विकास हो गया, किन्तु इन्द्रिया ठीक नही हैं, इन्द्रियो का जो आकार बना है, इन्द्रियो के जो गोलक वने हैं, वे ठीक नही हैं, स्वस्थ नही है, तो चैतन्य की शक्ति काम नही आयेगी, उसका उपयोग नही हो पायेगा, जैसे-तैसे वह अनुपयोगी ही वनी रहेगी। आनन्द का विकास है, किन्तु अभिव्यक्ति का माध्यम ठीक नही है तो वह कार्यकर नही होगा। शरीर भी ठीक होना चाहिए, उसके अनुरूप होना चाहिए और इन्द्रियो के गोलक स्वस्थ और सक्षम होने चाहिए तभी उनमे शक्तिया अभिव्यक्त हो सकती हैं, अन्यथा नही। विजली का प्रवाह निरतर गतिशील है। यदि वल्ब ठीक है तो वह अभिव्यक्त हो जायेगी, प्रकाश फैल जायेगा। यदि वल्व ठीक नही है तो विजली रहते हुए भी उसमे अभिव्यक्त नही होगी, प्रकाश नही होगा, अधेरा नही मिटेगा। माध्यम ठीक होना चाहिए तभी अभिव्यक्ति हो सकती है।

हम यह विस्मृत न करे कि शरीर मन को प्रभावित करता है और मन शरीर को प्रभावित करता है। शरीर भी प्रभाव का निमित्त बनता है और मन भी प्रभाव का निमित्त बनता है। किन्तु निमित्त का मूलस्रोत है—कर्म।

कुछ मानते हैं कि परिस्थिति के कारण ऐसा होता है। किन्तु उसमे हमे अपवाद भी मिलते हैं। कई वार ऐसा अनुभव होता है कि वातावरण शान्त है, मन शान्त है, कही कुछ गडवड नही है, फिर भी मन मे अचानक उदासी छा जाती है, मन चिता से भर जाता है, वह शोकाकुल हो जाता है। कभी-कभी अचानक मन हर्ष से विभोर हो जाता है, मुसकराहट फूट पडती है। यह सव सकारण हो तो वात समझ मे आ सकती है। कोई हास्यास्पद घटना घटित हो और हमी आ जाये या चिता पैदा करने वाली घटना घटित हो और मन चिता से भर जाये, यह वात समझ मे आ सकती है। किन्तु अकारण ही मन मे हर्ष या विषाद पैदा हो, यह आश्चर्य मे डाल देती है। जव हर्ष, विषाद, चिता या शोक का कोई प्रत्यक्ष हेतु नही दीखता तव अचभा होता है। कर्मशास्त्र ने इन अहेतुक आवेगो पर भी विचार किया और समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि निमित्तो के मिलने पर या परिस्थितियो के होने पर हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं, किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जव भय-वेदनीय कर्म का प्रवल उदय होता है और वे कर्म-परमाणु इतनी प्रवलता से उदय मे आते है, शोक या चिता पैदा हो जाती है। जव शोक-वेदनीय-कर्म के परमाणु तीव्रता से उदय मे आते है, तव विना कारण ही मन मे शोक छा जाता है। क्रोध-वेदनीय के प्रवल उदय से अकारण ही व्यक्ति क्रोधित हो जाता है। इस प्रकार के क्रोध को 'अप्रतिष्ठित क्रोध' कहा गया है। अप्रतिष्ठित क्रोध का अर्थ है—अकारण उत्पन्न होने वाला क्रोध। उसकी कोई प्रतिष्ठा नही

है, कारण नही है, निमित्त नही है। उसका हेतु केवल कर्म के उदय की प्रवलता मात्र है। क्रोध-वेदनीय के परमाणु एक साथ इतनी प्रवलता से उदय मे आ गये कि व्यक्ति वैठे ही वैठे गुस्से मे आ गया। दैनदिन के जीवन मे हम ऐसी अवस्थाओ का अनुभव करते हैं।

सव कुछ सकारण ही नही होता, अकारण भी वहुत कुछ होता है। अनेकान्त की स्वीकृति के अनुसार प्रत्येक कार्य के पीछे वाह्य कारण की अनिवार्यता नही है। कहीं-कही कारण स्वगत भी होता है, अलग कारण नहीं भी होता। अर्थात् वहा कार्य और कारण दो नही होते। अचानक उभरने वाले क्रोध मे कोई वाहरी कारण नही होता, उसका कारण स्वय मे समाहित है। क्रोध-वेदनीय का उदय ही क्रोध का कारण है, अन्य कोई कारण नही है, कोई परिस्थिति नही है, कोई निमित्त नही है। ऐसा भी घटित होता है। कर्मशास्त्रीय व्याख्या के सन्दर्भ मे हम परिस्थितिवाद को सार्वभौम सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार नही कर सकते। यह निमित्त का अस्वीकार नही है, परिस्थिति का अस्वीकार नही है। जैसी परिस्थिति होती है, व्यक्ति वैसा ही वन जाता है। इस वात मे सचाई है, किन्तु पूरी सचाई नही है। जव हम सापेक्षवाद के आधार पर चितन करते हैं तो पूरी सचाई की वात किसी एक वात मे हो ही नही सकती। वह सव अपूर्ण सत्य है। परिस्थितिवाद मिथ्या नही है। कर्मवाद मे परिस्थिति का भी स्थान है, निमित्त का भी स्थान है। किन्तु परिस्थिति ही सव कुछ है या परिस्थिति ही व्यक्ति को निर्मित करती है या हमारा प्रत्येक आचरण या व्यवहार परिस्थिति से ही प्रभावित होकर घटित होता है—ऐसा मानना भ्रामक होगा। यदि परिस्थितिवाद की एकान्तत स्वीकृति होती है तो उसके चक्र को कभी तोडा नही जा सकता, वह कभी टूट नही सकता। वह आगे से आगे घूमता रहता है। एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इस परिस्थिति के चक्र को नही तोडा जा सकता तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है ? यह भी तो एक चक्र है। क्योकि प्रत्येक घटना के पीछे यदि कर्म का हाथ है और हर घटना कर्म के द्वारा ही प्रभावित होती है या प्रभावित होकर ही घटित होती है तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोडा जा सकता है।

कर्म की स्वीकृति भी एकान्तिक नही है। सव कुछ कर्म से ही घटित होता है, या यह स्वीकृति उचित नही है। सव कुछ कर्म से नही होता। कुछ ऐसी भी स्थितिया हैं, जो कर्म से प्रभावित नही भी होती। व्यक्ति का पूरा व्यक्तित्व कर्म से प्रभावित नहीं होता। ऐसी अनेक घटनाए घटित होती हैं, जो कर्म से प्रभावित नही होती।

एक व्यक्ति अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि है। उसका मिथ्यादर्शन अनादि है। वह प्रत्येक तत्त्व को मिथ्यादृष्टि से देखता है। सत्य के प्रति उसकी दृष्टि सही नहीं है। जव अनादिकाल से ऐसा हो रहा है तो वह मिथ्यात्व के चक्र को कैसे

तोड पायेगा ? किन्तु आत्मा मे एक ऐसी शक्ति है, जो पूर्णरूपेण कर्म से कभी प्रभावित नही होती। यदि कर्म का पूरा साम्राज्य भी हो जाये तो भी वह उसे कभी मिटा नही सकता। उसे तोड नही पाता। कर्म का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य इसीलिए स्थापित होता है और तब तक चलता है, जब तक कि आत्मा अपनी शक्ति के प्रति जागृत न हो जाये, जानने का क्षण प्राप्त न हो जाये।

किसी भी राष्ट्र मे विदेशी शासन तब तक चलता है, जब तक उस देश या राष्ट्र की जनता जागृत नही हो जाती। दुनिया के किसी भी राष्ट्र के इतिहास मे यही हुआ है। विदेशी शासको ने तब तक शासन किया जब तक कि वहा की जनता जाग न गयी या वहा की जनता को जगाने वाला कोई व्यक्ति उपलब्ध नही हो गया। जिस क्षण जनता जाग जाती है या जगाने वाला व्यक्ति, प्राण फूकने वाला व्यक्ति प्राप्त हो जाता है तब विदेशी शासन चल नही सकता, उसकी जड़ें हिल जाती हैं, उसे अपनी सत्ता समेट लेनी पडती है।

काल की भी एक शक्ति है जो कर्म से प्रभावित नही होती। एक काल आता है, एक समय आता है, एक क्षण ऐसा आता है कि उस क्षण मे, काललब्धि के कारण आत्मा सहज रूप से जाग जाती है। उसमे अपने अस्तित्व के प्रति जागरूकता का भाव आ जाता है। उस क्षण मे मिथ्यात्व का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य पहली बार हिल उठता है और धीरे-धीरे उसकी जड़ें टूटने लगती है।

यदि सब कुछ ही कर्म के द्वारा निष्पन्न होता, कर्म की पूर्ण सत्ता होती, कर्म का सार्वभौम साम्राज्य होता तो कभी इस चक्र को नही तोडा जा सकता। हम इस बात को याद रखें कि यदि सब कुछ परिस्थिति के द्वारा नही होता है तो सब कुछ कर्म के द्वारा भी नही होता। इस दुनिया मे किसी को अखड साम्राज्य या एकछत्र शासन प्राप्त नही है। सबके लिए अवकाश है। काललब्धि को भी अवकाश है। इसी काललब्धि के द्वारा कुछ विशिष्ट घटनाए घटित होती हैं।

हम एक घटना को समझें। यह घटना है—वनस्पति जीवो के अक्षय-कोष से निकलकर विकासशील जगत् मे आना। प्राणि-जगत् की दो राशिया हैं—एक है व्यवहार-राशि और दूसरी है अव्यवहार-राशि। अव्यवहार-राशि वनस्पति का वह खजाना है, जो कभी समाप्त नही होता। उसमे अनन्त-अनन्त जीव रहते हैं। यह जो दृश्य जगत् है, इसमे जितने भी जीव आते हैं, वे सब अव्यवहार-राशि से निकलकर आते हैं। अव्यवहार-राशि सूक्ष्म जीवो की राशि है। यह अक्षय कोष है। यह कभी समाप्त नही होता। अनन्त काल मे भी समाप्त नहीं होता।

दूसरी राशि है—व्यवहार-राशि। यह स्थूल प्राणियो का जगत् है। जो कोई भी जीव मुक्त होता है, वह व्यवहार-राशि से मुक्त होता है। अव्यवहार-राशि मे पडा हुआ जीव कभी मुक्त नही होता। वहा से कोई मुक्ति की ओर नही जाता। मुक्त होने के लिए उसे व्यवहार-राशि मे आना पडता है। हमारे चैतन्य का

अविकसित चैतन्य की भूमिका से आध्यात्मिक चेतना की विकसित भूमिका मे नही आता।

यदि कर्म ही सब कुछ होता तो प्राणी बधन को तोडकर कभी मुक्त नही होता।

कर्म ही सब कुछ नही है। कर्म के अतिरिक्त भी अनेक तथ्य हैं, जो अपनी-अपनी सीमा मे कार्यकारी होते हैं।

अव्यवहार-राशि से व्यवहार-राशि मे आना, अविकास से विकास की ओर बढना, चैतन्य की अविकसित भूमिका से ऊर्ध्वारोहण कर विकसित चैतन्य की भूमिका को प्राप्त करना, बधन को तोडकर मुक्ति की ओर अग्रसर होना, आवरण से अनावरण की ओर बढना, परतत्रता की वेडियो को तोडकर स्वतत्रता को प्राप्त करना, तभी सभव है जब काललब्धि का पूरा परिपाक हो जाता है। अन्यथा प्रश्न ज्यो-का-त्यो खडा रह जाता है कि जब सौ व्यक्ति मुक्त हो सकते हैं तो सब मुक्त क्यो नही हो सकते ? सब मुक्त हो सकते हैं। मुक्त होने का सबको अधिकार है। किन्तु सब मुक्त नही हो सकते। जिनकी काललब्धि पक चुकी है, वे ही मुक्त हो पाते हैं। शेष काललब्धि के परिपाक की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इसमे सब कुछ पुरुषार्थ से होता है, ऐसा भी नही। सब कुछ कर्म से होता है, ऐसा भी नही।

कर्म का एकछत्र साम्राज्य नही है, इसीलिए कर्म के व्यूह को तोडा जा सकता है। मोह का भी एकछत्र साम्राज्य नहीं है, इसीलिए मोह के चक्रव्यूह को भी तोडा जा सकता है।

हमारे जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है—मोह कर्म। एक अज्ञान और एक मोह—ये प्रभावक तथ्य हैं जीवन के। ज्ञानावरण कर्म के कारण हम सही जान नही पाते। अन्तराय कर्म के कारण हम शक्ति का उपयोग नही कर पाते और दर्शनावरण कर्म के कारण सही नही देख पाते। मोह कर्म के कारण जानते हुए भी, देखते हुए भी, शक्ति और सामर्थ्य का उपयोग करते हुए भी सही-सही आचरण नहीं कर पाते।

दृष्टि मे कोई विकार उत्पन्न करता है तो वह मोह कर्म करता है। आचरण की विकृति मोह कर्म के कारण होती है। मोह कर्म केन्द्रिय कर्म है। आगम सूत्रो मे इसे सेनापति की सज्ञा दी गयी है। जैसे सेनापति के मर जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोह कर्म के नष्ट हो जाने पर शेष सारे कर्म टूट जाते हैं। मोह को सहयोग देने वाले दो तथ्य हैं। एक है—ममकार और दूसरा है अहकार। ये दो सेनानी हैं।

अनात्मीय वस्तुओ मे आत्मीयता का अभिनिवेश ममकार है। जो आत्मीय नहीं है, उसमें आत्मीयता का भाव रखना ममकार है। जैसे—शरीर मेरा, पिता

मेरा, माता मेरी. भाई मेरा, वहन मेरी, पत्नी मेरी, पुत्र मेरा। सवसे पहले ममकार होता है, शरीर के प्रति। यह सवसे निकट का है। फिर पिता, माता आदि के प्रति ममकार होता है। यह दूसरे नवर मे है। तीसरे मे घर मेरा, नौकर मेरा, धन मेरा, हाथी मेरा, ऊट मेरा, घोडा मेरा। इनमे ममकार होता है। फिर यह ममकार वढते-वढते इतना वढ जाता है, इसकी सीमा इतनी विस्तृत हो जाती है कि इसमे हजारो-हजारो वस्तुए आ जाती है। सीमा के विस्तार का कही अत नही आता।

कर्म आदि कारणो से प्राप्त अवस्थाओ को 'मैं' मान लेना अहकार है। जो 'मैं' नही है, आत्मा नही है, उसे आत्मा मान लेना अहकार है। जैसे अनात्मीय को आत्मीय मान लेना 'ममकार' है, वैसे ही अनात्म को आत्म मान लेना 'अहकार' है। जैसे—मैं धनी हू। अव धन कौन और मैं कौन ? जो आत्मीय नही, उसे आत्मीय मान लिया। ये सारी अवस्थाए वैभाविक हैं, अनेक कारणो से उत्पन्न हैं। हम कभी कहते हैं—'मैं रोगी हू' और कभी कहते हैं—'मैं स्वस्थ हू।' यह रोगी होना भी 'मैं' नही है और स्वस्थ होना भी 'मैं' नही है। प्रसन्न होना भी 'मैं' नही है और नाराज होना भी 'मैं' नही है। मैं धनी हू, मैं निर्धन हू, मैं प्रसन्न हू, मैं अप्रसन्न हू, मैं सुखी हू, मैं दुखी हूं, मैं वडा हू, मैं छोटा हू—ये सव अहकार है। आत्मा जो है, वह न वडा है और न छोटा। न रोगी है और न स्वस्थ। न प्रसन्न है और न अप्रसन्न। न सुखी है और न दुखी। फिर भी अहकार के कारण ये सव कुछ आरोपण चलते हैं। दृष्टिकोण और आचरण—दोनो मे विकृति के वीज अकुरित होते रहते हैं।

जितना विकास होता है, वह व्यवहार-राशि मे ही होता है। अव्यवहार-राशि मे किसी का विकास नही होता। वहा केवल एक इन्द्रिय, एकमात्र स्पर्शनेन्दिय होती है। वे सब वनस्पति के जीव हैं। यह वनस्पति के जीवो का अनन्त कोष है। इससे जीव निकलते हैं पर यह कभी खाली नही होता। यहा केवल एक इन्द्रिय की चेतना का विकास होता है। आगे विकास नही होता। न मन का विकास, न अन्य इन्द्रियो का विकास और न बुद्धि का विकास। कोई विकास नही। केवल स्पर्शन इन्द्रिय—त्वचा का विकास, प्रगाढ मूर्च्छा, प्रगाढ निद्रा। जो चैतन्य प्राप्त है, उसका सूचक है स्पर्शन इन्द्रिय और कुछ भी नही।

इस अव्यवहार-राशि से कुछ जीव व्यवहार-राशि मे आते रहते हैं। क्यो आते हैं—यह एक प्रश्न है ? यदि कर्म ही सब कुछ होता तो वे वहा से निकल ही नही पाते। किन्तु काललब्धि, काल की शक्ति के आधार पर वे वहा से निकलकर व्यवहार-राशि मे आ जाते है। काल की शक्ति असीम होती है। उसी शक्ति के आधार पर वे वहा से निकलते हैं। यदि कर्म के आधार पर निकलते तो जैसे दस जीव निकलते हैं, वैसे ही सौ-हज़ार जीव भी निकल आते। लाख और करोड भी निकल आते। अनन्त भी निकल आते। किन्तु वे कर्म की शक्ति से नही निकलते। वे निकलते हैं काल की शक्ति से, काललब्धि से।

व्यवहार-राशि के जीवो की भी दो श्रेणिया हैं—एक है कृष्णपक्ष और दूसरी है शुक्लपक्ष। कुछ जीव हैं कृष्णपक्ष वाले और कुछ जीव हैं शुक्लपक्ष वाले। जैसे चन्द्रमा के दो पक्ष होते हैं—कृष्ण और शुक्ल, काला और सफेद, वैसे ही हमारे जीवन के भी दो पक्ष हैं—कृष्ण और शुक्ल, काला और सफेद। कृष्णपक्ष हमारे अनिष्ट कर्मो का सूचक है, अनिष्ट वातावरण का सूचक है, तामस वृत्तियो का सूचक है। शुक्लपक्ष हमारे विकास का सूचक है, बधनमुक्ति की ओर अग्रसर होने का सूचक है।

जो व्यक्ति कृष्णपक्ष मे है, वह आध्यात्मिक विकास नही कर सकता। आध्यात्मिक विकास वही व्यक्ति कर सकता है, जो शुक्लपक्ष मे है। उसका जो वातावरण है, उसकी जो ओरा (Aura) है, आभा-मडल है, पर्यावरण है, वह शुक्ल हो जाता है। उस व्यक्ति के आसपास शुक्लता का वातावरण छा जाता है। वह व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर बढता है। उसका विकास प्रारम्भ हो जाता है।

एक प्रश्न उभरता है कि कोई भी जीव कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष मे क्यो आता है ? कैसे आता है ? इसका कोई हेतु नहीं है। कर्म एकमात्र कारण नही है। कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष मे आने का हेतु है—काललब्धि। काल की शक्ति से ऐसा होता है।

जैसे परिस्थिति की एक शक्ति है, वैसे ही काल की भी शक्ति है। इसी

प्रकार स्वभाव की भी एक शक्ति होती है। आध्यात्मिक विकास के वीज प्रत्येक जीव मे विद्यमान हैं। किन्तु कुछ जीव ऐसे होते हैं, जिनमे आध्यात्मिक विकास का स्वभाव ही नही होता। उनमे चैतन्य तो होता है, चैतन्य के विशिष्ट विकास की क्षमता उनमे नही होती। आप पूछ सकते हैं कि क्यो नही होती? इसका कोई उत्तर नही दिया जा सकता। कर्मशास्त्र की व्याख्या मे इसका कोई समाधान नही है। इसका एक ही उत्तर हो सकता है, एक ही समाधान हो सकता है कि उन जीवो का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे चैतन्य का विकास नही कर पाते। उसमे चैतन्य का विकास नही होता। यह स्वभाव की शक्ति का उदाहरण है। जैसे काल की अपनी शक्ति है, वैसे ही स्वभाव की अपनी शक्ति है। जैसे परिस्थिति की अपनी शक्ति है, वैसे ही कर्म की अपनी शक्ति है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्म का सार्वभौम साम्राज्य नही है। हम इस धारणा को निकाल दें कि जो कुछ होता है, वह सव कर्म से ही होता है। कर्म की ही सार्वभौमता स्वीकार करना मिथ्या दृष्टिकोण है। सच यह है कि सव कुछ कर्म से नही होता। जो घटनाएं कर्म से होने योग्य होती हैं, कर्म की सीमा मे आती हैं, वे ही कर्म के द्वारा घटित होती हैं। सव घटनाए कर्म के द्वारा घटित नहीं होती। आज एक ऐसा स्वर चल पडा है कि भई! क्या करें, ऐसे ही कर्म किये थे, कर्म का ऐसा ही योग था।' हर घटित घटना के लिए, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, अच्छी हो या वुरी, हम यही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि कर्म के कारण ही ऐसा घटित हुआ है, कर्म का ही प्रताप है, प्रभाव है, अन्यथा ऐसा नही होता। यह भ्रान्ति है, वहुत वडा भ्रम है। हम एकाधिकार किसी के हाथ मे न सौंपें। प्रकृति के साम्राज्य मे अधिनायकतावाद नही है। जागतिक नियम मे कोई अधिनायक नही होता। कोई अधिनियन्ता नही होता। वहा किसी को एकाधिकार प्राप्त नही है। कुछ शक्तिया काल मे निहित हैं, कुछ स्वभाव मे, कुछ परिस्थिति मे और कुछ कर्म मे। कुछ शक्तिया हमारे अपने पुरुषार्थ मे निहित हैं। इस पुरुपार्थ मे कर्म को वदल देने की भी शक्ति होती है। हमारी शक्ति का प्रतीक है पुरुपार्थ। हमारी क्षमता का प्रतीक है पुरुपार्थ। हम इसके द्वारा कर्म को भी वदल डालते हैं। कर्मशास्त्र का यह भी एक नियम है कि कर्मो को वदला जा सकता है। एकाधिकार किसी को प्राप्त नही है। यहा सवका मिला-जुला अधिकार है। एकाधिकार नही, वटा हुआ है सारा अधिकार। विभक्त है अधिकार।

यदि कर्म ही सव कुछ होता, कर्म को ही एकाधिकार प्राप्त होता तो कोई भी प्राणी अव्यवहार-राशि मे व्यवहार-राशि मे नही आता, अविकसित प्राणियो की श्रेणी मे विकसित प्राणियो की श्रेणी मे नही आता।

यदि कर्म ही सव कुछ होता तो साधना की अयोग्य स्थिति से या अपनी

१४

आवेग : उप-आवेग

- आवेग और उप-आवेग।
- आवेग की चार स्थितिया—तीव्रतम, तीव्रतर, मद और मदतर।
- चारो अवस्थाओ के क्षय से वीतरागता की प्राप्ति। दो मार्ग—
  पहला है मोह की प्रवलता का—आध्यात्मिक चेतना मूर्च्छित।
  दूसरा है मोह के विलय का—आध्यात्मिक चेतना विकसित।



मानसशास्त्र के अनुसार आवेग छह हैं—भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम और घृणा। आवेगो का जीवन मे वहुत वडा प्रभाव है। सारे मानवीय आचरणो का व्याख्या आवेगो के आधार पर की जाती है। किस प्रकार के आवेग मे किस प्रकार की स्थिति वनती है, यह स्पष्ट है। एक व्यक्ति का मुक्का उठा और हमने समझ लिया कि वह गुस्से मे है। आवेग के आते ही एक प्रकार की स्थिति वनती है, अनुभूति होती है। उसका प्रभाव स्नायु-तत्र पर पडता है, पेशियो पर होता है। एक प्रकार की उत्तेजना पैदा हो जाती है। उत्तेजना के अनुरूप सक्रियता आ जाती है। पेशिया उसी के अनुसार काम करने लग जाती हैं। आवेग का प्रभाव हमारे स्नायु-तत्र पर, पेशियो पर, रक्त पर और रक्त के प्रवाह पर, फेफडो पर, हृदय की गति पर, श्वास पर और ग्रथियो पर होता है।

भय का आवेग आते ही स्नायविक तरग उठती है। वह मस्तिष्क तक उस

सदेश को ले जाती है। उत्तेजना पैदा हो जाती है। वह पाचन-संस्थान को भी प्रभावित करती है। पाचन अस्त-व्यस्त हो जाता है। उत्तेजना मासपेशियो तक पहुचती है। वे सक्रिय हो जाती हैं। एड्रिनल ग्रथि का स्राव अधिक होता है, उसके कारण व्यक्ति मे कुछ साहसिक कार्य करने की क्षमता जागृत हो जाती है। वह साहसिक बनकर प्रहार करने की स्थिति मे आ जाता है। यह सारा शारीरिक परिवर्तन आवेग के कारण होता है और फिर बाहर से उसके लक्षण भी दिखाई देने लग जाते हैं। जिनके आधार पर हम समझ सकते हैं कि व्यक्ति भयभीत है, क्रोधी है। आवेगो के कारण शारीरिक क्रियाओ मे रासायनिक परिवर्तन, शारीरिक लक्षणो मे परिवर्तन और अनुभूति मे परिवर्तन होता है। इन सारी बातो के साथ एक बात और जोड दें कर्मशास्त्र की। आवेगो के कारण बहुत सारी बातें होती हैं। इसके साथ एक बात पहले जोड दें और एक बात पीछे जोड दें। पहले यह जोडें कि भय परिस्थिति से उत्पन्न नही है, परिस्थिति से उद्भूत है। उत्पन्न होना अलग बात है और उद्भूत होना अलग बात है। परिस्थिति से भय उद्भूत हुआ, जागृत हुआ, जो सोया हुआ था, वह जाग उठा। किंतु वह उत्पन्न हुआ है मोह के कारण। भय भय-वेदनीय-मोह के कारण उत्पन्न होता है। उस व्यक्ति मे ऐसे परमाणु संचित हैं जो किसी निमित्त का सहारा पाकर उत्पन्न हो जाते हैं। यह पहले जोडने वाली बात है। एक बात बाद मे जोडें। जो डरता है, जो भयभीत है, वह भय के कारण केवल शारीरिक या मानसिक परिवर्तन ही नही करता, किंतु दूसरे परमाणुओ का सग्रह भी करने लग जाता है और इतने परमाणु सगृहीत कर लेता है जो मोह को और अधिक पोषण देते हैं।

कर्मशास्त्र मे मोहनीय कर्म के चार आवेग माने है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हे 'कषाय-चतुष्टयी' कहा जाता है। ये चार मुख्य आवेग है। कुछ उप-आवेग हैं। उनकी सख्या सात या नौ है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद। ये सात या वेद को स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद मे हम विभक्त करें तो उप-आवेग नौ हो जाते है। इन्हे 'नौ-कषाय' कहा जाता है। ये पूरे कषाय नही हैं। कषायो के कारण होने वाले 'नौ-कषाय' हैं, मूल आवेगो के कारण होने वाले उप-आवेग हैं।

ईर्ष्या करना, आदर देना आदि-आदि आवेग हैं या नही—यह प्रश्न होता है? कर्मशास्त्र मे भी ये आवेग के रूप मे स्वीकृत नही हैं। मानसशास्त्र मे भी ये आवेग नही माने गये हैं। मानसशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार ईर्ष्या आदि मूल आवेग नही हैं। ये सम्मिश्रण है। मिश्रित आवेग हैं। इनमे अनेक आवेगो का एक साथ मिश्रण हो जाता है। ये मूल नहीं है। कर्मशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार भी ये मिश्रित है, मूल नही हैं। उसके अनुसार मूल आवेग चार और उप-आवेग सात या नौ हैं।

उप-आवेग क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे तीव्र नही है। इनमे भी वहुत तारतम्य है। यह मोह-परिवार ही हमारी दृष्टि को प्रभावित करता है, हमारे चारित्र को प्रभावित करता है। जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। जैसा दृष्टिकोण, वैसा आचार। आचार का और दृष्टिकोण का गहरा सवध है। दृष्टिकोण विकृत होता है तो आचार विकृत होता है। दृष्टिकोण सम्यक् होता है तो आचार सम्यक् होता है। उसके सम्यक् होने की अधिक सभावना होती है। ऐसा तो नही है कि दृष्टिकोण के सम्यक् होने के साथ ही साथ सारा-का-सारा आचार सम्यक् हो जाए। आचार का क्रमिक विकास होता है। पहले दृष्टिकोण सम्यक् होगा, फिर आचार सम्यक् होगा।

जो भौतिक जीवन जीना पसद करते है, वे केवल वौद्धिक विकास की चिंता करते हैं और वे वौद्धिक विकास को ही सर्वोपरि मानते हैं। जो आध्यात्मिक जीवन जीना पसद करते है, वे आध्यात्मिक चेतना के विकास की चिंता करते हैं। वे वौद्धिक विकास को आवश्यक मानते हुए भी उसे सर्वोपरि नही मानते। जब तक आध्यात्मिक चेतना का विकास नही हो जाता, तव तक जीवन का परम साध्य उपलब्ध नही होता, उसे प्राप्त नही किया जा सकता।

हम देखते हैं, कुछ वडे-वडे विद्वान् हैं पर वे वहुत ही अशान्त है। वे प्रताडित और धधकता हुआ-सा जीवन जीते हैं। वे ज्ञानी है। ज्ञान होने पर भी उनका मन शान्त नही है, उनके पास समस्याओ का समाधान नही है। यह क्यो? इसका एकमात्र हेतु है कि उनमे विद्या का विकास तो हो गया, किंतु आध्यात्मिक चेतना का विकास नही हुआ। उनमे केवल वौद्धिक चेतना विकसित है। जव केवल वौद्धिक चेतना का विकास होता है और आध्यात्मिक चेतना का विकास नही होता तो समझ लेना चाहिए वह जीवन के लिए वहुत वडा खतरा है। यह सकट का और भय का सवसे वडा विंदु है।

वौद्धिक चेतना के विकास का सवंध है मस्तिष्क से। मस्तिष्क की शक्तिया प्रखर होती है, तव वौद्धिक क्षमताए जाग जाती हैं। कर्मशास्त्र की भाषा मे वौद्धिकता का विकास ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। ज्ञान का आवरण जितना हटता है, उतनी ही वौद्धिक क्षमताए विकसित होती हैं। आध्यात्मिक चेतना का विकास होता है मोह कर्म के विलय से। कर्मशास्त्र की भाषा मे कहा जाता है कि जव मोह कर्म उपशान्त होता है, क्षीण होता है, तव आध्यात्मिक चेतना का विकास होता है। आध्यात्मिक विकास की पूरी गाथा मोह के विलय मे जुडी हुई है। मोह प्रवल है तो आध्यात्मिक चेतना का विकास नही हो सकता, चाहे फिर वह कितना ही वडा विद्वान् वन जाये, वैज्ञानिक वन जाये या और कुछ वन जाये।

वडे-वडे वौद्धिक लोग भी आत्महत्या कर अपनी प्रखर वौद्धिक जीवन-लीला

को समाप्त कर देते है। उनमे अन्तर्द्वन्द्व होता है। वे उसको समाहित नही कर पाते। जो मानसिक समस्याए एक सामान्य मनुष्य मे होती है, वे सारी-की-सारी एक वडे-से-वडे वौद्धिक मे हो सकती है। वे समस्याए उसको इसलिए प्रताडित करती हैं, इसलिए आत्महत्या करने का वाध्य करती हैं कि उनमे वौद्धिक चेतना का तो पूर्णरूपेण विकास होता है, किंतु आध्यात्मिक चेतना सुषुप्त है, विकसित नही है, जागृत नही है। जव तक आध्यात्मिक चेतना का जागरण नही हो जाता, तव तक समस्याओ के व्यूह को नही तोडा जा सकता। उनके प्रवाह को नही रोका जा सकता।

वौद्धिक और आध्यात्मिक, इन दोनो के विकास का हमारे जीवन मे एक पूरा वृत्त वनता है। दोनो का समन्वय होना चाहिए। इन दोनो की समन्विति ही जीवन का सर्वोच्च विकास है। आध्यात्मिक चेतना के विकास के लिए मोह को समझना ज़रूरी है।

मोह का मूल है—राग और द्वेष। राग और द्वेष के द्वारा एक चक्र घूम रहा है। वह चक्र है आवेग और उप-आवेग का। राग और द्वेष है, इसीलिए क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार मूल आवेग उत्पन्न होते हैं। राग और द्वेष है, इसीलिए हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा (घृणा), काम-वासना—ये सारे उप-आवेग उत्पन्न होते हैं। इन सवके मूल मे राग और द्वेष है। आवेगो की पृष्ठभूमि मे ये दो अनुभूतिया काम करती है। जव तक ये अनुभूतिया हैं, तव तक आवेग और उप-आवेग की उत्पत्ति को नही रोका जा सकता। यह चक्र घूमता रहता है। कभी कोई आवेग उत्पन्न हो जाता है तो कभी कोई आवेग। यह सच है कि परिस्थितिया भी इनकी उत्पत्ति मे निमित्त वनती हैं, वातावरण भी निमित्त वनता है। आवेगो की तरतमता समूचे आध्यात्मिक चेतना के विकास का वोध-चक्र है। कषाय-चतुष्टयी—क्रोध, मान, माया और लोभ के तारतम्य का पहला प्रकार है—अनन्तानुवधी। अनन्तानुवधी अनन्त अनुवध करता है, इतनी सतति पैदा करता है कि जिसका अत नहीं होता। संतति के वाद सतति। यह क्रम टूटता ही नही या मुश्किल से टूटता है। जिस आवेग मे सतति की निरतरता होती है या जिसमे सतति को पैदा करने की अटूट क्षमता होती है, वह अनतानुवधी होता है। कभी ऐसा होता है कि एक घटना घटती है। उसका असर होता है और वात समाप्त हो जाती है। कभी ऐसा भी होता है कि घटना घटित हुई, मन मे विचार आया और उस विचार का सिलसिला इतना लम्वा हो गया कि उस मूल विचार से अनेक-अनेक छोटे-वडे विचार उत्पन्न होते गये। एक के वाद एक विचार आते रहे। उनकी शृखला नही टूटी। वह पहला विचार इतनी वडी सतति पैदा करता जाता है कि वह कभी समाप्त ही नही होता। यह अनन्तानुवधी है।

वहुत सारे कीटाणु ऐसे होते है, जिनकी सतति इतनी वढ जाती है कि जाल

फैल जाता है। वह जाल वहुत वडा होता है। वे कीटाणु सतति पैदा करते ही चले जाते हैं। कही रुकते ही नही।

इसी प्रकार जिस आवेग की सतति आगे से आगे वढती चली जाती है, वह तीव्रतम आवेग हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित करता है। जव तक वह आवेग होता है, तव तक दृष्टिकोण सम्यक् नही होता। क्योकि मूर्च्छा इतनी सघन होती है कि एक मूर्च्छा दूसरी मूर्च्छा को, दूसरी मूर्च्छा तीसरी मूर्च्छा को और तीसरी मूर्च्छा चौथी मूर्च्छा को उत्पन्न करती चली जाती है। इसका कही अत नही आता। सम्यक् देखने का हमे अवसर ही नही मिलता। एक के वाद दूसरी गलती, गलतियो को दोहराते चले जाते हैं और दृष्टि मे भ्रम छाया का छाया रहता है। यह प्रखरतम आवेग हमारी दृष्टि को विकृत करता है।

यह ग्रथिपात का क्रम है। मनोविज्ञान की भाषा मे कहा जाता है कि जव आवेग प्रवल होता है, तव ग्रथिपात होता है। यह आवेग आने के वाद जाता नही। जव क्रोध अनतानुवधी की कोटि का होता है, तव वह सहजता से नही जाता। वह चट्टान की दरार जैसे होता है। चट्टान मे दरार पड गयी, वह फिर मिटती नही। अमिट वन जाती है। एक रेखा वालू पर खीची जाती है और एक रेखा पानी पर खीची जाती है। पानी की रेखा तत्काल मिट जाती है, मिट्टी की रेखा कठिनाई से मिटती है, फिर भी वह चट्टान की दरार की भाति कठिन नही होती। आवेग की भी ये चार स्थितिया, अवस्थाए होती हैं। तीव्रतम, तीव्रतर, मद और मदतर। कर्मशास्त्र की भाषा मे इनके चार नाम है—

तीव्रतम—अनन्तानुवधी
तीव्रतर—अप्रत्याख्यानी
मद —प्रत्याख्यानी
मदतर —सज्वलन।

प्रथम कोटि का आवेग दृढतम होता है। उस स्थिति मे राग-द्वेष की गाठ इतनी कठोर होती है कि सम्यक्दृष्टि प्राप्त नही होती। सत्य को सत्य के रूप मे स्वीकार करने की तैयारी नही होती। उसके उदय से भौतिक जीवन इतना मूर्च्छामय, इतनी प्रगाढ निद्रामय हो जाना है कि व्यक्ति सत्य को देखने का प्रयत्न ही नही करता, जागृति के विन्दु पर पहुचने का प्रयत्न ही नही कर पाता। जीवन मे केवल मूर्च्छा ही मूर्च्छा व्याप्त रहती है। दृष्टि मूर्च्छित रहती है। यथार्थ हाथ नही लगता। निदियाई आखो से आदमी ठीक देख नही पाता, नशे मे आदमी देख नही पाता, उसे यथार्थ का वोध नही होता, क्योकि वह मत्त है, सुप्त है। जव तक आवेग की यह अवस्था वनी रहती है, राग-द्वेष की तीव्र ग्रंथि होती है, तव तक सत्य का दर्शन नहीं होता। सम्यक् दर्शन उसे प्राप्त नही होता। वह मिथ्यादृष्टि होता है। उसका दर्शन मिथ्या होता है। तत्त्व का विपर्यय होता

है। जीवन मे सारा विपर्यय ही विपर्यय होता है। इस तीव्र आवेग की ऐसी रासायनिक प्रक्रिया होती है कि वह व्यक्ति के चिंतन-मनन को विकृत कर देती है। चिंतन-मनन विपर्यस्त हो जाता है। जब उस आवेग की तीव्रता कम होती है, उसका परिशोधन होता है, उसका तनुभाव होता है, वह क्षीण होता है तब दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यान) प्राप्त होती है।

अनन्तानुबधी अवस्था का विलय होते ही दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है। यह साधना की पहली भूमिका है। यह आध्यात्मिक चेतना के विकास की पहली भूमिका है। कर्मशास्त्र की भाषा मे इस भूमिका का नाम है—सम्यक्दृष्टि गुण-स्थान। यह सत्य को सत्य जानने की भूमिका है। यहा अतत्त्व मे तत्त्व की बुद्धि नही रहती। असत्य मे सत्य का भाव नही रहता। व्यक्ति जो जैसा है, उसे वैसा जानने लग जाता है। उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है। सत्य उपलब्ध हो जाता है।

आवेग की दूसरी अवस्था विद्यमान रहती है तब आध्यात्मिक चेतना के विकास के लिए जिस प्यास को बुझाना चाहिए, जिस प्यास से दूर रहना चाहिए, जो प्यास बुझ जानी चाहिए, जो अनन्त आकाक्षा, अनन्त प्यास है, वह बुझती नही। बोध यथार्थ हो जाता है कि यह प्यास है और ऐसी प्यास है जो बुझती नही। कितना ही पीओ, वह नही बुझेगी। जितना पीते हैं, उतनी ही वह प्यास प्रज्ज्वलित होती रहती है। बुझती नही। बुझाने का मार्ग प्राप्त नही है। क्योंकि आवेग की दूसरी अवस्था विद्यमान है। वह पथ प्राप्त नही करने देती। उससे प्रभावित होकर व्यक्ति प्यास बुझाने के मार्ग को स्वीकार ही नही करता। आवेग की यह ग्रन्थि उसे वैसा करने नही देती। उस ग्रन्थि का ऐसा स्राव होता है, जो उस प्यास को बुझाने के रास्ते पर मनुष्य को चलने ही नही देता। चेतना ऐसी बन जाती है कि व्यक्ति जानते हुए भी कर नही पाता।

कई बार हम लोगो को यह कहते हुए सुनते है कि वह मार्ग बहुत अच्छा है। पर हम चल नही सकते। ध्यान बहुत अच्छा है, पर हम उसे कर नही पाते। निकम्मा कौन बैठे ? काम बहुत है। व्यस्तता बहुत है। इच्छा ही नही होती कि ध्यान किया जाये। कभी इच्छा नहीं होती कि साधना की जाये, थोडी-सी निवृत्ति की जाये। यद्यपि ध्यान भी एक प्रवृत्ति है, साधना भी एक प्रवृत्ति है, फिर भी उसमे मन नही लगता। मन उसी प्रवृत्ति मे लगता है, जिसको हम रात-दिन करते आ रहे हैं। यह भी सकारण होता है। इसका मूल कारण है—दूसरे आवेग की विद्यमानता। जैसे-जैसे आध्यात्मिक चेतना का क्रम बढता है, वह दूसरा आवेग घुलता जाता है, उसका शोधन होता जाता है, तब व्यक्ति मे विरति की ओर बढने की भावना होती है। इस आवेग का नाम है—अप्रत्याख्यान।

पहला आवेग टूटता है। तब भेदज्ञान की उपलब्धि होती है। मैं शरीर से

भिन्न हू, मैं शरीर नही हूं—यह बोध स्पष्ट हो जाता है। मैं शरीर हूं—यह अस्मिता है। अस्मिता एक क्लेश है। भेदज्ञान होते ही अस्मिता मिट जाती है, क्लेश मिट जाता है। इसके मिटते ही दूसरा सस्कार निर्मित हो जाता है। 'मैं शरीर नही हू', 'मैं शरीर नही हू', 'मैं शरीर से भिन्न हू'—यह भी एक सस्कार है। यह प्रतिप्रसव है, अर्थात् उस सस्कार को मिटाने वाला सस्कार है। शरीर के साथ अभेदानुभूति, 'अहमेव देहोस्मि' का जो भाव है, मैं शरीर हू, मैं देह हू—यह जो भाव है, यह मिथ्या दृष्टिकोण है। वह समाप्त हो जाता है। उसे समाप्त करने के लिए दूसरे सस्कार का निर्माण करना होता है। 'मैं शरीर नही हू'—यह प्रतिप्रसव है, प्रतिपक्ष का सस्कार है।

जैसे ही आवेग की दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यानावरण) उपशान्त या क्षीण होती है, तब उस रास्ते पर चलने की भावना निर्मित हो जाती है। तब मन मे भावना होती है कि विरति का, त्याग का रास्ता अच्छा है, प्यास बुझाने वाला है, इस पर अवश्य चलना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा मे देशविरति गुणस्थान उपलब्ध हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की पाचवी भूमिका है।

आध्यात्मिक विकास के क्रम मे जब हम आगे बढते हैं, अभ्यास करते-करते जैसे मोह का वलय टूटता जाता है, उसका प्रभाव मद होता जाता है, तब तीसरी ग्रन्थि खुलती है। इस ग्रन्थि का नाम है प्रत्याख्यानावरण। यह आवेग की तीसरी अवस्था है। इसके टूटने से विरति के प्रति व्यक्ति पूर्ण समर्पित हो जाता है। जो चलना प्रारभ किया था, अब उसके लिए पूर्ण समर्पित हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की छठी भूमिका है। इस भूमिका मे व्यक्ति साधु बन जाता है, सन्यासी बन जाता है। पाचवी भूमिका गृहस्थ साधको की है और छठी भूमिका मुनि-साधको की है। दोनो साधना के इच्छुक हैं, दोनो साधना-पथ के पथिक हैं। दोनो ने चलना शुरू किया है। वे उस यात्रा के लिए समर्पित हो चुके हैं। एक व्यक्ति गृहस्थ जीवन मे साधना करता है और एक व्यक्ति मुनि जीवन मे साधना करता है। गृहस्थ जीवन से मुनि जीवन मे आ जाना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, एक छलाग नही है। कही-कही, कभी-कभी आकस्मिक घटना भी घटित होती है, छलाग भी लगती है। हमारे विकास के क्रम मे भी छलागें होती हैं। विकास के एक क्रम मे चलते-चलते ऐसी छलाग आती है कि व्यक्ति को नयी उपलब्धि प्राप्त हो जाती है, नया प्रजनन हो जाता है, नया घटित हो जाता है। यह छलाग है। किन्तु गृहस्थ जीवन मे मुनि जीवन मे आ जाना कोई छलाग नही है। इसमे निश्चित क्रम की व्यवस्था है। कोई गृहस्थ होकर साधना का प्रारम्भ करता है और कोई मुनि बनकर साधना की यात्रा पर चलता है। इसके पीछे भी मोह के आवेगो का सिद्धान्त काम करता है। जिस व्यक्ति के मोह का कुछ विलय हुआ है, एक निश्चित मात्रा मे, तो उस व्यक्ति के मन मे साधना का भाव जागृत

होता है। जिस व्यक्ति के मोह का अधिक विलय हुआ है, उस व्यक्ति के मन में साधना के प्रति समर्पित हो जाने की वात प्राप्त होती है ।

भगवान महावीर ने साधु-जीवन की जो व्यवस्था की, वह नयी व्यवस्था थी। उन्होने यह व्यवस्था दी कि जैन शासन मे जो भी प्रव्रजित होगा, वह जीवन भर के लिए मुनि वनेगा, कुछ समय के लिए नही। उसे यावज्जीवन मुनिव्रत को पालने की प्रतिज्ञा करनी होगी। वौद्धो मे दूसरी व्यवस्था है। वौद्ध-शासन मे भिक्षु बनने वाले के लिए यह आवश्यक नही है कि वह यावज्जीवन तक भिक्षु ही वना रहे। वह दो वर्ष, पाच वर्ष, दस वर्ष, वीस वर्ष तक अर्थात् सावधिक भिक्षु रह सकता है। यह तथ्य मनोवैज्ञानिक-सा लगता है। वुद्ध ने ऐसा स्तर वतला दिया कि आज साधना के लिए चले, भिक्षु वने, जव तक सभव हुआ तव तक भिक्षु वने रहे, जव इच्छा हुई तव पुन घर लौट आये ।

किंतु महावीर ने जो यावज्जीवन की व्यवस्था की, वह मनोवैज्ञानिक भूमिका से भी परे की वात है। यह वहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य है। उन्होने इस व्यवस्था की पृष्ठभूमि मे कहा कि जो साधना के प्रति पूर्ण समर्पित नही होता वह भिक्षु कैसे हो सकता है, जिसका यह सकल्प ही नही कि मैं जीवन-भर मुनि बना रहूगा, वह लक्ष्य के प्रति पूर्णत समर्पित कैसे हो सकता है ? जिस व्यक्ति की पृष्ठभूमि मे मोह-विलय की इतनी प्रेरणा नही कि वह साधना के प्रति सदा के लिए समर्पित हो जाये, वह गृहस्थ-साधु हो सकता है, किंतु गृहत्यागी अनगार साधु कैसे हो सकता है ? इस मोह-विलय के तारतम्य के आधार पर, इस कर्म की प्रेरणा की वास्तविकता के आधार पर महावीर ने यह अनिवार्य वात जोडी कि कोई मुनि वनेगा तो वह आजीवन के लिए वनेगा, यावज्जीवन ने लिए होगा, अल्पकाल के लिए नही। क्योकि जव प्रत्याख्यानावरण का विलय नही है, तो मुनित्व आ नही सकता।

मुनित्व और श्रावकत्व की हमारी व्यावहारिक कल्पना है। सम्यक् दर्शन की भी एक व्यावहारिक कल्पना है। जहा सघ और समाज होता है, सगठन होता है, वहा व्यवहार भी चलता है। किंतु व्यवहार व्यवहार होता है, उसमे वास्तविकता वहुत कम होती है। निश्चय वास्तविक होता है। निश्चय सत्य की उपलब्धि निश्चय के द्वारा होती है। निश्चय को हम छोड दें और केवल व्यवहार पर चलें तो जो सत्य उपलब्ध होना चाहिए वह उपलब्ध नही होता।

अनेकात दर्शन के दो पक्ष हैं—व्यवहार और निश्चय। अनेकात का पछी निश्चय और व्यवहार—इन दोनो पखो को फडफडाकर उडता है। एक पख से वह उड नही पाता। एक पख उसका काटा नही जा सकता। न व्यवहार को काटा जा सकता है और न निश्चय को काटा जा सकता है।

जव हम व्यवहार की भाषा मे चलते हैं, तव जीव आदि नौ पदार्थों को

जानना सम्यग्दर्शन माना जाता है। श्रावक के व्रतो का स्वीकार कर लिया, यह हो गया पाचवा गुणस्थान अर्थात् श्रावकत्व, देशविरति की प्राप्ति। पाच महाव्रतो को स्वीकार कर लिया, छठा गुणस्थान आ गया, सर्व विरति की अवस्था प्राप्त हो गयी। यह है व्यवहार की भाषा का स्वीकार। किंतु जव हम कर्मशास्त्रीय भाषा मे मोचते हैं, निश्चय की भाषा मे मोचते हैं, तब हमे कहना होगा कि आवेग चतुष्टय (क्रोध, मान, माया, लोभ) की तीव्रतम अवस्था (अनतानुवधी) का विलय होने पर सम्यग्दर्शन उपलव्ध होता है। जिस व्यक्ति मे आवेग की यह तीव्रतम अवस्था क्षीण—उपशात नही होती उसे सम्यग्दर्शन उपलव्ध नही होता, फिर चाहे वह कितनी ही वार नौ पदार्थों को रट जाये और उनको कठस्थ कर उच्चारण करता रहे। जिम व्यक्ति मे आवेग की दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यानावरण) का उपशम या क्षय नही होता, तव तक यथार्थ मे व्यक्ति देश-विरति श्रावक नही वन सकता, चाहे फिर वह कितनी ही वार त्याग को दोहराता रहे। जिस व्यक्ति मे आवेग की तीसरी अवस्था (प्रत्याख्यानावरण) का उपशम या क्षय नही होता, तव तक वह मुनि-माधक नही वन सकता, फिर चाहे वह कितनी ही वार दीक्षित क्यो न हो जाये। जिस व्यक्ति मे आवेग की चौथी अवस्था (मज्वलन) का क्षय नही होता, तव तक व्यक्ति वीतराग नही वन मकता, वह चारित्र की उत्कृष्ट कोटि—यथाख्यात को नही पा सकता।

हम अतरग और वहिरग—दोनो ओर ध्यान दें। केवल वहिरग साधना पर्याप्त नहीं है। जव तक कषाय का विलय नही होगा, अतरग का स्पर्श नही होगा, तव तक आध्यात्मिक चेतना उपलव्ध नही होगी। वहिरग साधना से व्यवहार की पूर्ति तो हो सकेगी, किंतु आध्यात्मिक चेतना का विकास नही हो पायेगा।

कर्मशास्त्र के रहस्यो को समझे विना हम आध्यात्मिक विकास के सूक्ष्म रहस्यो को नही समझ सकते। उन सूक्ष्म रहस्यो को समझे विना आध्यात्मिक चेतना के अतरंग पथ को नही पकड सकते। इसलिए हमे कर्मशास्त्र की गहराइयो मे उतरकर उसके रहस्यो को पकडना होगा।

वीतरागता की ओर वढ़ने के लिए जो एक वाधा वनी रहती है, वह है आकाक्षा। व्यक्ति कभी पूजा का अर्थी हो जाता है, कभी उसकी इच्छा प्रिय वस्तुओं को भोगने की ओर अग्रसर होती है, कभी वह अनुकूलता चाहता है, मनोज्ञता चाहता है, अमनोज्ञता से वचना चाहता है। यह सव आशसा से उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति 'जहावाई तहाकारी' नही होता, जैसा कहता है, वैसा करने वाला नहीं होता, कहता कुछ है और करता कुछ है, यह स्थिति जव तक समाप्त नही होती, तव तक अध्यात्म की उच्च भूमिका प्राप्त नही होती। जो कह दिया, वैसा ही करना है, यह चेतना पूर्णत जागृत नही होती, तव कभी-कभी चलते-

चलते शिथिलता आ जाती है। कभी वह शिथिलता वातावरण से उत्पन्न होती है और कभी अन्यान्य कारणो से।

जब ये चारो आवेग नष्ट हो जाते हैं, इनकी चारो अवस्थाए क्षीण हो जाती है, समाप्त हो जाती है, तब वीतरागता की स्थिति आती है, तब चारित्र यथाख्यात बन जाता है। उस अवस्था मे किसी भी परिस्थिति मे लक्ष्य के प्रति शैथिल्य नही आता। तब कहने और करने मे, करने और कहने मे तनिक भी अतर नही रह जाता। कोई भी शक्ति उसमे अतर नही ला सकती। चाहे मनुष्यकृत कष्ट प्राप्त हो, तिर्यचकृत कष्ट प्राप्त हो या दैवी उपसर्ग प्राप्त हो, चाहे मरने का प्रसग आये या जीने का, चाहे आकर्षक पदार्थों का अबार लगा हो या नीरस पदार्थ पडे हो, व्यक्ति की चेतना मे कोई अतर नही आता। वह आत्मा के साथ एकात्म हो जाता है, एकरूप हो जाता है। वह यथाख्यात चारित्र इतना अप्रकम्प, इतना निश्छल होता है कि वहा छिपाव की बात सर्वथा समाप्त हो जाती है। वह छद्मरहित अवस्था होती है। भीतर से एक प्रकार की नग्नता जैसी अवस्था हो जाती है। कोई छिपाव या आवरण नही रहता।

यह हमारी आध्यात्मिक चेतना का विकास-क्रम है। यह सारा-का-सारा मोह के विलय के आधार पर होता है। मोह जितना प्रबल होता है, हमारी मूर्च्छा उतनी ही प्रबल हो जाती है। हमारी मूर्च्छा जितनी प्रबल होती है, उतना ही हमारा आचार विकृत होता चला जाता है और हमारा दृष्टिकोण भी मिथ्या होता चला जाता है। एक मार्ग है मोह की प्रबलता का और दूसरा मार्ग है मोह की दुर्बलता का या मोह के विलय का। पहले मार्ग से चलते है तो आध्यात्मिक चेतना मूर्च्छित होती चली जाती है और दूसरे मार्ग से चलते है तो आध्यात्मिक चेतना विकसित होती चली जाती है। हम किस प्रकार मोह को क्षीण करे, यह साधना का केंद्र-बिंदु है। मोह को शात करें, राग-द्वेष को कम करें और इस प्रकार जीवन जीए कि कषाय कम होता चला जाये, राग-द्वेष कम होता रहे, यह जैसे कर्मशास्त्रीय मीमासा है, वैसे ही अध्यात्म-शास्त्रीय मीमासा है। जैसे अध्यात्म-शास्त्रीय मीमासा है, वैसे ही स्वास्थ्यशास्त्रीय मीमासा है, मानसशास्त्रीय मीमासा है। इन आवेगो का केवल हमारी आध्यात्मिक चेतना पर ही प्रभाव नही होता, किंतु हमारे मन पर, मन की शाति पर और स्वास्थ्य पर भी प्रभाव होता है। आज की मनोवैज्ञानिक खोजो ने विषय को बहुत उजागर कर दिया कि आवेगो का व्यक्ति के मन पर कितना असर होता है और आवेगो के कारण कितने प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। यह विषय पहले भी अज्ञात नही था। प्राचीन आचार्यों ने यह स्पष्टता से प्रतिपादित किया है कि आवेगो से रोग उत्पन्न होते हैं। वात, पित्त और कफ की विषमता से ही बीमारिया होती है। आवेगो के द्वारा वात, पित्त और कफ विकृत होते हैं और तब रोग सरलता से आक्रमण कर देते

है। प्राचीन आयुर्वेद के ग्रथो मे इन विषयो की विशद जानकारी प्राप्त होती है। किंतु वर्तमान मे जो मानसशास्त्रीय खोजें हुई है, उनसे इस विषय पर चामत्कारिक प्रकाश पडता है। मनस्-चिकित्साशास्त्र कुछ अद्‌भुत बातें प्रस्तुत करता है। हम मानते है कि बीमारिया शरीर मे पैदा होती हैं। डॉक्टर कहते है कि कीटाणुओ के द्वारा बीमारिया उत्पन्न होती हैं। किंतु मनस्-चिकित्साशास्त्र कुछ और ही कहता है। उसका कहना है कि सत्तर-अस्सी प्रतिशत बीमारिया मानसिक आवेगो के कारण होती है। क्रोध, ईर्ष्या, भय, लालच—ये बीमारी के उत्पादक है। बहुत सारी बीमारिया ग्रथियो के स्राव के कारण बढती हैं, अवाछनीय रासायनिक प्रक्रिया होती है। इस दृष्टि से भी ये आवेग घातक है। ये आवेग कर्म की परपरा को तो आगे बढाते ही हैं, किंतु शरीर के लिए भी लाभदायक नही हैं।

हमे कर्मशास्त्र को केवल जानना ही नही है, उसके रहस्यो को जानकर उनसे लाभ उठाना है। वह है आवेग का नियत्रण। आवेगो पर हमारा नियत्रण होना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा मे आवेग-नियत्रण की तीन पद्धतिया है—उपशमन, क्षयोपशमन और क्षयीकरण।

उपशमन

मनोविज्ञान की भाषा मे इसे दमन की पद्धति कहा गया है। एक व्यक्ति आवेगो का दमन करता चला जाता है। मन मे जो भी इच्छा उत्पन्न हुई, जो भी आवेग आया, उसे रोक लिया, शान्त कर दिया, दबा दिया। वह दबाता चला जाता है और दमन करते-करते अध्यात्म-विकास की ग्यारहवी भूमिका तक चला जा सकता है। यह भी ऊची भूमिका है। इसका नाम है—उपशात मोह। इसे ग्यारहवा गुणस्थान कहा जाता है। इस भूमिका मे मोह उपशात हो जाता है। इतना उपशात कि व्यक्ति वीतराग हो जाता है। यह दमन का रास्ता है, विलय का नही। इसलिए कुछ ही समय पश्चात् ऐसी स्थिति बनती है कि दबा हुआ कषाय उभरता है और उससे ऐसा झटका लगता है कि ग्यारहवी भूमिका मे गया हुआ साधक नीचे लुढक जाता है और फिर वह उन्ही आवेगो से आक्रात हो जाता है।

दमन की पद्धति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु यह व्यक्ति को लक्ष्य तक नही पहुंचा पाती।

क्षयोपशमन

यह दूसरी पद्धति है। मनोविज्ञान की भाषा मे इसे उदात्तीकरण की पद्धति कहा गया है। इसे मार्गांतरीकरण भी कहा जाता है। इसका अर्थ है—रास्ता बदल देना, उदात्त कर देना, परिष्कृत कर देना, परिमार्जन कर देना।

क्षयोपशमन का अर्थ है—कुछ दवाते हुए, कुछ क्षीण करते हुए। कुछ दोषो का उपशमन हुआ और कुछ क्षीण हुए। इसमे उपशमन और क्षय, साथ-साथ चलते हैं।

क्षयीकरण

यह तीसरी पद्धति है। पूर्ण क्षीण कर देना, समाप्त कर देना, विलय कर देना। इसमे उपशमन नही होता। जो भी आया, उसे नष्ट कर दिया। यह नष्ट करते हुए चलने की पद्धति है। यह है सर्वथा आगे वढ जाने की पद्धति। ऐसा करने वाला व्यक्ति पूर्णत आगे ही वढता चला जाता है। उसकी आध्यात्मिक चेतना की भूमिका प्रशस्त होती चली जाती है।

आवेगो का उपशमन होता है, आवेगो का क्षयोपशमन होता है और आवेगो का क्षयीकरण होता है।

मानसविज्ञान की दृष्टि से भी यह सम्मत तथ्य है कि आवेगो पर नियत्रण होना चाहिए। अनियत्रित आवेग व्यक्ति को ही नही, समाज को भी हानि पहुचाते हैं। क्रोध उत्पन्न होता है। उसे रोकना ज़रूरी है। किंतु अतर इतना ही आता है कि उसे कैसे रोकें ? यहा कर्मशास्त्र का अध्यात्मशास्त्रीय पक्ष आ जाता है। यह उसका साधना पक्ष है।

अध्यात्मशास्त्र और कर्मशास्त्र जुडे हुए हैं। इन्हें कभी अलग नही किया जा सकता।

हमने यह जान लिया कि यह ससार का चक्र आवेग के द्वारा चल रहा है। आवेगो के द्वारा मानसिक अशाति का चक्र चल रहा है। आवेगो के द्वारा वहुत सारी वीमारिया उत्पन्न होती हैं। परतु एक प्रश्न आता है कि हम इन आवेगो से कैसे वचे ? कर्मशास्त्र इस प्रश्न का समाधान नही देता। क्या घटित होता है, यह कर्मशास्त्र से उपलव्ध हो गया। अव उन आवेगो के उपशमन के लिए, उनके क्षयीकरण के लिए हमे क्या करना चाहिए—यह वोध अध्यात्मशास्त्र से प्राप्त होगा। इस विंदु पर कर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र मिल जाते है। मोह का विलय कैसे करें, आवेगो का विलय कैसे करें, इसकी चर्चा हम अध्यात्मशास्त्रीय विंदु के द्वारा करेंगे।

१५

आवेग-चिकित्सा

- पहला साधन है—स्वरूप का संधान, भेदज्ञान की प्राप्ति।
- दूसरा साधन है—विपाक प्रेक्षा, परिणाम प्रेक्षा।
- विपाक की निमित्त-सापेक्षता।
- विपाक के पाच निमित्त—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव।
- विपाक मे परिवर्तन किया जा सकता है।
- विपाक-परिवर्तन के दो उपाय—
    - वीतराग चेतना का विकास।
    - तितिक्षा-चेतना का विकास।
- इष्ट और अनिष्ट—दोनो प्रकार के कर्म-विपाको मे पदार्थों का योग।



कुशल चिकित्सक वह होता है जो रोग, रोग के हेतु, आरोग्य और आरोग्य के हेतु—इन चारों को जानकर रोग की चिकित्सा करता है। कुशल साधक वह होता है जो कर्म, कर्म के वीज, कर्म-मुक्ति और कर्म-मुक्ति के हेतु को जानता है। कुशल साधक वह होता है जो वध, वध के हेतु, वध-मुक्ति और वंध-मुक्ति के हेतु को जानता है। जो इन सवको भली-भाति जानकर कर्म की चिकित्सा करता है, वह कुशल साधक होता है।

कर्म को जानना उसके लिए इसलिए ज़रूरी है कि उसको जाने विना आध्यात्मिक विकास नही होता। उसकी आध्यात्मिक चेतना के विकास मे जो

बाधक है, वह है कर्म। अब यदि वह अपने बाधक तत्त्व को नही जानता तो अपनी बाधा मिटा नहीं सकता, आध्यात्मिक चेतना का विकास कर नही सकता। इसलिए कर्म को जानना जरूरी है। दूसरे शब्दो मे, बंध को जानना जरूरी है। बध या कर्म को जानना ही पर्याप्त नही है। उसके हेतु को जाने बिना कुछ नही होता। यदि कर्म या बध के हेतु को नही जाना जाता तो कर्म या बध को समाप्त नही किया जा सकता। कर्म का बीज है—राग-द्वेष। जब तक राग और द्वेष को नही जाना जाता, तब तक राग और द्वेष से होने वाले जीव के परिणामो को, जीव की विविध परिणतियो को नहीं जाना जा सकता। कर्म की चिकित्सा नही हो सकती। इसलिए कर्म को जानना जरूरी है, कर्म-बीज को जानना भी जरूरी है। दोनो को जान लिया किन्तु यदि कर्म-मुक्ति और कर्म-मुक्ति के हेतु को नही जाना तो कर्म की चिकित्सा नही हो सकती।

कर्म-मुक्ति का हेतु है—सवर और निर्जरा। जब ध्यान के द्वारा सवर (निरोध) की स्थिति उपलब्ध होती है और तपस्या के द्वारा निर्जरा हो जाती है, तब कर्म की ठीक चिकित्सा होती है।

इसलिए कुशल साधक को कर्म, कर्म के हेतु, कर्म-मुक्ति और कर्म-मुक्ति के हेतु—इन चारो को जानना बहुत आवश्यक है। इनको जाने बिना वह अपनी साधना मे विकास नही कर सकता।

हमारे आवेग कर्मों का आस्रव निरतर करते रहते हैं, कर्मों के आने के द्वारो को खोलते रहते हैं। उन द्वारो को कैसे बद किया जाये ? आवेगो को कैसे शान्त किया जाये ? यदि मोह के आवेग शान्त होते हैं, मोह की आवृत्तिया शान्त होती हैं, कम होती हैं तो कर्मो का दबाव अपने आप कम होने लग जाता है। साधक के सामने यह ज्वलन्त प्रश्न है कि उन आवेगो को, मोह की आवृत्तियो को शान्त कैसे किया जाये ? आवेगो को शान्त करने का प्रश्न केवल साधको के सामने ही नही है किन्तु चिकित्सको के सामने भी है। क्योकि आवेगो को शान्त किये बिना जीवन भी स्वस्थ नही चल सकता। आवेग बुरी आदतो के उत्पादक है। स्वस्थ जीवन के लिए उन्हें शान्त करना आवश्यक होता है। चिकित्सको ने भी अपनी सीमा मे आवेग-शान्ति के उपाय खोजे हैं। जितने आवेग हैं, उन सबके केन्द्र हमारे मस्तिष्क मे हैं। जिनके माध्यम से ये आवेग अभिव्यक्त होते हैं, वे सब केन्द्र हमारे मस्तिष्क मे हैं। उन केन्द्रो को समाप्त करने से आवेग शान्त हो जाते हैं। क्रोध का एक केन्द्र है, एक बिन्दु है। उस बिन्दु को समाप्त कर देने पर क्रोध आना बद हो जाता है। मद्रास मे 'ब्रेन इन्स्टीट्यूट' है। यह भारत का बहुत बडा केन्द्र है। यहा के डॉक्टरो ने कुछ आपरेशन किये। उन्होने कुछ खोजें की। उन्होने बताया कि मदिरा पीने की आदत आपरेशन के द्वारा छुडाई जा सकती है। मस्तिष्क मे एक केन्द्र है, जो मादक वस्तुओ के प्रति आकृष्ट होता है। उसकी उत्तेजना को समाप्त

कर दिया जाये तो फिर मादक वस्तुओ के सेवन की आदत समाप्त हो जाती है, भावना समाप्त हो जाती है। उन्होने ऐसे आपरेशन किये हैं और उनमे सफल हुए हैं। उनका यह निष्कर्ष है कि अनेक आवेग, अनेक उत्तेजनाएं, चिडचिडा स्वभाव, कलह करने की वृत्ति, इन सबको मस्तिष्क के अमुक-अमुक केन्द्रो के आपरेशन के द्वारा ठीक किया जा सकता है। उनको मिटाया जा सकता है।

हमारे मस्तिष्क मे कई प्रकार की तरगे पैदा होती हैं—अल्फा, बीटा, गामा आदि-आदि। ये तरगें हमारे मे विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियो को उत्पन्न करती हैं। कई प्रकार की अन्य तरगें भी हैं, जिनका विकास यौगिक पद्धति के द्वारा किया जा सकता है। उनका अध्ययन और परीक्षण भी किया जा सकता है।

आज की चिकित्सा पद्धति ने इतना विकास कर लिया कि वह आपरेशन के द्वारा या बिजली के झटके देकर, विभिन्न आवेगो को, विभिन्न आदतो को मिटाने मे सक्षम है। आवेग के केन्द्र को समाप्त कर देने पर वह जीवन भर फिर कभी सक्रिय नही हो सकता। काम-वासना का आवेग, कषाय का आवेग, भय का आवेग आदि-आदि सभी आवेगो को समाप्त करने मे आज का चिकित्सा विज्ञान सक्षम है।

चिकित्सा की सीमा है—हमारा दृश्य शरीर, औदारिक शरीर। शरीर का मुख्य भाग है मस्तिष्क। इसके माध्यम से चिकित्सक इस परीक्षण मे लगे हुए हैं कि किस प्रकार आवेगो के केन्द्रो को सुधार कर मनुष्य को आवेगो के प्रहारो से बचाया जा सकता है। यह शरीरशास्त्रीय और चिकित्साशास्त्रीय खोजो का निष्कर्ष है।

अब हम अध्यात्मशास्त्रीय निष्कर्षों पर भी विचार करें। क्या बिना आपरेशन के भी इन आवेगो को शान्त किया जा सकता है? मस्तिष्क के विशेष केन्द्र-बिन्दुओ और विशेष स्नायुओ को काटे बिना ही क्या उत्तेजनाओ, वासनाओ और आदतो को शात किया जा सकता है? इन प्रश्नो पर प्राचीन काल से अध्यात्म के साधको ने, अध्यात्म के तत्त्ववेत्ताओ ने जो अनुसधान किये हैं, जो परीक्षण और प्रयोग किये है, उन पर हमे एक दृष्टि डाल देनी चाहिए।

अध्यात्म-तत्त्ववेत्ताओ ने कहा कि यह सब आत्मिक प्रक्रिया के द्वारा भी हो सकता है। आत्मिक प्रक्रिया मे सबसे पहली बात है—स्वरूपानुसन्धान, अपने स्वरूप का सधान। हम एक बात को न भूलें कि हमारे सामने एक ही प्रकाश-किरण है और वह है हमारा स्वतत्र अस्तित्व। हमारा स्वतत्र स्वभाव है, अस्तित्व है और उसको कभी मिटाया नही जा सकता। उस स्वभाव को कभी भी दबाया नहीं जा सकता। उस स्वभाव को कभी भी पूर्णत आच्छन्न नही किया जा सकता। चाहे हजार बार कर्मों का आक्रमण हो, हजार बार कर्म के पुद्गलो की रासायनिक प्रक्रियाए आवृत्तिया करती रहे, फिर भी उसे पूर्णत विकृत नही किया जा सकता,

न पूर्णत' शक्तिहीन किया जा सकता है। यही हमारे लिए प्रकाश की पहली रश्मि है। यदि यह नही होती तो हम कुछ भी करने मे समर्थ नही हो पाते। किन्तु हमारे पास वह है स्वतंत्रता, जिसके द्वारा ही परिवर्तन की सारी बातें सभव हो सकती हैं।

सबसे पहली बात है अपने स्वरूप का सधान। जिस व्यक्ति मे यह सम्यग्-दृष्टि जाग जाती हैं, अपने स्वरूप के सधान की बात चेतना पर उतर आती है, वह व्यक्ति आवेगो मे परिवर्तन करने मे सक्षम हो जाता है। स्वरूप के सधान का अर्थ है—भेदज्ञान की प्राप्ति। आध्यात्मिक भूमिका मे परिवर्तन का यह पहला बिन्दु है। जब यह भेदज्ञान जाग जाता है, वहा से परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। हम बदलना शुरू कर देते है। इससे इतना आतरिक परिवर्तन, इतना रूपातरण आ जाता है, व्यक्ति इतना रूपातरित हो जाता है कि पहले का व्यक्ति और 'भेदज्ञान या सम्यग्-दृष्टि प्राप्त होने के बाद का व्यक्ति, एक ही व्यक्ति नही रह जाता। उसके व्यक्तित्व का आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। जीवन और विश्व के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है। जीवन को देखने का कोण बदल जाता है। पहले जिस दृष्टि से पदार्थ को देखता था, उसी दृष्टि से अब पदार्थ को नही देखता। जिस दृष्टि से अपने को पहले देखता था, उसी दृष्टि से अब अपने को नही देखता। अपने को देखने का दृष्टिकोण और पदार्थ को देखने का दृष्टिकोण—दोनो बदल जाते हैं। दृष्टिकोण के परिवर्तन से आवेगो पर करारी चोट होती है, तीव्र प्रहार होता है। जिस दृष्टिकोण के आधार पर आवेगो को पोषण मिल रहा था, सिंचन मिल रहा था, उस दृष्टिकोण के बदल जाने पर आवेगो को वह पोषण और सिंचन मिलना बद हो गया, जीवन रस प्राप्त होना बद हो गया। आवेगो को सिंचन मिलता है अहकार के द्वारा, ममकार के द्वारा। जब तक अहकार और ममकार हैं, तब तक आवेश पुष्ट होते रहेगे, बढते रहेंगे, फलते-फूलते रहेगे। जैसे ही दृष्टिकोण बदलता है, अहंकार और ममकार की गाठ टूट जाती है और तब आवेगो को जीवन-रस, पोषण-रस मिलना बद हो जाता है। उनका आधार ही समाप्त हो जाता है। इसलिए आवेगो की चिकित्सा का पहला सूत्र है—दृष्टिकोण का परिवर्तन, सम्यग्-दृष्टि की प्राप्ति।

इसका दूसरा सूत्र है—विपाक की प्रेक्षा, विपाक को देखना। यह भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। हम विपाक की प्रेक्षा नही करते, उसे नही देखते। इसीलिए उच्छृखल प्रवृत्तिया चलती हैं। यदि हम प्रवृत्ति के विपाक पर ध्यान दें और यह देखने का प्रयत्न करें कि इसका विपाक क्या होगा, क्या विपाक हो रहा है तो उच्छृखल प्रवृत्तिया या आवेग नही चल सकते। चाहे कोई भी व्यक्ति हो, वह जो कुछ करता है और वह विमर्श करता चलता है कि मेरे आचरण का, मेरे कार्य का क्या परिणाम होगा, क्या विपाक होगा, तो वह बहुत ही विवेक और

सतुलन के साथ काम करेगा। यदि यह परिणाम और विपाक से आख मूदकर कार्य करता चला जाता है तो उससे वे काम भी हो जाते हैं जो अनिष्टकर, हानिकर होते हैं। विश्व मे जितने भी अवाछनीय कार्य हुए हैं, होते हैं, वे परिणाम की ओर से आख मूद लेने के कारण ही हुए हैं, होते हैं। विपाक-प्रेक्षा की चेतना जागृत न होने के कारण ही वे होते हैं। विपाक-प्रेक्षा की चेतना जागृत हो तो अवाछनीय कार्य, अनिष्ट प्रवृत्ति नही हो सकती। विपाक की प्रेक्षा ध्यान का एक अग है। जैन दर्शन मे धर्म्यध्यान के चार प्रकार वतलाए गए हैं—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और सस्थान विचय। इनमे तीसरा है—विपाक विचय। विपाक का विचय—विपाक-प्रेक्षा, विपाक-दर्शन। वहुत गहरे मे जाकर हम देखते हैं कि अभी किस कर्म का विपाक हो रहा है। वीमारी मे किस कर्म का विपाक हो रहा है। क्रोध आया, यह किस कर्म का विपाक है, उसे हम देखते हैं, विपाक की अनुचितना करते हैं, विपाक का विचय करते हैं, वहा हमारे मानस की स्थिति वदल जाती है, वह विलकुल रूपातरित हो जाती है।

कर्म आठ हैं और आठ कर्मों के अनेक विपाक हैं। इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति तथा मन के ज्ञान की शक्ति को आवृत करना ज्ञानावरण कर्म का विपाक है। ज्ञानावरण कर्म जव विपाक मे आता है, तव वह हमारी ज्ञान की शक्तियो को ढाक देता है।

दर्शनावरण कर्म का विपाक होता है, तव हमारी देखने की शक्ति आवृत हो जाती है। नीद आती है, गहरी नीद आती है, इतनी गहरी नीद कि जिस नीद मे आदमी दिन मे की हुई कल्पनाओ को क्रियान्वित कर डालता है। इतनी प्रगाढ निद्रा कि आदमी नीद मे ही मीलो चला जाता है, काम कर डालता है, किसी को पीट डालता है, कुछ तोड डालता है, फिर घर मे आकर विस्तर पर लेट जाता है। इतना होने पर भी उसकी नीद नही टूटती। ऐसी नीद मे एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है और उस शक्ति से प्रेरित होकर व्यक्ति असभव कार्य भी कर डालता है। ऐसा दर्शनावरण कर्म के विपाक से होता है।

मोह कर्म का विपाक होता है तव राग-द्वेष का चक्र चलने लगता है, विभिन्न प्रकार के आवेग उत्पन्न होते हैं, विभिन्न प्रकार की वासनाए उभरती हैं, भय जागता है तथा अन्यान्य आवेग भी कार्यरत हो जाते हैं।

कर्मों के विपाक का यह चक्र अविश्रात गति से घूमता रहता है। कभी कोई विपाक जागता है और कभी कोई। इनकी निरतरता टूटती नही। क्या हम इन विपाकों को निरस्त कर सकते हैं? नही, इन्हे निरस्त नही किया जा सकता? किन्तु इनको हम रोक सकते हैं।

एक प्रक्रिया है—कर्म को न वाधने की, कर्म के वीज को समाप्त करने की।

कर्म का बधन न हो, इसमे हम जागरूक रहे, अप्रमत्त रहे। यह भी माधना की एक प्रक्रिया है।

माधना की एक प्रक्रिया यह भी है कि जो विपाक आने वाले हैं, उनके प्रति हम पहले से ही जागरूक हो जाए। उन विपाको को हम वदल दे। अथवा हम उन विपाको को आने ही न दें। कर्मों को हमने वाध दिया। कर्म बध गए। हमारे ही अज्ञानवश, प्रमादवश, हमारी ही भूलो के कारण वे कर्म आकर चिपक गए। वे परिणाम देने वाले हैं। उनका विपाक-काल है। हम जागरूक हो जाए। हम जाग जाए। हमारी प्रमाद की नीद टूट जाये। हमारी चेतना की कुछ रश्मिया आलोकित हो जायें। यह असभव नही है, वहुत सभव है। असाध्य कार्य नही है, साध्य कार्य है। हम उन कर्मों को वीच मे ही वदल दें, उनकी शक्ति मे ऐसा परिवर्तन ला दें कि उनका विपाक न हो सके। यह वहुत ही महत्त्व की वात है। इस पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए।

विपाक होता है कारणो से। निमित्तो के विना विपाक नही हो सकता। प्रज्ञापना सूत्र मे इसका सुदर विवेचन प्राप्त है। विपाक के लिए पाच शर्तें हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव। जव ये पाचो वातें पूरी होती हैं, तव कर्म का विपाक हो सकता है, अन्यथा नही हो सकता। इसी आधार पर कर्म की चार प्रकृतिया मानी गयी हैं—क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भावविपाकी और भवविपाकी। यदि इन चारो को हम ठीक से समझ लें और कर्मशास्त्र के रहस्यो को गहराई मे जाकर पकड लें तो वहुत कुछ परिवर्तन ला सकते हैं। यदि कर्म के हेतुओ मे और बधे हुए कर्मों मे कोई भी परिवर्तन नही किया जा सकता तो साधना का कोई अर्थ नही हो सकता, वह अर्थशून्य हो जाती है। फिर हमारे लिए साधना का प्रयोजन ही क्या? हम क्यो इतना पुरुषार्थ करें? क्यो प्रेक्षा करें? क्यो आखें मूदकर घटो तक ध्यान करे? यदि हम कुछ वदल न सकें तो ये सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं, शून्य हैं। किंतु ऐसा नही है। साधना के द्वारा हम वदल सकते हैं। यह हमारी वहुत वडी क्षमता है कि हम माधना के माध्यम से उन विपाको मे परिवर्तन ला सकते हैं। किंतु यह तभी सभव हो सकता है, जव हम कर्मशास्त्र की गहराई मे जाकर कर्मों की प्रकृतियो और स्वभावो को ठीक-ठीक समझ लें और यह उपाय भी जान लें कि उनमे कैसे परिवर्तन लाया जा सकता है?

पुद्गल का एक परिणाम है—वेदनीय कर्म। वेदनीय कर्म की दो प्रकृतिया हैं—सात वेदनीय और असात वेदनीय। सुख का भी वेदन होता है और दु ख का भी वेदन होता है। प्रीत्यात्मक अनुभूति भी होती है और अप्रीत्यात्मक अनुभूति भी होती है। अमात वेदनीय का उदय क्यो होता है? उसके उदय के अनेक कारण हैं। एक कारण है—पुद्गल। पुद्गल का ऐमा कोई स्पर्श हुआ, कोई

ऐसी चोट लगी कि पैर मे दर्द हो गया। असात वेदनीय का उदय हो गया। मन उसमे ही जाता है, साधना मे नही जाता। मन की सारी ऊर्जा पैर की ओर ही वहने लग जाती है। साधना का वह स्पर्श भी नहीं कर पाती। असात वेदनीय के उदय का एक कारण है पुद्गल का परिणाम। जैसे—वहुत खा लिया, भूख मे अधिक भोजन कर लिया। अजीर्ण हो गया। पेट मे दर्द प्रारभ हो गया। अव सारा मन उसी की ओर भागता है, विपाक की ओर जाता है, साधना की ओर नही जाता। पुद्गल के परिणाम के कारण जो असाता का विपाक होता है, उसे हम वदल सकते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है—अधिक मत खाओ। भोजन की मात्रा का ज्ञान करो। साधना के क्षेत्र मे भोजन पर ध्यान देने की वात भी महत्त्वपूर्ण वन जाती है। साधना करने वाले व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि कव खाए ? क्यो खाए ? कितना खाए और कैसे खाए ? दही खूव खा लिया और ध्यान के लिए वैठ गया। ध्यान मे नीद सताने लगी। यह दर्शनावरणीय कर्म का विपाक है। इसमे दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का कारण वना हमारा भोजन। इसलिए ऐसा भोजन न किया जाये जो असात वेदनीय या दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का निमित्त वने। वहुत तेज मिर्च-मसाले खा लिये, तामसिक भोजन किया और साधना मे वैठ गये। मन मे उत्तेजनाए उभरने लगीं, विकृतिया पैदा होने लगी, ध्यान से मन हट गया। तो हमने भोजन की परिणति के द्वारा विपाक को निमन्त्रित कर दिया। इसलिए यह आवश्यक है कि हम विपाको के निमित्तो पर भी ध्यान दें। उपादान का महत्त्व है तो निमित्त का भी कम महत्त्व नहीं है। अपने स्थान पर वे वहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसीलिए हम कैसे वैठें, क्या खायें, कैसे खायें, कितना खायें, किस वातावरण मे रहे, ये सारी वातें वहुत ही महत्त्वपूर्ण वन जाती हैं।

कुछ वातें हमारे वश की होती हैं और कुछ हमारे नियत्रण से वाहर की होती हैं। जैसे—वर्षा का मौसम है। आकाश वादल मे आच्छन्न है। ऐसे वातावरण मे दर्शनावरणीय कर्म के उदय को मौका मिल जाता है। नींद आने लगती है। यह हमारी भूल का परिणाम नही है। हमने अधिक खाया, अवांछनीय भोजन किया और नींद ने आ घेरा। यह हमारी भूल का परिणाम है। हमने अपनी भूल के कारण कर्म के विपाक को निमित्त प्रदान कर दिया। दोनो प्रकार से विपाक का उदय होता है। एक प्राकृतिक वातावरण या अन्य कारण से तथा दूसरा हमारी भूल या प्रमाद के कारण से। निमित्त मिलते ही विपाक उदय मे आ जायेगा। उस स्थिति मे हम क्या करें ? उस स्थिति मे हम कष्ट-सहिष्णु वनने का अभ्यास करें। साधना के लिए, आवेगो को कम करने के लिए कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। जो कष्ट-सहिष्णु नही होता, कठिनाइयो को नहीं झेल सकता, वह न साधना ही कर सकता है और न कर्म के चक्र-व्यूह को ही तोड सकता है।

भगवान महावीर ने धर्म के दो लक्षण बताए। उन्होंने कहा—धर्म का पहला लक्षण है—अहिंसा, राग-द्वेष का न होना। धर्म का दूसरा लक्षण है—परीषह-सहन, कष्टो को सहने की क्षमता। जीवन मे द्वद्व आते है। कभी सुख आता है और कभी दु ख। कभी अनुकूलता रहती है और कभी प्रतिकूलता। कभी प्रियता की सवेदना होती है और कभी अप्रियता की। कभी प्रशसा होती है और कभी निंदा। कभी उपलब्धि होती है और कभी हानि। ये जो सारे द्वद्व आते हैं, इनको सहन करने वाली तितिक्षा की चेतना जब तक जागृत नही होती, तब तक न साधना होती है और न आवेग ही कम होते है। ऐसी स्थिति मे कर्म के व्यूह को भी नही तोडा जा सकता। इसलिए हमारी दोनो प्रकार की शक्तिया जागृत होनी चाहिए। एक है अ-राग की शक्ति और एक है अ-द्वेष की शक्ति—अराग चेतना और अद्वेप चेतना। वीतराग चेतना के साथ-साथ तितिक्षा की चेतना भी जागृत होनी चाहिए। यदि तितिक्षा नही है तो राग भी आ सकता है और द्वेप भी आ सकता है। अनुकूलता मे राग आएगा। राग को सहने की भी शक्ति होनी चाहिए। अनुकूलता को सहन करने की शक्ति होनी चाहिए। मन के अनुकूल कोई घटना घटित होती है, उसे यदि हम सहन नही कर सकते तो मन मे राग पैदा हो जायेगा, आवेग भी पैदा हो जायेगा। बहुत हर्ष होना, अध्यात्म की दृष्टि से ही अवाछनीय नहीं है, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी वाछनीय नही है। यह अकाल-मृत्यु का कारण बन जाता है।

एक आदमी बहुत गरीब था। लाटरी मे उसे दो लाख रुपये मिले। किसी ने आकर कहा—भाई! तुम तो निहाल हो गये। तुम्हारे नाम की लाटरी मे दो लाख रुपये उठे है। उसने कहा—दो लाख! यह कहते ही वह धडाम से नीचे गिरा और इस लोक से चल बसा।

अनुकूलता और प्रतिकूलता को सहन करने के लिए तितिक्षा की चेतना जागृत होनी चाहिए। कोई व्यक्ति बडी-से-बडी स्थिति मे है। उसको बड़ी-से-बडी उपलब्धि है। सारे अनुकूल सयोग है। अकस्मात् सब छिन जाते हैं। सत्ता छिन जाती है, अधिकार छिन जाते हैं। सपदा नष्ट हो जाती है, परिवार बिखर जाता है। उस स्थिति मे प्रतिकूलता को सहने की चेतना यदि जागृत नही होती तो व्यक्ति दिग्भ्रान्त हो जाता है। जिसकी यह चेतना जागृत होती है, उसके लिए अनुकूलता या प्रतिकूलता मे कोई अतर नही आता।

जैन आगमो मे नमि राजर्षि का एक उदाहरण आता है। व्यवहार की दुनिया मे वह शायद मान्य न हो, किंतु वह उस चेतना का प्रतीक है, वह उस चेतना का दिग्दर्शक है, जिस चेतना के बिंदु पर पहुचकर व्यक्ति की तितिक्षा की चेतना इतनी जागृत हो जाती है कि उसके लिए कोई भी प्रकपन शेप नही रहता। न राग का प्रकंपन होता है और न द्वेप का प्रकपन होता है।

नमि राजर्षि से कहा गया—आपका अंत पुर जल रहा है। उसमे आग लग गयी है। लपटें आकाश को छू रही हैं। आपका प्रासाद जल रहा है। आपका नगर जल रहा है। नमि राजर्षि ने कहा—मैं सुख से जी रहा हू, सुख से रह रहा हू। किसका अत पुर ! किसका प्रासाद ! किसका नगर ! मेरा कुछ भी नही है। मिथिला के जलने पर भी मेरा तो कुछ भी नही जल रहा है।

यह कितना अव्यावहारिक कथन लगता है ! कितनी करुणाहीन वात लगती है ! क्या कोई करुणावान् व्यक्ति ऐसा कह सकता है ? परम कोटि का क्रूर व्यक्ति ही ऐसी वात कह सकता है। किंतु हम वहुत वार भूमिका-भेद को समझे विना भयकर भूल कर वैठते हैं। यह भी हमारी भयकर भूल होगी, यदि हम नमि राजर्षि की स्थिति को क्रूरता मे परिपूर्ण मानें। यह उस तितिक्षा की, उस परम चेतना की स्थिति है, जहा पहुचकर साधक अनुकूलता और प्रतिकूलता के प्रकपनो से परे हो जाता है। वह चेतना इतनी अप्रकप हो जाती है कि जहा केवल चेतना ही होती है और कुछ भी नही होता।

राग और द्वेष न हो, इसलिए चेतना मे तितिक्षा का विकास होना चाहिए। यदि द्वद्वो को सहन करने की चेतना का विकास नहीं होता है तो राग और द्वेष अवश्य होते हैं। उन्हे रोका नही जा सकता।

इस प्रकार वीतराग चेतना और तितिक्षा की चेतना—दोनो प्रकार की चेतनाओ का विकास करके ही हम कर्म विपाको मे परिवर्तन ला सकते हैं। यदि तितिक्षा की चेतना विकसित होती है तो मोहनीय कर्म का विपाक नही हो सकता, आवेग नही हो सकता। आवेग तभी होता है, जव तितिक्षा की चेतना विकसित नही होती। अहकार और ममकार-शून्य चेतना विकसित नही होती। इसीलिए आवेग आते हैं। हम प्रतिपक्ष की चेतना को विकसित करें। क्रोध है तो मैत्री की चेतना को विकसित करें। मैत्री के सस्कारो को सुदृढ वनाए। मैत्री के सस्कार दृढ होगे तो क्रोध का आवेग अपने-आप कम होता चला जाएगा। प्रतिपक्ष भावना साधना का वहुत वडा सूत्र है।

दशवैकालिक सूत्र मे चार आवेगो की प्रतिपक्ष भावना का सुन्दर निरूपण प्राप्त है। यदि क्रोध के आवेग को मिटाना है, कम करना है तो उपशम के सस्कार को पुष्ट करना होगा। क्रोध का प्रतिपक्ष है—उपशम। उपशम का सस्कार जितना पुष्ट होगा, क्रोध का आवेग उतना ही क्षीण होता चला जायेगा। मान के आवेग को नष्ट करना है तो मृदुता को पुष्ट करो। मान का प्रतिपक्ष है मृदुता। माया के आवेग को नष्ट करना है तो ऋजुता के सस्कार को पुष्ट करो। ऋजुता और मैत्री मे कोई अन्तर नही है। मैत्री ऋजुता का ही प्रतिफलन है। जव ऋजुता है तो किसी के साथ शत्रुता हो ही नही सकती। शत्रुता से पूर्व कुटिलता आती है। शत्रुता कुटिलतापूर्वक ही होती है। विना कुटिलता के शत्रुता नही होती। जव

छिपाने की बात, लूट लेने की बात, ठगने की बात आयेगी तभी किसी के साथ अमैत्री का भाव होगा। जहा छिपाने जैसा कुछ भी नही है, सरलता ही सरलता है, पारदर्शी स्फटिक-सा जीवन है, वहा शत्रुता हो ही नही सकती। माया का प्रतिपक्ष है ऋजुता। लोभ के आवेग को नष्ट करना है तो सतोष को विकसित करें, उसे पुष्ट करें।

आवेगो को मिटाने के लिए प्रतिपक्ष के सस्कारो को पुष्ट करना है। जब तक प्रतिपक्ष का सस्कार पुष्ट नही होता, आवेगो का तनुभाव नही किया जा सकता, उन्हे पतला नही किया जा सकता, क्षीण नही किया जा सकता। जब तक आवेग क्षीण नही होते, उन्हे तोडा नही जा सकता। उन्हे इतना क्षीण कर देना होता है कि एक ही झटके मे वे टूट जाए।

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार आवेग हैं। इनकी प्रतिपक्षी भावनाओ को पुष्ट करने से ये आवेग शात हो जाते हैं। उनका विपाक बद हो जाता है। भय, काम-वासना, घृणा आदि आवेगो के लिए प्रतिपक्ष की भावना जरूरी है। साधना मे प्रतिपक्ष भावना का बहुत बडा महत्त्व है। इसके बिना आवेगो से छुटकारा नही मिलता। हमारी अभय की भावना जितनी पुष्ट होगी, भय का आवेग क्षीण हो जाएगा। चेतना की भावना, चैतन्य का अनुसधान जितना पुष्ट होगा, काम-वासना उतनी ही क्षीण हो जायेगी। एकत्व का विकास होगा तो घृणा अपने आप मिट जायेगी।

हम प्रतिपक्ष को पुष्ट करें। यह हमारा कर्तृव्य है, पुरुषार्थ है, संकल्प है। जैसे कर्म के अनिष्ट विपाक मे कुछ निमित्त होते हैं, वैसे ही कर्म के इष्ट विपाक मे भी कुछ निमित्त होते हैं। किसी के ज्ञानावरण कर्म का विपाक है। वह चाहता है कि ज्ञानावरण का विपाक कम हो। इसके लिए भी कुछ साधन हैं। आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना की टीका मे अनेक उपाय निर्दिष्ट किए हैं। ब्राह्मी आदि बूटिया है, जिनके सेवन से ज्ञान-विकास मे सहायता मिलती है।

मन की एकाग्रता मे भी कुछ पदार्थ सहयोगी होते हैं, कुछ निमित्त बनते हैं। आप ध्यान करने बैठते हैं। उस समय यदि आपके हाथ मे पारे की गोली होती है तो आपको एकाग्र होने मे सुगमता हो सकती है। ध्यान-काल लबा हो सकता है। साधना की कुछेक प्रक्रियाओ मे रुद्राक्ष का भी प्रयोग होता है। उसका भी एक अर्थ, प्रयोजन है। जैसे मन पदार्थ को प्रभावित करता है, वैसे ही पदार्थ भी मन को प्रभावित करता है। इष्ट और अनिष्ट—दोनो प्रकार के कर्म-विपाको मे पुद्गलो का योग रहता है। पौद्गलिक परिणतिया उन विपाको को बढा भी सकती हैं और कम भी कर सकती है।

एक आदमी मदिरा पीता है। मदिरा मोह-कर्म के विपाक मे निमित्त बनती है। मूर्च्छा आ जाती है। क्या ऐसा पदार्थ नही हैं, जिसके सेवन से हमारी जागृति

वन जाये, मोह कर्म का विपाक कम हो जाये ? ऐसे पदार्थ हैं। ऐसा हो भी सकता है। यदि एक वस्तु के सेवन से काम-वासना को उत्तेजना मिलती है तो क्या ऐसी वस्तु नही हो सकती, जिसके सेवन से काम-वासना शात हो जाये ? ऐसे पदार्थ हैं। पदार्थों का अभाव नही है। अभाव हमारी जानकारी का हो सकता है। जव परीक्षा का समय आता है, तव अनुभवी माता-पिता अपने वच्चो को ऐसी औषधियो का सेवन करवाते हैं, जिनसे वच्चो की वुद्धि, स्मरण-शक्ति तीव्र होती है और वह उनकी परीक्षा मे सहयोगी वन जाती है।

ध्यान-काल मे शक्ति का व्यय होता है। मस्तिष्क की शक्ति वहुत खर्च होती है। हमारे मस्तिष्क की विद्युत् को वहुत काम करना पडता है। अधिक ऊष्मा पैदा हो जाती है। व्यय अधिक होता है। मैंने एक होम्योपैथिक चिकित्सक से पूछा कि शक्ति-सतुलन को वनाये रखने के लिए क्या अमुक पदार्थ का सेवन उचित होगा ? उसने कहा—वहुत ही उचित रहेगा। जो शक्ति खर्च होती है, वह इस पदार्थ से मिल जायेगी। शक्ति का सतुलन वना रहेगा। ध्यान मे सहयोग मिलेगा।

सरदारशहर के सेठ सुमेरमलजी दूगड के सुपुत्र भवरलालजी एक कुशल चिकित्सक थे। वे वहुत ही अनुभवी थे। उन्होने पन्द्रह-वीस वर्ष पूर्व मुझसे एक दिन कहा—आपको मस्तिष्क की शक्ति का अधिक व्यय करना पडता है। लिखना, पढना और चितन-मनन अधिक करना पडता है। इन कार्यों मे मस्तिष्क की शक्ति का वहुत व्यय होता है। आप अभी से यह ध्यान रखें कि शक्ति का सतुलन वना रहे, जितना व्यय हो, वह पूरा होता रहे। नही तो फिर कठिनाइया पैदा हो सकती हैं। उन्होंने कुछ उपाय भी सुझाए। उन्होने कहा—आप सूखे आवलो का सेवन करें, काली मिर्च का सेवन करें। कभी-कभी मुक्ता का सेवन करते रहे, जिससे कि जो मस्तिष्कीय शक्ति खर्च होती है, वह पूरी होती रहे।

मैंने समय-समय पर इनका उपयोग किया और वहुत लाभ उठाया। पुद्गल जैसे कर्म के विपाक मे निमित्त वनते हैं, वैसे ही कर्म के क्षयोपशम मे भी निमित्त वनते हैं। कर्म का विपाक भी निमित्तो के विना नही हो सकता। हम निमित्तो की वात को न भूलें।

आवेगो के उपशमन मे जैसे हमारी आन्तरिक परिणतियो को वदलने की जरूरत है, वैसे ही निमित्तो को जानने और उनको वदलने के प्रयोग की भी जरूरत है।

१६

स्वतंत्र या परतंत्र ?

- हम कर्म करने में स्वतंत्र या परतन्त्र ?
- चैतन्य का सतत अनुभव करते है तो हम स्वतन्त्र है।
- चैतन्य का अनुभव जब विस्मृत होता है, तब हम परतन्त्र है।
- मनुष्य अपने कर्तृत्व में स्वतन्त्र, परिणाम भोगने मे परतन्त्र।
- स्वतन्त्रता का स्वयंभू प्रमाण—

  हमारे चैतन्य का विकास, हमारे आनन्द का विकास।

  हमारी शक्ति का विकास, हमारा पूर्ण जागरण।
- उपादान को उत्पन्न करने की शक्ति किसी मे नही।
- कर्म आत्मा के उपादानभूत स्वभावो को पैदा नही कर सकते।
- आत्मा के उपादानभूत स्वभाव—अनत चैतन्य, अनत आनन्द, अनत शक्ति, अनंत जागरण।



द्रव्य का अपना-अपना स्वभाव होता है। स्वभाव कभी भी निर्मूल नही होता, उसे कभी निरस्त नही किया जा सकता। विभाव स्वभाव को कुछ विकृत भी कर सकता है, आवृत भी कर सकता है, किन्तु निरस्त नही कर सकता, शून्य नही कर सकता।

आवेग चैतन्य का स्वभाव नही है। वह चैतन्य के साथ उत्पन्न मूढता है। वह मोह है, विकृति है किन्तु स्वभाव नही है। इसीलिए यह संभावना शेष रहती है कि आवेग को निरस्त किया जा सकता है। उस योग को दूर किया जा सकता है

जो आकर जुड गया है। उसे काटा जा सकता है। उसे काटने के अनेक उपाय हैं, अनेक साधन हैं। उन सब साधनो मे महत्त्वपूर्ण साधन है—चैतन्य का अनुभव, सवर, शुद्ध उपयोग। जब हम चैतन्य के अनुभव मे होते हैं तब सवर की स्थिति होती है, हमारा सवर होता है। जब चैतन्य का अनुभव होता है तब कोई आवेग हो नही सकता। आवेग तब होता है जब हमारा चैतन्य का अनुभव लुप्त हो जाता है। जब चैतन्य पर मूर्च्छा छा जाती है, जब चैतन्य पर ढक्कन आ जाता है, तब आवेग को उभरने का अवसर मिलता है। जब चैतन्य की अनुभूति होती है तब आवेग आ ही नही सकता।

हमारी साधना का सूत्र है—चैतन्य का सतत अनुभव। जब चैतन्य के अनुभव की स्थिति निरतर बनी रहती है तब हमारा सवर पुष्ट होता रहता है। सवर के आते ही द्वार बद हो जायेगा। चैतन्य का अनुभव होते ही सब द्वार बद हो जायेंगे। कोई द्वार खुला नही रहेगा। सब द्वार बद, सब खिडकिया बद। उस समय न आवेग आ सकता है, न उत्तेजना आ सकती है और न वासना आ सकती है। कुछ भी नहीं आ सकता। सब विच्छिन्न हो जाते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा कि साधना का चरम शिखर है—'अयोग'। वहां सब योग समाप्त हो जाते हैं। यह 'अयोग' शब्द बडा जटिल है। सभी आचार्यों ने शब्द चुना—'योग'। उन्होने कहा—योग की साधना करो। भगवान् महावीर ने कहा—'नही, अयोग की साधना करो। योगो को समाप्त करो, सबधो को तोडो।' इसमे क्या होगा ? इससे सब कुछ घटित हो जायेगा। क्योकि पाना कुछ भी नही है। बाहर से लेना कुछ भी नही है। हम सब अपने आप मे परिपूर्ण हैं। कुछ भी उपादेय नही है। बाहर ऐसी कोई भी वस्तु नही है जो अपने लिए हितकर हो। बाहर जितनी वस्तुए हैं उन्हे छोडना ही हितकर है। सब सबधो को तोडना, अयोग करना ही हितकर है। अतिम शिखर है—अयोग। जब सम्यक्त्व का सवर हो जाता है, व्रत का सवर हो जाता है, अप्रमाद का सवर हो जाता है, अकषाय का सवर हो जाता है, तब अतिम शिखर आता है—अयोग सवर। जहा हमने सारे सबध काट डाले वहा अयोग हो जाता है। वहा पूर्ण विकास हो जाता है, परमात्मा की पूर्ण स्थिति उपलब्ध हो जाती है। अयोग सवर के घटित होते ही, जो पौद्गलिक सबध आत्मा के साथ हैं, वे सब एक साथ विच्छिन्न हो जाते हैं। जब चैतन्य का अनुभव प्रारभ होता है तब योग टूटने शुरू होते हैं। मूढता का गहन वलय टूटने लग जाता है। कर्मों के जितने सबध हमने स्थापित किये हैं वे सारे के सारे चैतन्य की विस्मृति के कारण हुए हैं। जब-जब चैतन्य की विस्मृति होती है तब-तब कोई न कोई पुद्गल हमारे साथ जुड जाता है और अपना प्रभाव जमा लेता है। हम जब अपने चैतन्य के अनुभव मे होते हैं, जब हम अपना होश सभालते हैं, तब उन पुद्गलो का प्रभाव मद होने लग जाता है, वह लुप्त होने लग जाता है। पुद्गल धीरे-धीरे

खिसकने लग जाते है, दूर होने लग जाते हैं। उस समय हमारा अस्तित्व उजागर होता है।

वहुत वार ये प्रश्न सामने आते है कि हम स्वतत्र है या परतत्र ? हम कर्म करने मे स्वतत्र हैं या परतंत्र ? हम कर्म का फल भोगने मे स्वतत्र हैं या परतत्र ?

स्वतंत्रता और परतत्रता का निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता। दोनो सापेक्ष कथन हैं। हम स्वतत भी हैं और परतत्र भी हैं। हम चैतन्यवान् हैं। हमारा स्वभाव सभी द्रव्यो से विलक्षण है। किसी भी द्रव्य का स्वभाव चैतन्य नही है, हमारा स्वभाव चैतन्य है, इसलिए हम स्वतत्र हैं। किन्तु चैतन्य का अनुभव जव-जव विस्मृत होता है, इस चैतन्य की आग पर जव-जव कोई राख आ जाती है, जव-जव यह जलती हुई आग उस राख से ढक जाती है तव-तव हम परतत्र हो जाते हैं। स्वतंत्रता और परपत्रता का उत्तर सापेक्षदृष्टि से ही दिया जा सकता है। इनका निरपेक्ष उत्तर नही हो सकता।

हमने कोई क्रिया की, कर्म किया। निश्चित है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होगी। ऐसी एक भी क्रिया नहीं है जिसकी प्रतिक्रिया न हो। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। क्रिया करने मे आदमी स्वतत्र है, किन्तु प्रतिक्रिया मे वह परतत्र है। 'कडेण मूढो पुणो त करेई'—जो किया है उससे मोह पैदा होता है। व्यक्ति मूढ हो जाता है और वह फिर उसे दोहराता है। एक वार आदमी कोई काम कर लेता है। दूसरी वार उस काम को दोहराना ज़रूरी हो जाता है क्योकि उसका सस्कार वन जाता है। उस सस्कार के आधार पर दूसरी वार वैसी परिस्थिति आने पर वैसा करने की प्रेरणा मिलती है। वह हमारी मानसिक आदत वन जाती है। फिर उसको दोहराने का मन होता है। व्यक्ति मूढ वनकर उस क्रिया को दोहराता जाता है, करता जाता है। तव हम परतत्र हो गये। हमने कुछ किया, एक सस्कार निर्मित हो गया, एक आदत वन गयी, फिर वह करना ही पडेगा। यह परतत्रता की वात है। हम परतत्र है, पर स्वतत्र भी हैं। हमारी चैतन्य-शक्ति, हमारी सकल्प-शक्ति इतनी प्रवल है कि वह यदि जाग जाये कि यह काम करना ही नही है, इतना दृढ सकल्प हो जाए तो फिर सस्कार कितना ही प्रवल हो, हम उसे एक झटके मे ही तोड डाल सकते हैं।

स्वतत्रता और परतत्रता—दोनो को सापेक्षदृष्टि से ही समझा जा सकता है। एक आदमी नारियल, खजूर या ताड के वृक्ष पर चढ गया। चढने मे वह स्वतत्र है। वह अपनी इच्छा से ऊपर चढ गया। अव उतरने मे वह स्वतत्र नही है। क्यो ? चढने की एक क्रिया है। अव चढ गया तो उतरना भी पडेगा। चढने मे वह स्वतंत्र है, पर उतरने मे परतंत्र है। अव उसे उतरना इसलिए पडेगा कि वह चढ गया। चढने का परिणाम है उतरना। उतरना कोई स्वतत्र क्रिया नही है।

मोहम्मद साहब के एक शिष्य का नाम था अली। उसने एक बार पूछा—हम काम करने मे स्वतन्त्र हैं या परतन्त्र ? मोहम्मद साहब ने कहा—'अपने बाए पैर को उठाओ।' उसने अपना बाया पैर ऊपर उठा लिया। फिर मोहम्मद साहब ने कहा—'अच्छा, अब अपने दाए पैर को उठाओ।' अली असमजस्य मे पड गया। बाया पैर पहले से ही उठाया हुआ है। अब दाया पैर ऊपर कैसे उठाया जाए ? उसने कहा—साहब ! यह कैसे सभव हो सकता है कि मैं दाया पैर भी ऊपर उठा लू ? मोहम्मद साहब ने कहा—'एक पैर उठाने मे तुम स्वतन्त्र हो, दूसरा पैर उठाने मे स्वतन्त्र नही हो, परतन्त्र हो।'

स्वतन्त्रता और परतन्त्रता—दोनो सापेक्ष हैं। उन्हे निरपेक्ष समझना भूल है। आदमी अपने कर्तृत्व मे स्वतन्त्र है, पर परिणाम भोगने मे परतन्त्र है। कर्तृत्व-काल मे हम स्वतन्त्र हैं, पर परिणाम-काल मे हमे परतन्त्र होना पडता है। विकास करने मे हम स्वतन्त्र हैं। हमारा जितना विकास होता है उसमे हमारा स्वतन्त्र कर्तृत्व बोलता है। उसमे हम स्वतन्त्र हैं। किसी भी कर्म के द्वारा हमारा विकास नही होता। कर्म के द्वारा हमारे विकास का अवरोध होता है। आप सोचेंगे कि शुभ नामकर्म के द्वारा अच्छा फल मिलता है, अच्छा नाम होता है, पदार्थो की उपलब्धि होती है, यश मिलता है। यह कोई आत्मा का विकास नही है। ये सब पौद्गलिक जगत् मे घटित होने वाली घटनाए हैं। इनसे आत्मा का विकास नही होता। आत्मा का स्वभाव है—चैतन्य। आत्मा का स्वभाव है—आनन्द। आत्मा का स्वभाव है—शक्ति। चैतन्य का विकास, आनन्द का विकास, शक्ति का विकास, किसी भी कर्म के उदय से नही होता। कर्म इन सब प्रकार के विकासो को रोकता है, बाधा डालता है, अवरोध उत्पन्न करता है। कोई भी पुद्गल विकास का मूल हेतु नही बनता।

हमारे चैतन्य का विकास, हमारे आनन्द का विकास, हमारी शक्ति का विकास, हमारा पूर्ण जागरण इसलिए होता है कि हम स्वतन्त्र हैं। हमारे स्वतन्त्र होने का स्वयभू प्रमाण है कि हमारा विकास होता है और हमारा विकास इसलिए होता है कि हम स्वतन्त्र हैं। यदि हम स्वतन्त्र नही होते तो यह विकास कभी नही होता। कर्मो के उदय से बाधाए उपस्थित होती रहती हैं। हमारा विकास कभी नहीं होता। विकास इसलिए होता है कि हमारी स्वतन्त्र सत्ता है, हमारा स्वतन्त्र उपादान है।

मिट्टी घडा बनती है। यह कोई कुभकार की अगुलियो का चमत्कार नही है। मिट्टी में घडा बनने का उपादान है। उसमे उपादान है तभी वह घडा बनती है। इस निर्मिति मे दूसरे-दूसरे अनेक निमित्त भी सहायक हो सकते हैं। परन्तु मिट्टी का घडे के रूप मे परिवर्तित होने का मूल है उपादान। उपादान को उत्पन्न नही किया जा सकता। दूसरे-दूसरे साधन सहायक-सामग्री बन सकते हैं परन्तु वे

सब मिलकर भी उपादान को उत्पन्न नही कर सकते। उपादान को उत्पन्न करने की शक्ति किसी मे नही हैं।

उपादान वही होता है जो द्रव्य का घटक होता है। कर्म मे यह शक्ति नही है कि वह आत्मा के उपादानभूत स्वभावो को पैदा कर सके। कर्म मे यह शक्ति नही है कि वह आत्मा मे ज्ञान के पर्यायो को उत्पन्न कर सके, चैतन्य के पर्यायो को उत्पन्न कर सके, आनन्द के पर्यायो को उत्पन्न कर सके, शक्ति के पर्यायो को उत्पन्न कर सके। कर्म यह कभी नही कर सकते, क्योकि ये सब कर्म के स्व-भाव नही हैं। चैतन्य, आनन्द और शक्ति—ये आत्मा के उपादान हैं। इसलिए आत्मा ही उनका घटक है। आत्मा मे ही यह शक्ति है कि वह अपने पर्यायो को उत्पन्न कर सकता है। वह अपने इन सब पर्यायो को उत्पन्न कर सकता है इसीलिए उसका स्वतंत्र कर्तृत्व है, अबाधित कर्तृत्व है। यह हमारे स्वतत्र कर्तृत्व का पक्ष है।

एक दूसरा पक्ष और है। आत्मा के साथ राग-द्वेष का परिणाम जुडा हुआ है। राग-द्वेष की धारा प्रवाहित है, इसलिए आत्मा के साथ परमाणुओ का सयोग होता है। वे परमाणु जुडते हैं, आत्मा को प्रभावित करते हैं। वे आत्मा के कार्य को प्रभावित करते हैं, आत्मा के कर्तृत्व को प्रभावित करते है। यह इसलिए होता है कि आत्मा के साथ शरीर का योग है। प्रभाव का आदि-बिन्दु है—शरीर। हमारी परतत्रता का आदि-बिन्दु है—शरीर। आत्मा के साथ शरीर है, इसलिए हम परतत्र हैं। हम स्वतत्र कहा हैं? शरीर हैं इसलिए भोजन चाहिए। आत्मा को कभी भोजन की आवश्यकता ही नही है। उसे कभी भूख नही लगती। चैतन्य को कभी भूख नही लगती। भूख लगती है पुद्गल को, शरीर को। शरीर है इसलिए भूख है, भूख है इसलिए भोजन है। भूख है इसलिए प्रवृत्ति का चक्र चलता है। यदि भूख न हो तो आदमी की सारी प्रवृत्तिया सिमट जायें। एक भूख है, इसलिए आदमी को बहुत कुछ करना पडता है—व्यवसाय करना पडता है, धधा करना पडता है, नौकरी करनी पडती है, न जाने क्या-क्या करना पडता है। आदमी रोटी के लिए, पेट की आग को बुझाने के लिए बहुत कुछ करता है, सब कुछ करता है।

शरीर है, इसलिए काम-वासना है। शरीर का सारा चक्र काम के द्वारा सचालित है। एक प्राणी दूसरे प्राणी को पैदा करता है। यह पैदा करने वाली शक्ति है—काम। आहार की वृत्ति है, काम-वासना की वृत्ति है, यह हमारी परतत्रता है। इन सारी परतत्रताओ मे राग-द्वेष का चक्र चल रहा है।

शुद्ध चैतन्य है, इसलिए हम स्वतत्र हैं।

राग-द्वेष-युक्त चैतन्य है, इसलिए हम परतत्र है।

दो पक्ष हैं। एक पक्ष है—स्वतत्रता का और दूसरा पक्ष है—परतत्रता का। चैतन्य की ज्योति सर्वथा लुप्त नही होती, इसलिए हमारी स्वतत्रता की धारा भी

सदा प्रवाहित रहती है। हम शरीर, कर्म और राग-द्वेष से वधे हुए है, इसलिए हमारी परतत्रता की धारा भी सतत प्रवाहित रहती है। हमारा व्यक्तित्व स्वतत्रता और परतत्रता का सगम है। उसे किसी एक ही पक्ष मे नही वाटा जा सकता। उसे निखालिस सोना नही वनाया जा सकता। सूर्य कितना ही प्रकाशवान् हो किन्तु दिन और रात का भेद नही मिटाया जा सकता। कितने ही वादल छा जाए, अधकार छा जाये, वे सव सूर्य को ढक दें, पर दिन दिन रहेगा और रात रात। दिन और रात का भेद समाप्त नही किया जा सकता। स्वतत्रता चलती है तो परतत्रता भी चलेगी। परतत्रता चलती है तो स्वतत्रता भी चलेगी। स्वतत्रता का घटक है—शुद्ध चैतन्य और परतत्रता का घटक है—राग-द्वेषयुक्त चैतन्य।

प्रश्न होता है कि क्या जो कुछ भी घटित होता है वह सव कर्म से नियन्त्रित ही है ? उसी का परिणाममात्र है ? यदि ऐसा है तो फिर किसी को दोप नही दिया जा सकता। कोई झूठ वोलता है, कोई चोरी करता है, कोई डाका डालता है, तो यह सव करने वाले का दोष नही है, क्योकि यह सव पूर्ववर्ती कर्म का परिणाम है। इसमे किसी को दोषी नही ठहराया जा सकता। किसी पर चोट की और उसे यह समझाया कि भाई ! यह तुम्हारे पूर्वार्जित कर्म का ही परिणाम है, कर्म का ही योग है—ऐसा कहकर चोट करने वाला वच सकता है। वह दोपी नही हो सकता। पूर्ववर्ती कर्म ही तो उससे ये सारी क्रियाए करवा रहे हैं तो फिर वह क्या करे ? यह सारा भ्रम है। हर अपराधी अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करता है, उससे वच निकलने का प्रयास करता है। वह अपने आपको निर्दोष मानता है। वह कह सकता है—मैंने कुछ भी नही किया। सव कुछ कर्म करवाता है। जैसा कर्म है वैसा करना ही पडता है।

यह धारणा सही नही है कि जो कुछ घटित होता है वह सव कर्म से ही होता है। व्यक्ति की अपनी स्वतत्र सत्ता भी है। ऐसी अनेक घटनाए घटित होती हैं जो पहले के कर्मो से नियन्त्रित नही होती।

स्थानाग सूत्र मे रोग की उत्पत्ति के नौ कारण वतलाए हैं—

१ निरतर वैठे रहना।
२ अहितकर भोजन करना। अति भोजन करना।
३. अति निद्रा।
४ अति जागरण।
५. मल का निरोध करना।
६. प्रस्रवण का निरोध करना।
७ पथगमन।
८. भोजन की प्रतिकूलता।
९ कामविकार।

इन कारणो से रोग की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु इनमे एक भी कारण ऐसा नही है जिसे हम पूर्व कर्म-कृत कह सकें। अधिक आहार से रोग पैदा होता है, अधिक नींद लेने से रोग पैदा होता है और अधिक जागरण से भी रोग पैदा होता है। आहार, नींद और जागरण—ये हमारे क्रिया-पक्ष है। ये किसी कर्म के उदय नही हैं। कोई भी कर्म इनमे काम नही करता। हमारा व्यवहार ही इनमे काम करता है। इन सब घटनाओ से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व कर्म ही इनका घटक नही है। उत्तरवर्ती क्षण का कारण पूर्ववर्ती क्षण ही नही होता। वही उसका उत्तरदायी नही होता। उसका अपना स्वतत्र भी कुछ है।

अकाल-मृत्यु के सात कारण बतलाए गए हैं—

१ राग, स्नेह और भय आदि की तीव्रता।

२ शस्त्र-प्रयोग।

३. आहार की न्यूनाधिकता।

४ आख, कान आदि की तीव्रतम वेदना।

५. पराघात—गढे आदि मे गिरना।

६. साप आदि का स्पर्श।

७. आन-अपान का निरोध।

अकाल-मृत्यु के ये सात कारण है। मृत्यु का समय नही है, किन्तु अकाल मे ही मृत्यु की घटना घटित हो जाती है। इन कारणो मे एक कारण है—स्पर्श। कोई जा रहा है। रास्ते मे साप ने काट लिया। वह मर गया। एक आदमी शात बैठा है। ऊपर से भारी चीज़ उस पर आकर गिरी और वह मर गया। भारी पत्थर ऊपर से अचानक गिरा और दो-चार व्यक्ति 'उसके नीचे दबकर मर गये। यह सब अकाल-मृत्यु है। यह किसी-न-किसी निमित्त से घटित होती है, किन्तु इसमे कोई कर्म कारण नही बनता। आकाश मे दो विमान टकरा गये। पाच सौ आदमियो की तत्काल मृत्यु हो गई। विमानो की टक्कर किसी कर्म के योग से नही हुई। आकस्मिक घटना घटी और पाच सौ आदमी मृत्यु की गोद मे सो गये। ऐसी आकस्मिक घटनाओ की व्याख्या हम कर्म के आधार पर नही कर सकते।

प्रतिप्रश्न होता है कि क्या रोग का होना किसी भी कर्म से सबधित नही है ? अकाल-मृत्यु का होना क्या किसी भी कर्म से सबधित नही है ? सबधित है। इसे हमे समझना है। ये घटनाए कर्म के सहारे घटित नही होती। रोग होना एक घटना है। रोग हुआ। एक घटना घटित हुई। उसका कारण है अमनोज्ञ भोजन। दूषित आटा मिला, विष-मिश्रित पदार्थ मिला, रोग हो गया। बीमारी हो गयी। इसे हम सयोग कहेगे। रोग होना असातवेदनीय कर्म का उदय है। अहितकर भोजन करने से वह उदय मे आ गया, विपाक मे आ गया। किन्तु जो अहितकर भोजन खाया वह असातवेदनीय कर्म के उदय से नही खाया। इसे हम और स्पष्टता

से समझें। यदि अहितकर भोजन असातवेदनीय कर्म के उदय से खाया गया हो तो हम कह सकते है कि कर्म के कारण यह परिणाम भोगना पडा। किन्तु सयोगवश अहितकर भोजन खाने मे आ गया। रोग हो गया। उसे हम कर्म का परिणाम नही मान सकते। अहितकर भोजन करना और अहितकर भोजन करने से रोग होना, इन दोनो मे वहुत वडा अतर है। अहितकर भोजन की घटना कर्म के कारण नही हुई, किन्तु उस घटना के घटित होने के कारण कर्म का विपाक हो गया। विमान की दुर्घटना आयुष्यकर्म के कारण घटित नही हुई किन्तु विमान की दुघटना हुई इसलिए आयुष्य कर्म की उदीरणा हो गयी। आयुष्य कर्म की उदीरणा होना और विमान का दुर्घटनाग्रस्त होना—ये दो वातें हैं। इनका परस्पर सवध नही है। विमान की दुर्घटना हुई इसलिए आयुष्य समाप्त हो गया—यह सवध हो सकता है। किन्तु उससे पहले इस घटना के साथ आयुष्य कर्म का संवध नहीं है।

प्रश्न होता है कि क्या ऐसा हो सकता है? क्या सैंकडो आदमियो का आयुष्य एक साथ समाप्त हो सकता है? हा, ऐसा हो सकता है। आयुष्य कर्म के दो प्रकार हैं—सोपक्रम आयुष्य और निरुपक्रम आयुष्य। कुछेक कारणो से आयुष्य कर्म मे परिवर्तन हो सकता है, वह सोपक्रम आयुष्य है। जहा कोई भी निमित्त काम नही देता, आयुष्य कर्म मे परिवर्तन लाने मे कोई निमित्त सक्षम नही होता, वह है निरुपक्रम आयुष्य। इतना शक्तिशाली होता है यह आयुष्य कर्म कि निमित्त का उस पर कोई प्रभाव नही पडता। उसमे इतनी तीव्र ऊर्जा और शक्ति होती है कि सारे निमित्त नीचे रह जाते हैं, वह ऊपर तैरता रहता है। इसमे कोई परिवर्तन नही लाया जा सकता। आयुष्य का जितना कालमान होता है, उसके पूरे होने पर ही प्राणी की मृत्यु होती है, पहले-पीछे नही। इसमे किसी भी निमित्त से उस प्राणी की मृत्यु सभव नही होती। ऐसी घटनाए घटित होती है, ऐसे निमित्त मिलते है कि एक साथ हजारो मनुष्य मर जाते हैं। यह सव सोपक्रम आयुष्य का खेल है। निमित्त से कर्म विपाक मे आ जाता है।

असात वेदनीय कर्म का वध हुआ। उसका परिणाम यह है कि वह व्यक्ति को प्रतिकूल सवेदन करायेगा। उसके विपाक से प्रतिकूल सवेदन होगा। प्रतिकूल सवेदन किस रूप मे होगा—यह सव निमित्तो पर आधारित है। किस काल, देश, क्षेत्र मे होगा, यह अनेक वातो पर आधारित है।

दो आदमी हैं। एक मद्रास का है और दूसरा राजस्थान का। मद्रास के आसपास रहने वाले व्यक्तियो मे एक वीमारी पायी जाती है। अनेक व्यक्तियो के पैरो मे सोथ आ जाती है। वे हाथी के पैर जैसे हो जाते हैं। राजस्थान मे ऐसा नही है।

राजस्थान मे लू चलती है। यहा के लोगो के घुटनो मे दर्द रहता है। शीत-प्रधान देश मे शीत-जन्य बीमारिया अधिक होती हैं और उष्ण-प्रधान देश मे

उष्णता-जन्य बीमारिया अधिक होती हैं। सारी घटनाओं मे द्रव्य, क्षेत्र और काल का प्रभाव रहता है। सभी प्रदेशो के आदमियो को असातवेदनीय कर्म को भुगतना पडता है। प्रत्येक मनुष्य का भौगोलिक और द्रव्यगत कारण भिन्न-भिन्न होता है। उसी के अनुसार कर्मों का विपाक भुगतना होता है। जहा भौगोलिक भिन्नता और द्रव्यगत भिन्नता आती है वहा असातवेदनीय कर्म के भोगने मे भी भिन्नता आ जाती है। लू लगने की बीमारी यदि असातवेदनीय कर्म के कारण ही हो तो यह क्यो होता है कि राजस्थान के आदमी को ही लू लगे और मद्रास वाले को न लगे। कर्म के क्षेत्र मे यह पक्षपात नही होना चाहिए। फिर जैसे कुछ लोग ईश्वर पर पक्षपात का आरोप लगाते हैं कि ईश्वर ने एक को ऐसा बना दिया और एक को वैसा, वही पक्षपात का आरोप कर्म पर लगाया जायेगा। किन्तु यह पक्षपात नही है। यह अतर आता है भौगोलिकता के कारण। जहा गर्मी का प्रकोप होता है तथा अन्यान्य कुछ कारण और मिलते हैं, वहा लू लगती है। जहा गर्मी नही है, अन्यान्य कारण नही है, वहा लू नही लगती। लू लगना या न लगना कर्म के अधीन नही है। किन्तु लू लगती है, इसके कारण असातवेदनीय कर्म का उदय हो जाता है। सर्दी मे ब्रोकाइटिस आदि बीमारिया होती है। उनके कारण असातवेदनीय कर्म का उदय होता है। ठडे देश का आदमी गोरा होगा, उष्ण देश का आदमी काला और कुछ देशो के आदमी उजले होगे। गोरा होना, काला होना, और उजला होना—यह नामकर्म के कारण नही है किन्तु इसमे भौगोलिकता और प्रादेशिकता का निमित्त है।

बहुत सारी घटनाए ऐसी है जिनके कारण कर्म का विपाक होता है किन्तु कर्म के विपाक के कारण ये घटनाएं घटित नही होती।

दो शब्द हैं—कर्म और नो-कर्म। नो-कर्म वह है जो कर्म तो नही है किन्तु कर्म का सहायक है। भौगोलिकता, वातावरण, पर्यावरण, परिस्थितिया—ये सारे नो-कर्म हैं। ये कर्म नही, कर्म के उदय मे सहायक तत्त्व हैं।

हम यह तथ्य हृदयगम कर लें कि प्रत्येक घटना कर्म से ही घटित नही होती। इसलिए हम पूर्णरूप से परतत्र नही हैं। यदि प्रत्येक क्रिया कर्म से ही घटित होती—विमान की दुर्घटना हो वह भी कर्म से, दो मोटरो की टकराहट हो वह भी कर्म से, अतृप्ति हो वह भी कर्म से, सारे प्राकृतिक प्रकोप हो वे भी कर्म से—यदि ऐसा होता है तो कर्म का वैसा ही साम्राज्य हो जायेगा जैसा ईश्वर का साम्राज्य माना जाता है। उसका भी सर्व-शक्तिसपन्न साम्राज्य हो जायेगा। कर्म ही सब कुछ हो जायेगा। फिर हम चाहे ईश्वर को मानें या कर्म को—कोई अतर नही होगा। केवल नाम का अंतर होगा। किन्ही लोगो ने सर्व-शक्ति-सपन्न सत्ता को ईश्वर कह दिया और किन्ही ने सर्व-शक्ति-सपन्न सत्ता को कर्म कह दिया। सर्व-शक्ति-संपन्न सत्ता मे कोई परिवर्तन नही हुआ। कर्म सर्व-शक्ति-सपन्न सत्ता नही है।

उसकी अपनी सीमा है। वह आत्मा पर प्रभाव डालता है किन्तु उसी आत्मा पर प्रभाव डालता है जिसमे राग-द्वेष है। राग-द्वेष-रहित चेतना पर कर्म का कोई प्रभाव नही पडता। प्रभाव वह अपनी सीमा मे ही डालता है। दूसरे क्षेत्रो मे वह अपना प्रभाव नही डाल सकता। कर्म की सार्वभौम सत्ता नही है। सीमित ही उसकी सत्ता है और सीमित ही उसका प्रभाव है। इसलिए हम स्वतत्र भी हैं। स्वतत्र हैं इसीलिए आवेगो को शात करने की हमारी मनोवृत्ति है, कामना है। हम आवेगो को शात कर सकते हैं—इसलिए हमारी साधना है। यदि हम आवेगो को शात नही कर सकते तो साधना व्यर्थ है। यदि हम यह मानते ही चले जायें कि जैसा कर्म मे लिखा है वही होगा, साधना लिखी है तो साधना आ जायेगी, अधिक वोलना लिखा होगा तो अधिक वोलेंगे, झगडा करना लिखा होगा तो झगडा करेंगे—तब तो कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। जैसा लिखा है वैसा होगा। किन्तु यह भ्राति है।

साधना का मूल सूत्र यही है कि कर्म ही सब कुछ नही है। साधना का मूल प्रयोजन है कि आत्मा अपने स्वरूप मे आ जाये, जाग जाये, जागरण की एक चिनगारी भी मिल जाये। वस, इतना पर्याप्त है। यह मार्ग मिल जाये तो फिर साधक विना रोक-टोक आगे वढ सकता है और आत्मा को पूर्ण अनावृत करने मे सक्षम हो सकता है।

१७

कर्मवाद के अंकुश

- कर्मवाद पर तीन अकुश
  1. आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतत्र अस्तित्व।
  2. परिवर्तन का सिद्धांत।
  3. विपाक की सापेक्षता।
- कर्ममुक्ति के दो साधन—सवर और तप।
- मूर्च्छा का पहला माध्यम—देहासक्ति।
- देहासक्ति से मुक्त होने के पाच सूत्र

  मत खाओ। कम खाओ। रसो को छोड़ो। खाने मे विविध प्रयोग करो। शरीर को साधो, कष्ट-सहिष्णु बनो।
- कर्म के अस्तित्व के चार प्रमाण—
  - संसार की विविधता।
  - मनुष्य की रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति।
  - चचलता।
  - पुद्गल और जीव का परस्पर प्रभाव।



कर्म का केंद्र-बिंदु है—मूर्च्छा। साधना का केंद्र-बिंदु है—जागृति, जागरण। आदमी मूर्च्छित है। कितने काल से मूर्च्छित है इसका पता भी नही लगाया जा सकता। उसकी मूढता अनादिकाल से है। इस घोर तमिस्रा का आदि-बिंदु अज्ञात है। प्रकाश की कोई रेखा फूटे, यह साधना के द्वारा ही सभव है। कोई काललब्धि ऐसी हो सकती है कि व्यक्ति को जागरण मिल जाये या ऐसा कोई निमित्त मिल

सकता है जिससे जागृति का कोई बिंदु स्फुटित हो जाये, कोई प्रकाश की किरण फूट जाये। मूर्च्छा और जागृति—दोनो एक-दूसरे के विरोधी हैं। मूर्च्छा जागृति नही है और जागृति मूर्च्छा नही है।

अध्यात्म-शास्त्र का सूत्र है—जागृति और कर्म-शास्त्र का सूत्र है—मूर्च्छा। मूर्च्छा को तोडना और जागृत होना—ये दो बातें हमारे सामने है। जैसे-जैसे मूर्च्छा टूटती है वैसे-वैसे जागृति बढती है। मूर्च्छा आस्रव है और जागृति सवर है। एक आस्रव है। वह उसे लाती है जो नही चाहिए। आस्रव द्वार है। इससे सब-कुछ आता है। वह आता है जो वाछनीय नही है, जिसकी कोई अपेक्षा नही है। किंतु द्वार खुला है इसलिए आ रहा है। उसे रोका नही जा सकता। सवर का अर्थ है—द्वार का बद हो जाना। आस्रव है—राग-द्वेषात्मक परिणति। जीव का जो राग-द्वेषात्मक परिणाम होता है, वह आस्रव बन जाता है। जब चैतन्य का अनुभव जागृत होता है वह स्वय सवर बन जाता है। सवर है चैतन्य का अनुभव।

मूर्च्छा एक बिंदु है तमोमय, अधकारमय। जब मूर्च्छा सघन होती है तब जागृति अधकारमय हो जाती है। वह बिंदु लुप्त हो जाता है। जब जागृति का बिंदु उभरता है, थोडा-सा प्रकाश आता है तब मूर्च्छा का सघन बिंदु धुधलाने लगता है। राग-द्वेष की तीव्र ग्रथि का भेद होता है। यह पहली बार होता है अपूर्वकरण के द्वारा। अपूर्वकरण अर्थात् चित्त की ऐसी निर्मलता जो पहले कभी प्राप्त नही हुई थी। जो पहले कभी प्राप्त नही होता वह अपूर्व होता है। जो एक बार प्राप्त हो गया वह अपूर्व नही होता। जो घटना पहली बार घटित होती है, वह अपूर्व होती है। यहा राग-द्वेष की गाठ पहली बार टूटने लगती है। जागृति का एक बिंदु उभरता है। जो सघनतम अधकार था वह टूटता है। जैसे-जैसे हमारे चैतन्य का अनुभव आगे बढता है, प्रकाश फैलता है, वैसे-वैसे मूर्च्छा का बिंदु कमजोर होता जाता है। जब चैतन्य का अनुभव स्पष्ट होता है तब सम्यक्त्व सवर बन जाता है। चैतन्य का अनुभव और स्पष्ट होता है तब आकाक्षाए समाप्त होने लगती हैं। अमिट प्यास भी बुझने लगती है, तब व्रत सवर होता है। चैतन्य का अनुभव और अधिक स्पष्ट होता है तब प्रमाद समाप्त होने लगता है, अप्रमाद सवर की स्थिति निर्मित होने लगती है। चैतन्य का अनुभव और अधिक स्पष्ट होता है, कषाय भी समाप्त हो जाता है तब अकषाय सवर की स्थिति बनती है। पूर्ण प्रकाश की स्थिति, वीतरागता की स्थिति आ जाती है। राग-द्वेषात्मक परिणाम के द्वारा जो आस्रव हो रहा था, वह समाप्त हो जाता है और चैतन्य का पूर्ण अनुभव जागृत हो जाता है।

सैद्धातिक भाषा मे कहा जाता है कि मोह के उपशात या क्षीण होने पर सवर होता है। पर सवर कैसे होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है? इस पर हमे गहराई से विचार करना चाहिए। सवर साधना के द्वारा ही हो सकता है। साधना के

अनुभवो के द्वारा ही यह ज्ञात हो सकता है कि संवर कसे हो सकता हे ? मैं कहू कि सवर करें, आस्रव रुक जायेगा, मूर्च्छा का सघन वलय टूट जायेगा। वात तो वहुत ही सीधी-सी लगती है। पर संवर कैसे हो, यह प्रश्न इतना सीधा नही है। साधना के क्षेत्र मे चार शब्द प्रचलित हैं—सयम, चारित्र, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान। सयम करें। इद्रियो का सयम करें, मन का सयम करें, वासनाओ का सयम करें। चारित्र अर्थात् आचरण। हम शुद्ध आचरण करे। सयम सवर की प्रक्रिया है। चारित्र संवर की प्रक्रिया है। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान भी सवर की प्रक्रिया है। अतीत का प्रतिक्रमण होता है और भविष्य का प्रत्याख्यान होता है। तीन क्षण हैं—एक है अतीत का क्षण, एक है वर्तमान का क्षण और एक है भविष्य का क्षण। वीता हुआ क्षण अतीत है, आने वाला क्षण भविष्य है और इन दोनो के वीच का क्षण वर्तमान है। सवर वर्तमान के क्षण मे होता है। जिसने अतीत का प्रतिक्रमण और भविष्य का प्रत्याख्यान किया तो प्रत्युत्पन्न क्षण, जो क्षण उत्पन्न हो रहा है, उस क्षण मे अपने-आप सवर हो जाएगा।

जो आस्रव चल रहा है, उसका प्रतिक्रमण करें। उस आस्रव से आप अपने स्वभाव मे लौट आयें। अपने चैतन्य के अनुभव को छोडकर आप राग-द्वेप के अनुभव मे चले गये थे, अव राग-द्वेप के अनुभव को छोडकर पुन चैतन्य के अनुभव मे आ जायें, संवर हो जायेगा। राग-द्वेप के अनुभव से वापस लौट आना प्रतिक्रमण है। आप संकल्प करें कि आप राग-द्वेप के क्षण मे नही जायेंगे। जव यह सकल्प दृढ हो जाता है तव राग-द्वेप के अनुभव से आप लौट आते है। पुन आप उस अनुभव मे नही जायेंगे। दोनो ओर से राग-द्वेप का अनुभव समाप्त हो जायेगा। यह वीच का क्षण, वर्तमान का क्षण, अतीत और भविष्य के वीच का क्षण, चैतन्य के अनुभव का क्षण हो जायेगा, सवर हो जायेगा।

असंयम के द्वारा आस्रव के द्वार खुलते हैं। मन का असयम, इद्रियो का असयम, शरीर का असयम होता है तव द्वार खुलते है। अनियत्रित स्थिति मे खुलना स्वाभाविक है, उच्छृखलता स्वाभाविक है। जव उच्छृखलता होती है, खुलना होता है तव किसी का आना भी स्वाभाविक वन जाता है। उस समय सवर नही हो सकता। हमने सयम किया। सयम का कार्य है, जो आ रहा था उसे रोक दिया। चारित्र का कार्य है, जो पहले था उस खज़ाने को खाली कर दिया। असयम क्यो होता है ? हमने कुछ विजातीय द्रव्य का सचय कर रखा है। वह अपने साथियो को निमत्रित करता है। हमने अपने ही राग-द्वेप के कारण असयम को पाला और असयम ने मोह का सग्रह किया, मूर्च्छा का सग्रह किया, कपाय को प्रवल वनाया। वही मूर्च्छा और वही मोह दूसरे-दूसरे कर्म-परमाणुओ के लिए स्वागत का द्वार खुला रख रहा है। आओ, आओ, एकत्र हो जाओ। यह जो मूर्च्छा का, मोह का, असयम का प्रयत्न चल रहा है, उसके कारण इतने कर्म-परमाणु आये हैं

कि हमारी आत्मा के, हमारी अखड चेतना के एक-एक कण पर, एक-एक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त परमाणु चिपके बैठे हैं। एक-दो नही, अनन्त-अनन्त परमाणु। अव इन्हे निकालें तो भी कैसे ? इन्होने अपना पूरा अधिकार, अपनी पूरी सत्ता जमा ली है। ये सहजतया वहा से हटना नही चाहते। जिसका अधिकार था, वह चैतन्य सो गया। उसका अधिकार छिन गया। जिसका कोई अधिकार नही था, उसने ऐसा अधिकार जमा लिया कि मानो चैतन्य तो है ही नही, सब कुछ पुद्गल-ही-पुद्गल है। जडता-ही-जडता है। इसलिए हमे यह सदेह भी हो जाता है कि आत्मा है या नही ? आत्मा की वास्तविक सत्ता है या नही ? चैतन्य का कोई स्वतत्र अस्तित्व है या नही ? यह सदेह किसी को नही है। भौतिकता है या नही, यह सदेह किसी को नही है। क्योकि पुद्गल का, भौतिकता का इतना प्रवल साम्राज्य जम गया है कि उसकी प्रवलता मे जो एकमात्र अपौद्गलिक पदार्थ था, वह दव गया। एकमात्र चेतन तत्त्व था, जो जड नही था, अचेतन नही था, वह लुप्त-सा हो गया।

विश्व मे एक मत ही चल पडा कि चैतन्यवाद की कोई स्वतत्र सत्ता ही नही है। सव कुछ जड-ही-जड है, जडवाद ही चल रहा है। इस प्रकार जडवाद की सार्वभौम सत्ता स्थापित हो गयी। ऐसा क्यो हुआ ? इसका मूल कारण रहा है—असयम, आस्रव। असयम ने आस्रव को वल दिया। उपचय होता गया। खज़ाना भरने लगा। भर गया। जव तक जमे हुए खज़ाने को रिक्त नही किया जाता, और नवागंतुक के मार्ग को रोका नही जाता तव तक अपने स्वभाव के अनुभव की वात सफल नही हो सकती। सवर कैसे होगा ? चैतन्य का अनुभव कैसे होगा ? अपने अस्तित्व का अनुभव कैसे होगा ? चैतन्य का अनुभव, अस्तित्व का अनुभव, सवर—ये सव एक ही हैं। सवर का अर्थ ही है—अपने चैतन्य का अनुभव, अपने अस्तित्व का वोध। यह तव तक सभव नही जव तक चय को रिक्त नही किया जाता और द्वार को वद नही किया जाता। चय को रिक्त करने का कार्य चारित्र का है। हमने राग-द्वेष के परिणमन तथा मन, वाणी और शरीर की चचलता के द्वारा ही विजातीय पदार्थों को अपनी ओर खीचा है, उन्हे आकर्षित किया है और उनका सग्रह किया है। जव तक मन, वाणी और शरीर की चचलता समाप्त नही हो जाती, तव तक जो उपचित है, उसे रिक्त नही किया जा सकता, खाली नहीं किया जा सकता। क्योकि कुछ खाली होगा तो नया सग्रह उसका स्थान ले लेगा। यह क्रम अवाधगति से चलता रहेगा।

इस स्थिति मे पहला काम यह होगा कि हम अपने आचरण को समतामय वनाए। भगवान् महावीर ने समता पर सर्वाधिक वल दिया। हम समझते हैं कि जीव मात्र पर समभाव रखना ही समता है, यही धर्म है। यह एक वात है। यह धर्म है ही। किंतु इसका और गूढ अर्थ है। समता का मूल तात्पर्य है अराग का क्षण,

अद्वेप का क्षण। हमारे जीवन के ऐसे क्षण वीते जिनमे न राग हो और न द्वेप हो, वीतरागता का क्षण हो। यह वीतरागता का क्षण ही वास्तव मे समता है। जव वीतरागभाव होगा तव सब प्राणियो के प्रति, सव जीवो के प्रति अपने-आप समता का भाव होगा। उसमे विषमता रहेगी ही नही। किसी भी पदार्थ के प्रति, चाहे फिर वह चेतन हो या अचेतन उच्चावचभाव समाप्त हो जाता है। न घृणा हो सकती है, न अहकार हो सकता है, न वडप्पन का भाव हो सकता है। कुछ भी नही हो सकता वीतरागता के क्षण मे।

वही आचरण सवसे वडा है जो समतापूर्ण हो। समता ही महान् आचरण है। जिस आचरण मे समता नही है अर्थात् तटस्थता नही है, मध्यस्थता नही है, निष्पक्षता नही है, राग-द्वेष की प्रचुरता है, वह महान् आचरण नही हो सकता। वह सामान्य होगा, सामान्य व्यक्ति का आचरण होगा। महान् आचरण वही होगा जो पूर्ण तटस्थ, मध्यस्थभाव से परिपूर्ण और राग-द्वेष की परिणतियो से शून्य है। उसका न इधर झुकाव है और न उधर झुकाव है। दोनो पलडे सम हैं। यह है समता का आचरण। जब समता का आचरण होता है तव विजातीय तत्त्व उखडने लगते हैं। जो तत्त्व विषमता के कारण वद्धमूल हो रहे थे, उनकी जडें हिल उठती हैं, उनकी सत्ता खिसकने लगती है। वे एक-एक कर वहा से हटने लगते हैं। भरा हुआ खज़ाना खाली होने लगता है। एक ओर से यह रिक्त करने का कार्य चलता है तव दूसरी ओर से यह कार्य भी आवश्यक हो जाता है कि रिक्त स्थान मे नये सदस्य आकर न बैठ जायें। जो रिक्त हुआ है, वडे कडे परिश्रम से जो खाली हुआ है, वह फिर भर न जाये। पुराने जा रहे हैं, नये न आ जायें। हमारे चारित्र का निर्माण समता के तत्त्वो से हुआ। भरा हुआ रिक्त होने लगा। अव हमने सीमाओ की घेरावदी करनी प्रारभ की, अपना सयम करना प्रारभ किया। मन को रोका, इद्रियो को रोका, शरीर और वाणी की चचलता को भी रोका। ज़वरदस्त घेरावदी की, सयम किया। अव नये अदर नही आ सकते। पुराने भागते गए, भागते गए। इस स्थिति मे हमारा सयम सधा, हमारा चारित्र वना और सवर निष्पन्न हो गया। यह सवर की प्रक्रिया है।

तत्त्व की व्याख्यामात्र से सवर नही होता। वह होता है साधना के द्वारा। वह होता है अभ्यास के द्वारा। आप जानते जाए, रटते जाएं कि कर्म की अमुक प्रकृतियो के क्षयोपशम के द्वारा सवर हो जायेगा, कभी सवर नही होगा। सवर तव होगा जव प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान तथा सयम और चारित्र—ये चारो तत्त्व हमारी साधना के अग वनेंगे। जव सवर होता है तव मूर्च्छा का सघन वलय अपने आप टूटने लगता है और एक दिन पूर्ण जागरण की स्थिति उपलव्ध हो जाती है। उस अवस्था मे केवल जागरण ही जागरण रहता है।

कर्मशास्त्र को व्याख्यायित करने का, विवेचित करने का और उसे समझने

का यही परिणाम है, यही निष्कर्ष है कि यदि हम साधना करना चाहे तो हमे चैतन्य के अनुभव मे आना होगा। हम ऐसे क्षण विताए जिनमे चैतन्य का अनुभव हो, केवल अपने अस्तित्व का अनुभव हो, राग-द्वेष का अनुभव न हो। कब विताए ? आचार के क्षणो मे, व्यवहार के क्षणो मे। हम कोई भी आचरण करें, किसी के साथ कोई व्यवहार करे, उन क्षणो मे हम समता मे रहे, समता का अनुभव करें। सवर स्वत निष्पन्न होगा।

हम सतत जागृत रहे। मन मे या व्यवहार मे राग-द्वेष की परिणति होते ही तत्काल उससे लौट आए और सकल्प-शक्ति को जागृत करें। हमारा ऐसा दृढ सकल्प वने कि जिससे भविष्य मे राग-द्वेष की परिणति न हो, राग-द्वेपमय क्षण न वीते। सवर की साधना स्वय निष्पन्न होगी। यही साधना की पूरी सार्थकता है। तव साधना देशकालातीत साधना वन जाती है। अभी हमारी साधना देशकालातीत नही है। हमारी साधना देशवद्ध और कालवद्ध है। देशवद्ध और कालवद्ध साधना का परिणाम भी तात्कालिक होता है। साधना वह होनी चाहिए जो देश और काल से आवद्ध न हो, उनसे वधी हुई न हो। आप किसी भी देश मे चले जायें, किसी भी काल मे चले जायें, किसी भी काल मे रहे किंतु चैतन्य के अनुभव की एक ज्योति, एक प्रकाशरेखा जो फूटी है वह विकसित हो, आगे-से-आगे वढती जाए। कभी भी वह वुझे नही। वह लौ और वह प्रकाशरेखा कभी भी दूर न जाए। इस ओर हमारा प्रयत्न हो।

इससे पूर्व कर्म-वध के सूत्रो की व्याख्या प्रस्तुत की जा चुकी है। अव कर्म-मुक्ति के कुछ सूत्र प्रस्तुत कर रहा हू। कर्ममुक्ति का सवसे वडा सूत्र है—सवर और तप। तपस्या के विपय मे कुछ सोचें। जिनको खपाना है, जिनको दूर करना है, उनमे पहला तत्त्व है मूर्च्छा। मूर्च्छा का सवसे पहला माध्यम है—देहासक्ति। यहा से मूर्च्छा प्रारभ होती है। भगवान् महावीर ने तप के वारह सूत्र वतलाए। उनमे पहला है—अनशन। मत खाओ। दूसरा है—ऊनोदरी। कम खाओ। तीसरा है—रस-परित्याग। रसो को छोडो। जिह्वेन्द्रिय पर संयम रखो। चौथा है—वृत्तिसक्षेप। खाने के विविध प्रयोग करो। पाचवा है—कायक्लेश। शरीर को साध लो। इतने कष्ट-सहिष्णु वन जाओ, आसनो के द्वारा इतनी शक्ति पैदा कर लो कि जिससे कोई भी स्थिति आये तो शरीर उसे झेल सके। ये पाच सूत्र देहासक्ति से मुक्त होने के सूत्र हैं।

आहार की आसक्ति भी देहासक्ति है। यह देहासक्ति का ही एक परिणाम है। जव ये पाच सूत्र सध जाते हैं तव देहासक्ति टूट जाती है।

जव यह हो जाता है तव प्रतिसलीनता की वात आती है। यह कर्ममुक्ति का छठा सूत्र है। प्रतिसलीनता का अर्थ है—इन्द्रियो को अतर्मुखी वनाना। जिस रास्ते से इन्द्रिया वाहर जा रही हैं, उसे वद कर दो। नया मार्ग खोल दो।

मार्गान्तरीकरण कर दो। जो इद्रिया केवल वाहर की ओर दौड रही है, जो मन वाहर की ओर भटक रहा है, उन इद्रियो को भीतर ले आओ, मन को भीतर ले आओ। यह अंतर्प्रवेश की प्रक्रिया है। हम कहते हैं—शरीर को देखो। इसका तात्पर्य है कि शरीर के भीतर जो प्रकंपन हो रहे हैं उन्हे देखो। इद्रियो की यह आदत वन गयी है कि वे वाहर ही वाहर देख रही हैं, देखना चाहती है। इस आदत को वदलो। एक नयी आदत का निर्माण करो। वह आदत भीतर-ही-भीतर देखे। वाहर देखने मे जो आनद आता है उससे कई गुना आनद आता है भीतर देखने मे। वाहर देखने के पश्चात् आदमी को वहुत वार अनुताप भी होता है। पर मुझे नही लगता कि भीतर देखने वाले को भी अनुताप हुआ हो। शरीर की प्रेक्षा करने वालो से मैंने कई वार पूछा कि शरीर की प्रेक्षा करने मे तुम्हे व्यर्थता का अनुभव तो नही हो रहा है ? किसी ने नही कहा कि हमे व्यर्थता का अनुभव हो रहा है, अनुताप हो रहा है। यह प्रेक्षा की प्रक्रिया, दर्शन की प्रक्रिया, देखने की प्रक्रिया वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जो आस्रव हैं, कर्म-आगमन के द्वार हैं, वे ही सवर के द्वार हैं। दर्शन की प्रक्रिया के द्वारा हम उन द्वारो को वंद कर देते हैं।

देहासक्ति को तोडना, शरीर को साधना और इद्रियो के रास्ते को वदलना—ये प्राथमिक द्वार है। साधक के लिए प्रवेश-द्वार है। इन्हे वहिरग भी कहा गया है। जव तक हम प्रवेश नही करेंगे तव तक भीतर मे रहने का प्रश्न ही नही होगा।

सातवा सूत्र है—प्रायश्चित्त का। मन मे विचार आते रहते है। मन मे विचार आया, तत्काल उसको साफ कर दो। यदि तत्काल साफ नही किया, जागरूक नही रहे, उस विचार को पाल लिया तो गाठ वन जाएगी, ग्रथिपात हो जायेगा। विचार आज का हो, किंतु उसका परिणाम हज़ार वर्ष वाद भी भोगना पड सकता है। न जाने कव उसे भुगतना पडे। यदि उसी समय उसका प्रक्षालन कर दिया, उसे धो डाला तव तो जो कर्म परमाणु आए थे, वे टूट जायेंगे। वे गाठ नही वन पायेंगे। अगर सावधानी नही रही, जागरूकता नही रही, गाठ पड गयी तो निश्चित ही उसका परिणाम भुगतना पडेगा। इसीलिए प्रायश्चित्त का सूत्र दिया गया। प्रायश्चित्त करते रहो ताकि गाठ न पडने पाए।

आठवा सूत्र है—विनय। मन मे अह नही होना चाहिए। अहकार और ममकार, ये दो वाधाए हैं। साधना मे कोई अहकार नही होना चाहिए। साधक अत्यत विनम्र और मृदु रहे।

नौवा सूत्र है—वैयावृत्य। इसका अर्थ है—साधना करने वालो का सहयोग करना। केवल स्वार्थी मत वनो। जो साधना करना चाहते है, उसके लिए, अपने से जो कुछ वन पडे, करो। यह वैयावृत्य है, सेवा है।

दसवा सूत्र है—स्वाध्याय। स्वाध्याय का अर्थ है—पढना, ज्ञान प्राप्त करना। वह ज्ञान प्राप्त करो जो तुम्हारी आत्मा को जागृत करे। केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नही है। कर्म-बधन से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान प्राप्त करो। ऐसा ज्ञान प्राप्त करो जो मूर्च्छा के बधनो से छुटकारा दिला सके।

ग्यारहवा सूत्र है—ध्यान। नही पढना है तो अपने-आप मे लीन हो जाओ। ध्यान लीन होने की प्रक्रिया है। ध्यान के माध्यम से तुम सत्य तक पहुच जाओगे, सत्य को पा लोगे, सत्य का साक्षात् कर लोगे।

बारहवा सूत्र है—व्युत्सर्ग। इसका अर्थ है—छोडना। मैंने कहा भी था कि महावीर की साधना का सूत्र है—अयोग की साधना। सब सबधो को तोड दो। सब विसर्जित कर दो। जो कुछ हो उसका विसर्जन कर दो। शरीर का व्युत्सर्ग और कर्म का व्युत्सर्ग।

यह सारी तपस्या की प्रक्रिया है। इसके बारह सूत्र हैं।

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया के दो तत्त्व हैं—एक है सवर और दूसरा है तपस्या या निर्जरा।

महर्षि पतजलि ने बतलाया कि क्रियायोग के द्वारा क्लेशो को कम किया जा सकता है। तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—यह क्रियायोग है।

भगवान महावीर की भाषा मे सवर और निर्जरा के द्वारा आस्रवो को क्षीण किया जा सकता है। इस प्रक्रिया के द्वारा कर्म-मुक्ति घटित होती है और व्यक्ति सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

हम कर्म-बधन की प्रक्रिया से चले थे और कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया तक पहुच गये। बधन के क्षण से मुक्ति के क्षण तक आ गये।

अब हम कर्म सबधी दो-चार बिन्दुओ पर और ध्यान दें, जो सारी चर्चा का निष्कर्ष होगा।

यह प्रश्न होता है कि कर्म का अस्तित्व है या नही? यह कहा जाता है कि ससार मे बहुत विविधता है और इस विविधता का एक हेतु कर्म है। किन्तु विविधता का हेतु केवल कर्म ही नही है, और भी अनेक कारण हैं। चैतन्य जगत् मे विविधता है। चैतन्य जगत् मे घटित होने वाली विविध घटनाओ का एक बडा निमित्त है कर्म। यदि कर्म परमाणु नहीं होते, कर्म का बध नही होता तो ये विविधताए नही होतीं। सब कुछ समान ही होता। सब आत्मा के स्वभाव मे होते। सब एक-जैसे होते, कोई परिवर्तन नही होता, कोई विविधता नही होती। विभक्त होना, विभाजन होना—यह कर्म के अस्तित्व का बहुत बडा प्रमाण है।

कर्म के अस्तित्व का दूसरा कारण है—मनुष्य के रागात्मक और द्वेषात्मक परिणाम। यदि मनुष्य में राग और द्वेष नही होता तो कर्म को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं होता। रागात्मक और द्वेषात्मक परिणाम इसलिए होते हैं कि

मनुष्य कर्म से बंधा है। बधन चैतन्य का मूल स्वभाव नही है। यह स्वभाव का अतिक्रमण है। स्वभाव से विरोधी कार्य जो हम कर रहे है उनका प्रेरक तत्त्व है कर्म।

तीसरा कारण है—चंचलता। यदि कर्म नही होते तो चचलता नही होती। सक्रियता तो होती, चचलता नही होती। सक्रियता पदार्थ का लक्षण है। कोई भी पदार्थ निष्क्रिय नही होता। सब सक्रिय होते है। सक्रियता पदार्थ का लक्षण है। चचलता पदार्थ का लक्षण नही है।

हमने अपने कर्म-अणुओ द्वारा अपने पर एक शरीर का बधन डाल रखा है। एक सूक्ष्म शरीर का और एक स्थूल शरीर का। उसी शरीर के द्वारा यह सारी चचलता हो रही है शरीर है इसलिए मन की चचलता है। शरीर है इसलिए वाणी की चचलता है। ये सब मूलत. शरीर की चचलना के कारण चचल हैं। कर्म के कारण ये शरीर और शरीर के कारण यह चचलता। इसलिए यह स्वीकार करने मे बहुत सुविधा है कि कर्म है।

चौथी बात है—पुद्गल और जीव का परस्पर प्रभाव। एक-दूसरे को प्रभावित करता है। जीव पुद्गल को प्रभावित करता है और पुद्गल जीव को प्रभावित करता है। पुद्गल मन को प्रभावित करता है, शरीर को प्रभावित करता है। जीव के राग-द्वेषात्मक परिणाम और पुद्गल मे ऐसा गठबधन है, ऐसी सधि है कि जीव के राग-द्वेषात्मक परिणाम पुद्गल को सहयोग देते हैं और पुद्गल राग-द्वेषात्मक परिणाम को सहयोग देता है। दोनो एक-दूसरे से सबद्ध हैं। दोनो एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। चेतना का, आत्मा का इस प्रकार दूसरे से प्रभावित होना इस बात का साक्षी है कि कर्म का अस्तित्व है।

हम पहले यह चर्चा कर चुके है कि कर्म की सार्वभौम सत्ता नही है, सर्व शक्ति-सम्पन्न सत्ता नही है। यह बहुत ही नियत्रित तत्त्व है। हम साधना के क्षेत्र मे या व्यवहार के क्षेत्र मे भी यह भूल कर बैठते है और कह देते हैं कि हमसे साधना हो नही सकती, क्योकि कर्म का कोई ऐमा ही योग है। व्यवहार के क्षेत्र मे भी हम कह देते हैं—मैं यह काम नही कर सकता, क्योकि कर्म का कोई ऐसा ही योग है। हमने बस मान लिया कि कर्म ही सब कुछ है। कर्म ही सब कुछ नही है। वह इतना महत्त्वपूर्ण नही है कि वह सब कुछ हो जाये। हमने भूल-वश उसे सब कुछ होने का स्थान दे दिया।

हम जब साधना की दृष्टि से कर्म-शास्त्र पर विचार करते हैं तब हमे इन दो-चार बातो को हमेशा ध्यान मे रखना चाहिए।

पहली बात—कर्म पर भी अकुश है। वह कोई निरकुश सत्ता नही है। उस पर सबसे पहला अकुश यह है कि आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतत्र अस्तित्व है। यदि आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतत्र अस्तित्व नही होता तो फिर कर्म

सब कुछ हो जाता। किन्तु आत्मा का स्वतत्र स्वभाव है और वह चैतन्य कभी भी अपने स्वभाव को तोडने नही देता, नष्ट होने नही देता। इसलिए कर्म आत्मा पर एकाधिकार नही जमा सकता। कर्म आत्मा पर कितना ही प्रभाव डाले पर वह उस पर एकछत्र शासन नही कर सकता। जब आत्मा के चैतन्य स्वभाव का जागरण होता है तब कर्म की मत्ता डगमगा जाती है। कितना ही गहरा अधकार हो, एक छोटी-सी प्रकाश की रेखा आती है, तब वह समाप्त हो जाता है। उसका एकछत्र-सा लगने वाला शासन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। प्रकाश के सामने अधकार टिक नही सकता। जब तक प्रकाश नही होता तब तक ही अधकार रहता है। जब तक चैतन्य का जागरण नही होता तब तक ही कर्म टिकता है। जैसे ही चेतना जागी, कर्म अपने आप समाप्त होने लग जाता है।

दूसरी बात है—परिवर्तन का सिद्धान्त। विश्व मे कोई भी तत्त्व ऐसा नही है जो परिवर्तनशील न हो। जो नित्य है वह अनित्य भी है। और जो अनित्य है वह नित्य भी है। सब परिवर्तनशील हैं। भगवान महावीर ने कर्मशास्त्र के विषय मे कुछ ऐसी नयी धारणाए दी जो अन्यत्र दुर्लभ है या अप्राप्य हैं। उन्होने कहा—कर्म को बदला जा सकता है। वैज्ञानिको मे एक शताब्दी तक यह धारणा चलती रही कि लोहा, तावा, सोना, पारा—ये सारे मूल तत्त्व है, इनको एक-दूसरे मे बदला नही जा सकता। उन्होने मूल तत्त्व सौ माने। उनको एक-दूसरे मे नही बदला जा सकता। किन्तु वाद मे खोजो ने यह प्रमाणित कर दिया कि ये सब मूल तत्त्व नही है। उनको एक-दूसरे मे बदला जा सकता है। हजारो वर्ष पहले यह निश्चित मान्यता थी कि पारे से सोना बनाया जा सकता, पारे को सोने मे बदला जा सकता है। आज का विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुचा है कि पारे से सोना बनाया जा सकता है। प्राचीन रसायन-शास्त्रियो ने पारे से सोना बनाने की अनेक विधियो का उल्लेख किया। जैन ग्रन्थो मे भी उनका यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त है।

वैज्ञानिको ने यह निष्कर्ष निकाला कि पारे के अणु का भार २०० होता है। उसे प्रोटोन के द्वारा तोडा जाता है। प्रोटोन का भार १ होता है। प्रोटोन से विस्फोटित करने पर वह प्रोटोन पारे मे घुल-मिल गया और पारे का भार २०१ हो गया। २०१ होते ही अल्फा का कण निकल जाता है। उसका भार चार है। चार का भार कम हो गया। शेष १९७ भार का अणु रह गया। सोने के अणु का भार १९७ और पारे के अणु का भार भी १९७। पारा सोना हो गया। वैज्ञानिको ने इसे सिद्ध कर दिखा दिया। इस पद्धति से बनाया गया सोना महगा पडता है। इसलिए इस पद्धति का प्रयोग नही किया जाया। किन्तु बात प्रामाणिक हो गयी कि पारे से सोना बनता है।[1]

महावीर ने कहा—तुम्हारी साधना प्रबल हो, तुम्हारी समता मजबूत हो

तो पुराने बंधे हुए कर्मों का कितना ही उपचय हो, वह टूटने लग जाता है। पारा सोना बन गया। नये पाप कर्म तीव्र नही बंधेंगे, यह तो एक बात हो गयी। जो पुराना सचय है, जो असत् है वह सत् मे बदल जाता है, अशुभ शुभ मे बदल जाता है। पाप पुण्य मे बदल जाता है। यह नयी बात महावीर ने कही कि कर्मों को बदला जा सकता है। कर्मों की उदीरणा की जा सकती है। कर्म कब उदय मे आएगा? कर्म का भडार कब खाली होगा? यह अनन्तकाल की बात हो जाती है। किन्तु महावीर ने कहा—अपने परिणामो की ऐसी श्रेणी निर्मित करो जिसमे न राग हो और न द्वेष हो। कर्मों की उदीरणा करो, बंधे हुए कर्मों को खीचो और तोडते जाओ। विपाक की प्रतीक्षा मत करो। पहले ही उन्हे समाप्त करते जाओ। यह परिवर्तन का सिद्धान्त कर्म पर बहुत बडा अकुश है।

तीसरी बात—विपाक की सापेक्षता। कोई भी विपाक निरपेक्ष नही होता। वह देश, काल, भाव, भव, पुद्‌गल, पुद्‌गल-परिणाम—इन सबके माध्यम से होता है। साधना के द्वारा हम निमित्तो को दूर करें जो विकास मे बाधक बनते हैं। हम ऐसे निमित्तो को विकसित करें जो कर्म के विपाक को दूर कर सकें। विपाक निमित्तो से होता है। यह विपाक की सापेक्षता कर्म पर अकुश है।

साधना करने वाला व्यक्ति, जिसमे साधना की थोडी-सी भी रुचि जाग जाए वह कर्मशास्त्र के इन गूढतम रहस्यो को जाने और जानने के बाद अध्यात्मशास्त्र के द्वारा आध्यात्मिक चेतना को पूर्णत जागृत कर साधना मे सफल बने।

